ALOCHANA JULY-SEP 1969 G.K.U.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

079562

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILE

Stock Verification-2

Stock Verification-2

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

सम्पादक : नामवर सिंह

त्रैमासिक

079562

079562

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कां... विश्ववि... हरिद्वार

आलोचना त्रैमासिक

सम्पादक : नामवर सिंह • प्रबन्ध सम्पादिका : शीला सन्धू

इस अंक में

वि...नन : एक साहित्यिक सिद्धान्तकार के रूप में
स्तेफान मोराव्स्की १

पुस्त...

ग्रा... कविताएँ

...सगत विरोध-पत्र
विष्णुचन्द्र शर्मा १७

लगा... ...ीय काव्यशास्त्र की नई व्याख्या
राममूर्ति त्रिपाठी १९

कवि कर्म : सौन्दर्य का उत्स
विजेन्द्रनारायण सिंह २६

चौराहे पर ग्रीनविच का एकालाप
श्रीराम वर्मा ३८

'चिति की लीला में प्रतीक का प्रकार्य'
रमेशकुंतल मेघ ४०

एक चीज़ के लिए
विष्णु खरे ५४

• पुनर्मूल्यांकन

स्वच्छन्दतावादी समीक्षक नन्ददुलारे वाजपेयी
विष्णुकान्त शास्त्री ५६

पहचान (लीलाधर जगूड़ी के लिए)
नीलाभ ७०

परिवेश : संस्कार और संवेदना
(हिन्दी कहानी के सन्दर्भ में)
रमेशचन्द्र शाह ७३

• प्रासंगिकी

युवा-कविता की भाषा
प्रभातकुमार त्रिपाठी ७९

• मूल्यांकन

नयी कविता : शोधक, बोधक, अवरोधक ?
प्रेमकान्त टण्डन ८३

हिन्दुस्तान की कहानी : शव यात्रा
विष्णुचन्द्र शर्मा ९०

देह की ढाल : 'रेडीमेड' माल
विष्णुचन्द्र शर्मा ९२

समय कम, बेचैनी ज्यादा, या
एक छोटे 'रचना संसार' का अंत
विष्णुचन्द्र शर्मा ९७

कोरी बातों का सिलसिला
विष्णुचन्द्र शर्मा १[illegible]१

वर्ष १८ : नवांक १०, (पूर्णांक ४७) जुलाई-सितम्बर १९६९, मूल्य ३.००
वार्षिक—साधारण डाक द्वारा १२.००—रजिस्टर्ड डाक द्वारा १५.००
विदेशों में—१६.००
शिक्षा निदेशालय, दिल्ली के परिपत्र संख्या डी० ई० बी/८/एस० ई० लायब्रेरी/मैग०/१९६७-६८ दिनांक २०-१-६८ एवं उपनिदेशक, समाज शिक्षा, राजस्थान के पत्रांक पु० प्र०/१/एफ/११-६८/५०५ दिनांक ६-९-६९ के अनुसार स्कूलों के पुस्तकालयों और वाचनालयों के लिए स्वीकृत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

KED 1973

लेनिन : एक साहित्य सिद्धांतकार के रूप में

स्तेफान मोराव्स्की

साहित्य के सम्बन्ध में लेनिन के वक्तव्यों का कोई शास्त्र नहीं है। हम जानते हैं कि लेनिन कोई सौंदर्यशास्त्री नहीं थे, तथा यह भी, कि वह कभी भी साहित्यिक सिद्धांत और आलोचना से ज्यादा समय तक सम्बद्ध नहीं रहे। लेकिन **मार्क्स** की भाँति वह भी साहित्य और कला में बहुत रुचि रखते थे। लूनाचार्स्की के संस्मरणों में यह एक प्रातिनिधिक घटना दर्ज है। सन् १९०५ में एक रात एक सहयोगी के घर लेनिन ने कला के इतिहास की कुछ लोकप्रिय पुस्तकें उठा लीं। दूसरे दिन सुबह उन्होंने लूनाचार्स्की से कहा कि वह सारी रात उन पुस्तकों को पढ़ते हुए जागते रहे हैं, और निःश्वास लेते हुए कहा : "एक मार्क्सवादी के लिए यह कितना अद्भुत क्षेत्र है! अफ़सोस, मैं कभी इसमें लग नहीं सकूँगा।"

लेनिन सौंदर्यशास्त्री नहीं थे, लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि कोई लेनिनवादी सौंदर्यशास्त्र ही नहीं है। उनकी दार्शनिक कृतियों में सुव्यवस्थित निर्देश मौजूद हैं, जिनके आधार पर स्पष्टतः ही एक लेनिनवादी सौंदर्यशास्त्र की रचना की जा सकती है; और इस दिशा में एकाधिक बार प्रयत्न हो चुके हैं।[1]

यहाँ हमारा उद्देश्य दर्शन तथा अन्य विषयों पर लेनिन के लेखों के आधार पर निर्मित हो सकने वाले उसके सौंदर्यशास्त्र के स्वरूप का विवेचन करना नहीं है। लेनिन ने साहित्य और कला पर सीधे-सीधे जो लिखा है, हम स्वयं को वहीं तक सीमित रखेंगे। ये कथन तीन श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं। प्रथमतः, किसी कृतिकार या कुछ कृतियों के बारे में उनकी सैद्धांतिक और समीक्षात्मक टिप्पणियाँ; फिर, उनकी सौंदर्यपरक रुचियाँ, जो उन्होंने अन्य सवालों के संदर्भ में समय-समय पर अभिव्यक्त कीं, और जो नियमतः उनके सामाजिक परिणामों से जुड़ी थीं; तीसरे, सांस्कृतिक नीति के क्षेत्र में उनके निर्देश, जो अपने जीवन के अंतिम वर्षों में उन्होंने दिये, जोकि शिक्षा तथा संस्कृति के प्रचार-प्रसार की समस्याओं से जुड़े हैं।

अन्य दो श्रेणियों की तुलना में उसकी सौंदर्यपरक रुचियों का प्रश्न आनुषंगिक है, और इसके बावजूद उनके विवेचन के लिए अत्यावश्यक भी है। हकीकत यह है कि वे रुचियाँ सीमित थीं। उन्होंने मुख्य रूप से रूसी कृतियों को आधार बनाकर, यथार्थवादी साहित्य, उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध की अतियथार्थवादी कला और भावनावादी संगीत को पहला स्थान दिया। फिर भी, सांस्कृतिक नीति के क्षेत्र में उन्होंने व्यक्तिगत रुचियों को कभी भी निदेशक-सिद्धांत नहीं बनाया। उन्होंने कुछ खास कृतियों और कृतिकारों को चुना, इससे ही एक खास सीमा तक साहित्यिक आलोचना पर उनकी टिप्पणियों के क्षेत्र और स्वरूप पर उन रुचियों का प्रभाव देखा जा सकता है; लेकिन उनका चुनाव मूलतः तात्कालिक राजनीतिक प्रश्नों के कारण होता था।

सामग्री की बहुलता और प्रश्नों की जटिल प्रकृति के कारण, आधुनिक कला और सांस्कृतिक नीति के निर्देशों की समस्याओं का विशेष विश्लेषण जरूरी हो जाता है। हम मुख्यतः १९०५-१९११ की अवधि से प्रारंभ हुई आलोचना तथा सिद्धांत पर लेनिन की टिप्पणियों का—मसलन उनकी तोल्स्तोय की समीक्षा और उनका लेख 'पार्टी संगठन और पार्टी साहित्य के बारे में'—विवेचन करेंगे।[2] आगे चलकर १९१४, १९१९, १९२१ के उनके कुछ कथनों का हवाला देना और उनका उपयोग करना आवश्यक होगा, जोकि पूर्ववर्ती अवधि की सामग्री के महत्त्वपूर्ण पूरक हैं। तोल्स्तोय

स्तेफान मोराव्स्की पोलैंड के वारसा विश्वविद्यालय में प्राध्यापक हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK
पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से सम्बन्धित टिप्पणियाँ १९०८-११ में लिखी गई थीं। ये कुल छह हैं, जो **प्रोलेतारी** और **सोत्सिअलदेमोक्रात** से लेकर **ज़्वेज़्दा** तक विभिन्न पार्टी-पत्रों में प्रकाशित हुई थीं। 'पार्टी संगठन और पार्टी साहित्य के बारे में' नामक लेख १९०५ के अंतिम भाग में पार्टी पत्र **नोवाया झिज़्न** में प्रकाशित हुआ था। उनका विवेचन करने से पूर्व यह ज़ोर देकर कहना ज़रूरी है कि मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र में एक खास अनैरंतर्य है; इसकी विकास-धारा लगातार टूटती रही है और इसकी मूलभूत प्रस्थापनाएँ ज़रूरत पड़ने पर दूसरी या तीसरी बार नये सिरे से निरूपित की गयी हैं। उदाहरणार्थ, लेनिन को कला और साहित्य पर मार्क्स तथा एंगेल्स के कथनों का सम्पूर्ण संकलन उपलब्ध नहीं था। इस तरह का पहला ग्रंथ १९३७ में सोवियत संघ में प्रकाशित हुआ, जिसका संपादन **लिफ़शित्स** ने किया था। यदि लेनिन तद्वत निष्कर्षों पर पहुँचे थे, तो उसका श्रेय मार्क्सवादी पद्धति को है जिसने उस दिशा में उन्हें अग्रसर किया।

अब हम तोल्स्तोय के सम्बन्ध में लेनिन के लेखों पर विचार करेंगे, परंतु लेनिन की उपलब्धियों को समझने के लिए हमें पहले मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र के क्षेत्र में लेनिन-पूर्व प्रयत्नों से आरंभ करके, उसकी ऐतिहासिक पीठिका पर ग़ौर करना होगा। इस सौंदर्यशास्त्र के अनेक मूल थे, जिनके बीज सत्रहवीं सदी में खोजे जा सकते हैं। इसके स्रोतों में से एक है **विको**, **विंकेलमान** एवं **हर्डर** से आरंभ होने वाले और **हेगेल** की कृतियों में समापित ऐतिहासिकतावाद के विश्लेषण तथा प्रातिनिधिक, वैयक्तिक एवं सर्वसामान्य की मीमांसा, जोकि **बाउमगार्टन** से लेकर **हेगेल** तथा उसके अनुयायियों के शास्त्रीय सौंदर्यशास्त्र में प्राप्त होती है। एक अन्य स्रोत मुख्यतः उन्नीसवीं सदी के प्रथम तीस वर्षों में विकसित **उपयोगी कला और सौंदर्यशास्त्रीय चिंतन के जनतंत्रीकरण** की धारणाएँ, तथा कला-कृति (मुख्यतः साहित्यिक) के सामाजिक दायित्व पर—अर्थात्, **दिदेरो** और **नॅसिए** से लेकर 'डॉक्ट्रिनेयर्स' (सिद्धांतवादियों) के स्कूल तक जाने-वाली फ्रांसीसी परंपरा के विचार भी हैं।

यह एक चौंकानेवाला तथ्य है कि एक खास सीमा तक मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र ने उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध की इन मूल समस्याओं को आत्मसात किया जोकि कला की अनेक-पक्षीय व्याख्या—उत्पत्तिमूलक, अनुकरणमूलक और वृत्ति-मूलक—का प्रतिपादन करती है।

उत्पत्तिमूलक—यह सुनिश्चित ऐतिहासिक कारणों और परिस्थितियों के सन्दर्भ में कलाकृति की व्याख्या करती है;

अनुकरणमूलक—यह कला-कृति के ज्ञानात्मक मूल्य पर विचार करती है;

वृत्तिमूलक—कला-कृतियों को जिस ढंग से देखा जाता है, किस सामाजिक वर्ग (समूह) के लिए वह उपादेय है, यह विधि इसका विवेचन करती है। मार्क्सवादी सौन्दर्य-शास्त्रीय अध्ययन का मूल विश्लेषण एक समाजशास्त्रीय अध्ययन है—यह इस अर्थ में कि इसमें ज़ोर कला कृति की वर्गीय (विचारधारात्मक) व्याख्या पर दिया जाता है; निस्संदेह निष्कर्ष भिन्न होते हैं। और आगे मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के निदेशक सिद्धान्तों के अनुसार, इस समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण में ही किसी कला-कृति के विश्लेषण की इति नहीं हो जाती।

किसी कृति के वर्ग-चरित्र की उद्घोषणा बहुत आसान दिखायी पड़ती है, लेकिन वास्तविक पड़ताल से ज्ञात होता है कि यह बहुत ही जटिल और प्रायः विवादास्पद व्याख्या में उलझा देती है। यदि यह घोषित किया जाता है कि क या ख की कला-कृति एक खास वर्ग की है, तो आमतौर पर इसका मतलब यह लगाया जाता है कि लेखक ठीक उसी वर्ग का (सचेत या अचेतन) प्रतिनिधि है। लेकिन हमें इसकी जाँच करनी चाहिए कि यह कैसे होता है; हमें यह दिखलाना पड़ेगा कि यह तथ्य कि कोई कलाकार एक खास वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। ऐसा हमेशा ही होता है या केवल कभी-कभी। ऐसे तथ्य निश्चय ही मौजूद हैं। ठोस उदाहरणों पर आधारित अनेक विश्लेषणों में **मार्क्स** और **एंगेल्स** ने यह प्रदर्शित किया है कि कोई कलाकार किसी सामाजिक वर्ग से जुड़ा होता है, और यह भी, कि किस तरह। लेकिन इस विषय के और अधिक विश्लेषण से शीघ्र ही ज्ञात हो गया कि इस तरह का सीधा-सादा वृत्तिमूलक अवलम्ब हमेशा ही मौजूद नहीं होता। मसलन्, **लेसिंग**, **दिदेरो** और **होगार्थ** इसका समर्थन करते हैं, लेकिन, मिसाल के लिए, **स्टर्न** और **वॉत्तो** के साथ स्थिति भिन्न है। पूर्वोक्त व्यक्ति निम्न पूँजीपति वर्ग से आये थे और उसी वर्ग के थे, और अपनी कृतियों में उन्होंने उसका सीधे-सीधे प्रतिनिधित्व किया, लेकिन बाद वाले (स्टर्न, वॉत्तो) उनकी वर्गीय उत्पत्ति से अनुशासित नहीं थे, और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनकी विचारधारात्मक प्रतिबद्धताओं का मामला कुछ जटिल था। मार्क्सवादी दृष्टि में, किसी वर्ग में पैदा होना मात्र एक कामचलाऊ संकेत है। मुख्य तत्व सर्जक की विचारधारात्मक मुद्रा है। जल्दी ही यह पता लग गया कि इस विषय के विश्लेषण में दूरदर्शिता ज़रूरी है। **मार्क्स** की '**अठारहवीं ब्रूमेर**' में हमें एक प्रस्थापना मिलती है जो समाजशास्त्रीय विश्लेषण में नये क्षितिज उजागर करती है। 'दूकानदारों' और उनके साहित्यिक प्रतिनिधियों पर लिखित वह सुविख्यात अनुच्छेद है। दूकानदारों के साहित्यिक प्रतिनिधियों की सामाजिक स्थिति भिन्न होती है और वे अपनी शिक्षा के कारण दूकानदारों से अलग जा पड़ते हैं, लेकिन फिर भी उनके विचारों में एक खास समान्तरता होती है। लेखक मात्र अपने निजी वर्ग या सामाजिक समुदाय का सम्पूर्णतः 'प्रतिनिधित्व' (अर्थात्, दुनिया को देखने, महसूस करने और समझने के तरीके को अभिव्यक्त) नहीं करता। उसकी उत्पत्ति किसी एक वर्ग में हो सकती है और विचारधारात्मक रूप से वह किसी अन्य वर्ग के निकट हो सकता है: वह वर्ग उससे सम्बद्ध या उसका शत्रु भी हो सकता है। यहाँ तक कि वह एकाधिक वर्ग की विचारधारा भी अभिव्यक्त कर सकता है, जैसा कि अक्सर ही हुआ है, और इस तरह दुनिया तथा अपने चारों तरफ के परिवेश के परिचायक अन्तर्विरोधों के बारे में खुद अपनी दृष्टि की अस्पष्टता को व्यक्त कर सकता है।

एक अन्य शास्त्रीय व्याख्या की पद्धति है जो बतलाती है कि कलाकार द्वारा एक वर्ग का प्रतिनिधित्व करने की अभिधात्मक प्रस्थापना अनेक सम्भावनाओं में से केवल एक होती है: यहाँ हम **गेटे** के बारे में **एंगेल्स** के वक्तव्यों का हवाला दे रहे हैं। गेटे के आंतरिक अन्तर्विरोध, अर्थात् उसकी संस्कारहीनता (फिलिस्तीनिज़्म) और उसका भव्य रवैया (जैसा कि **शिलर** के साथ था—दुनिया से पलायन के साथ-साथ क्रांतिवादिता) न केवल स्वयं उसका बल्कि उसके ऐतिहासिक युग का भी परिचय देते हैं। **एंगेल्स** की व्याख्या के अनुसार, गेटे अपने समय के जर्मनी के अन्तर्विरोधों का प्रतिनिधित्व करता है। लेकिन एक समूचे समाज के अन्तर्विरोध साहित्यिक कृतियों के विश्लेषण के जरिये व्याख्यायित किये जा सकते हैं, न कि केवल कलाकार की जीवनी या केवल उसकी विचारधारा के विश्लेषण से। यह ध्यान रखना ज़रूरी है कि कलाकार, जिनका अपनी सैद्धान्तिक स्थिति के सम्बन्ध में पूर्णतः जागरूक मिलना दुर्लभ होता है लेकिन जो अधिकांशतः मनोसमाजशास्त्रीय घटनाओं (मिथकों, निषेधों, आम जज़बात, अधबनी सामाजिक प्रवृत्तियों, नैतिक प्रश्नाकुलता आदि) के प्रति प्रखर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं, खुद अपने पेशे की प्रकृति के द्वारा ही 'एक वर्गीय' दृष्टिकोण से परे जाते रहे हैं। एक उदाहरण रोमांटिकों का है जो अपने समय के समाज की समूची दुनिया के खिलाफ थे। उन्होंने सरकारी, पूँजीवादी कला के वकीलों और रिपब्लिकन-समाजवादी विद्रोही कला के समर्थकों, दोनों को ही लताड़ा। ए० कैसेग्ने ने अपनी पुस्तक 'ला थेओरी द ल' आर्त पोर ल' आर्त एन फ्रांस' (१९०५, भाग १) में उनकी ऐतिहासिक और सैद्धान्तिक दिलेरियों का एक बढ़िया चित्र पेश किया है, और उनके दृष्टिकोणों से 'कला के लिए कला' की परवर्ती धारणा निकाली है। कुछ ही समय बाद **प्लेखानोव** ने ('कला तथा सामाजिक जीवन', १९१२, खंड १ और २ में) बतलाया कि रोमांटिकों की 'उच्च-वर्गीय' मुद्रा बहुत हद तक भ्रामक ही थी।

समाजशास्त्रीय विश्लेषण का एक और पहलू **एंगेल्स** कृत बाल्ज़ाक के विश्लेषण से प्रकट हुआ, जो उसने १८८५ में **मिन्ना काउत्स्की** को एक पत्र में लिखा था। बाल्ज़ाक की सहानुभूति सामंतवाद के साथ थी, फिर भी उसने 'ह्यूमन कामेडी' में जो कुछ प्रस्तुत किया, वह थी पूँजीपति वर्ग की अपरिहार्य विजय। एंगेल्स का कहना है कि बाल्ज़ाक का उदाहरण उन दो वस्तुओं के बीच आंतरिक संघर्ष को प्रदर्शित करता है जिन्हें कृति का **वस्तुपरक सत्य** अर्थात् उसका **कलात्मक-ज्ञानात्मक सार**, और **लेखक का दर्शन** कहा जा सकता है। ग़ौर करें कि मार्क्स और एंगेल्स के वक्तव्यों में उनके द्वारा समानार्थक रूप में प्रयुक्त दो शब्दों के दो अर्थों को अलग-अलग पहचाना जाना चाहिए—'विश्व-दृष्टि' और 'विचारधारा'। एक मान्यता के अनुसार, विश्व दृष्टि किसी साहित्यिक कृति में स्पष्ट रूप से कथित धारणाओं या निर्णयों (लेखक द्वारा टिप्पणी, किसी भी रूप में) की प्रणाली है। दूसरे अर्थ में यह कृति में निहित कलात्मक निर्णयों का एक पूरा सेट है, या एक ज्ञानात्मक साधारणीकरण है जो प्रस्तुत संघर्षों, चरित्रों, विषय-वस्तु इत्यादि से प्राप्त होता है। हमारा आशय कृति के भिन्न-भिन्न रूप में ग्रहण किये जाने से सम्बद्ध दार्शनिक प्रभावों से, प्रश्नाधीन कृति के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दायित्व से नहीं, बल्कि उससे है जिसे कृति का वस्तुपरक संदेश कहा जाता है। अन्तिम धारणा से, जो काफ़ी कुछ अस्पष्ट है, आशय है कृति की स्वयं संरचना द्वारा प्रस्तुत विश्व-दृश्य, अर्थात्, विषय-वस्तु का विन्यास, कथ्यों और चरित्रों की श्रेणीबद्धता, समूचे (कृतित्व) का फल आदि। स्पष्टतः ही, विभिन्न कृतियाँ अलग-अलग मात्रा में अ-द्वयार्थक (या विसंयुज) होती हैं,[3] अधिक विसंयुजता होने पर वे परस्पर-विरोधी दिशाओं में भी दार्शनिक प्रभाव डालने में समर्थ हो जाती हैं। बहरहाल, यह तथ्य उस 'वस्तुपरक संदेश' के अस्तित्व को नहीं नकारता जिसका अध्ययन और विश्लेषण किया जाना है। उससे भी अधिक, यही एकमात्र प्रभावशाली कार्यविधि है। तदनुसार, 'विश्व-दृष्टि' के उपर्युक्त दो अर्थों में से, बाद वाला अर्थ सौन्दर्यशास्त्रीय विश्लेषण के लिए परमावश्यक है। यह विधि जिन घटकों पर ध्यान देती है, उनमें यह तथ्य भी शामिल है कि कलाकार अक्सर ही अन्तर-वर्गीय संघर्षों को (अर्थात्, वास्तविक अन्तर्विरोधों को, जैसे कि वे किसी एक ऐतिहासिक युग में दिखाई पड़ते हैं) सीधे किसी एक वर्ग की स्थिति से चित्रित नहीं करता, बल्कि किसी तरह से 'उसके भीतर से' चित्रित करता है। भीतर से—यानी एक संवेदनशील, बुद्धिमान और विवेकयुक्त पर्यवेक्षक की स्थिति से उस पर प्रतिस्पर्धा की उत्तेजना की अपेक्षा तथ्यों का निर्णायक प्रभाव अधिक होता है। तथ्य ही उस पर कोई पक्ष लादते हैं, और अन्ततः, वर्ग-नियमित दिशामान भी।

इसलिए मार्क्स और एंगेल्स के विश्लेषण में उत्पत्ति-मूलक पक्ष के अलावा अनुकरण-मूलक पक्ष भी आता है, अर्थात् एक कृति यथार्थ को जिस ढंग से प्रतिबिम्बित करती है उसकी पड़ताल—वह प्रस्तुत व्यक्तित्व और प्रस्तुत समाज की लाक्षणिक विशेषताओं को चित्रित करती है, या विरूप करती है या उन विशेषताओं को यूँ ही नज़र-अंदाज़ कर देती है।

मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र के दूसरे चरण में, जो कि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध की समाजशास्त्रीय धारणाओं के समान्तर चल रहा था, इसके प्रमुख प्रतिनिधि **मेहरिंग** तथा **प्लेखानोव** ने साहित्यिक कृति के विश्लेषण को संकुचित और सरलीकृत कर दिया। मसलन, प्लेखानोव ने इसे सामाजिक-जीवनीपरक व्याख्या तक सीमित कर दिया; अर्थात् उसने प्रश्न किया कि सम्बद्ध लेखक किस वर्ग का है तथा वह कौन-सी राजनीतिक विचारधारा प्रदर्शित करता है। **मेहरिंग** ने 'दि वीवर्स' (बुनकर) के लेखक **हाप्टमैन** के साथ एक बहस में मूलतः यही व्याख्या-विधि अपनायी। अर्थात्, उसने कृति का मूल्य उसके ज्ञानात्मक-कलात्मक मूल्य से नहीं, बल्कि लेखक की राजनीतिक विचारधारा से आँका।[4]

एक भिन्न किन्तु उतने ही सरलीकृत ढंग से **प्लेखानोव** ने **लेव तोल्स्तोय** की व्याख्या की है। उसके अनुसार, तोल्स्तोय अपनी सभी कृतियों में हमेशा तथा हर जगह एक 'काउंट' है। लेकिन, प्लेखानोव आगे जोड़ता है, कि, मज़दूर वर्ग उसकी कृतियों को उसके नैतिकतावादी दृष्टिकोण के कारण पसंद करता है। उसने बेशक तोल्स्तोय की कलात्मक प्रतिभा को मान्यता दी, लेकिन उसके विश्लेषण का आरम्भ-बिन्दु, आधार तथा मुख्य निष्कर्ष तोल्स्तोय के संकीर्ण विचार थे, जिन्हें उसने तोल्स्तोय के जन्म तथा उसकी वर्गीय-स्थिति से जोड़कर व्याख्यायित किया।[5]

लेनिन प्लेखानोव के लेखों से वाकिफ़ थे, और उन्हें स्वीकार करते थे, जैसा कि ३ जनवरी, १९११ को गोर्की को लिखे उनके पत्र से ज्ञात होता है। लेकिन यह पूछा जाना चाहिये कि वह क्या था जिससे वह सहमत थे। वस्तुतः, लेनिन का विश्लेषण मूलतः प्लेखानोव की धारणा का प्रतिवाद था। लेनिन इस राय से सहमत थे कि तोल्स्तोय का कृतित्व कलाकार और चिंतक के बीच का अन्तर्विरोध व्यक्त करता है, और उन्होंने 'तोल्स्तोयवाद' पर हमला उचित माना जिसे वह मार्क्सवाद की प्रतिद्वंद्वी विचारधारा के रूप में देखते थे। लेकिन उन्होंने समस्या को प्लेखानोव से भिन्न तरीके से निरूपित किया। उनके विवेचन में जाने से पूर्व हम उस समय दी गयी कुछ अन्य व्याख्याओं पर विचार करेंगे जिन पर लेनिन ने तत्काल अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की थी। **आस्तापोवो** स्टेशन पर तोल्स्तोय की नाटकीय मृत्यु के बाद सभी अखबारों ने उसके दर्शन पर बहस करना शुरू कर दिया। सरकारी मुखपत्रों (रूस्कोइ ज़्नाम्या, नोवोइ व्रेम्या, रेच), जिन्होंने उसकी कृति 'पुनरुद्धार' पर १९०१ में उसके सामाजिक बहिष्कार पर प्रशंसा के वर्षों के बाद, एकाएक यह खोज निकाला कि तोल्स्तोय एक महान् ईश्वर-अन्वेषी, अपने युग की अन्तरात्मा था, उन्होंने भी इस विषय की चर्चा छेड़ दी। जहाँ इन 'काले सौ' या 'कादेत' पत्रों ने स्वयं को मामूली बातों तक सीमित रखा, वहीं मेन्शेविक-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्मूलकों के मुखपत्र 'नाशा-ज़ार्या' में नेव्यादाम्स्की और बज़ारोव के लेखों ने एक ओर तो कहा कि तोल्स्तोय के विचार निर्बल रूसी बुद्धिजीवी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं, और दूसरी ओर यह कि उसकी विश्व-दृष्टि एक महान् एकाश्म, एक महान् दार्शनिक संश्लेषण है, जो बुराई के अप्रतिरोध की धारणा पर आधारित है। इस सिलसिले में यह ग़ौर करने लायक है कि उक्त सभी व्याख्याएँ तोल्स्तोय के सैद्धान्तिक उपदेशों को ही उठाती हैं, न कि उसके कृतित्व के कलात्मक-ज्ञानात्मक मूल्य को।

प्लेखानोव ने उसका जो समतुल्य प्रस्तुत किया वह था सामाजिक-जीवनीपरक, जबकि उपर्युक्त लेखकों ने निम्नलिखित विकल्प सुझाये थे: समाजशास्त्रीय (लेकिन जिसमें ग्रामीण अभिजात वर्ग का स्थान बुद्धिजीवी वर्ग ले लेता है) और दार्शनिक-धार्मिक-नैतिक। इनमें से प्रथम व्याख्या, जैसा कि प्लेखानोव की व्याख्या में भी है, तोल्स्तोय के दर्शन को कम-से-कम एक सुनिश्चित वर्ग या सामाजिक-समूह से जोड़ती थी। बज़ारोव ने तोल्स्तोय के 'बेतरतीब फैल रहे' बुद्धिजीवी वर्ग की अंतरात्मा होने की प्रस्थापना पेश की तथा इस प्रस्थापना का इस्तेमाल उसने तोल्स्तोय को समूची मानवता की अंतरात्मा के मनीषी के रूप में सिद्ध करने के लिए अपने कुछ वायवीय विचारों के आरंभिक आधार के रूप में किया। इस तरह, दर्शन और नीतिशास्त्र तक सीमित इस व्याख्या में एक क़िस्म का आदर्शवाद था, कुछ वैसा ही जैसा कि Literaturgeschichte ats Geistesgeschichte स्कूल में पाया जाता है।

लेनिन ने आदर्शवादी अवधारणा और भौतिकवादी सिद्धांतों पर आधारित अतिसरलीकृत व्याख्या, दोनों का ही खण्डन किया। उनकी टिप्पणियों से **विधिवत शास्त्र** (methodological polemic) स्पष्टतः नहीं उभरता, लेकिन उसका निर्गमन संभव है। इससे भी अधिक स्पष्ट वे राजनीतिक उद्देश्य हैं, जिन्होंने लेनिन को इस विषय पर बोलने के लिए प्रेरित किया।

नवंबर १९१० में सेंट पीटर्सबर्ग की सड़कों पर मज़दूरों और विद्यार्थियों ने ज़ारशाही के विरुद्ध, तोल्स्तोय की स्मृति के सम्मान में, प्रदर्शन किया।[६] लेनिन ने प्रमाणस्वरूप इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाया कि तोल्स्तोय की समस्या को एक बहुत ही प्लानीविक समस्या के रूप में लिया जाता था तथा लिया जाता है। विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकट की गयी रायों की तुलना मात्र से ज़ाहिर हो गया कि तोल्स्तोय की पृष्ठभूमि में (या उसके माध्यम से), अंतर्विरोधी सैद्धांतिक अवधारणाओं के साथ-साथ, परस्पर-विरोधी राजनीतिक दृष्टिकोण टकरा रहे थे।

लेनिन ने एक अवधारणा प्रस्तुत की, जिसे मार्क्स के दृष्टिकोण की ओर लौटने का प्रयास कहा जा सकता है। सर्वप्रथम, उन्होंने तोल्स्तोय को कृषक अवाम का प्रतिनिधि माना (और यह एक प्रतिभा का कौशल था)। उन्होंने आरंभ इस प्रस्थापना से किया कि इस महान् लेखक की कृतियाँ **गुलामों के जागरण** (Emancipation of the serfs) के बाद १८६१-१९०४ की अवधि में, लेकिन १९०५ की क्रांति से पूर्व, जिसका अग्रणी सर्वहारा वर्ग था, रूस में हुई पूंजीवादी क्रांति की प्रतिच्छाया थीं। इस अवधि में रूस अपनी 'प्रसव वेदना' में से गुज़रा और एक आधुनिक राज्य बना। उस ज़माने के समाज का आधारभूत अवाम—कृषक वर्ग—सरकार, चर्च और 'प्राथमिक संग्रह' की प्रक्रिया के खिलाफ़ बलवा कर रहा था। यह विरोध एक ही साथ पीड़ा और निराशा का इज़हार था। कृषक वर्ग अपने समय की स्थितियों से निपट सकने में अक्षम था; संक्रमण की समस्त यंत्रणाओं से तीक्ष्ण रूप में अवगत यह वर्ग कोई रचनात्मक मार्ग नहीं ढूंढ़ पा रहा था। अधिक-से-अधिक, पुरानी पितृ-सत्तात्मक व्यवस्था के लिए पश्चात्ताप था, या किसी ऐसे नये धर्म के स्वप्न, जो इस धरती पर सार्वभौमिक न्याय की सृष्टि कर दे। अपनी कृतियों में तोल्स्तोय ने रूसी कृषक-वर्ग में छिपे इन अंतर्विरोधों को प्रकट किया। सितम्बर १९०८ में, 'रूसी क्रान्ति के एक दर्पण के रूप में तोल्स्तोय' शीर्षक लेख में लेनिन ने कहा:

एक ओर, एक प्रतिभाशाली कलाकार, न केवल रूसी जीवन के अप्रतिम चित्रों का बल्कि विश्व-साहित्य में प्रथम श्रेणी की कृतियों का सर्जक। दूसरी ओर, ईसा के लिए पागल एक बड़ा भूस्वामी। एक ओर, सामाजिक आडम्बर और झूठ के विरुद्ध भव्य, सशक्त, तात्कालिक और दो-टूक विरोध; दूसरी ओर 'तोल्स्तोयी' अर्थात्, रूसी बुद्धिजीवी के नाम से विख्यात जीर्ण-शीर्ण, उन्माद-ग्रस्त मिथ्या-विलापी, जो अपनी छाती पीटता है और सबको दिखाता फिरता है: "मैं तुच्छ हूँ, मैं घृणास्पद हूँ, लेकिन मैं नैतिक आत्मोत्थान में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगा हूँ, मैं मांस नहीं खाता और मैं सिर्फ कढ़ी-भात पर जिन्दा हूँ।" एक ओर, पूंजीवादी शोषण की निर्मम आलोचना, शासन की हिंसा का मुखौटा उघाड़ना, सरकारी न्याय और प्रशासन का मखौल, संपत्ति की वृद्धि एवं सभ्यता की उपलब्धियों और ग़रीबी की वृद्धि, बर्बरता एवं मजदूरों के विशाल समुदाय की पीड़ा के बीच के अंतर्विरोध का अतलगामी अनावरण, दूसरी ओर—'बुराई के अप्रतिरोध' की पागलपनभरी कट्टर चीत्कार। एक ओर, गंभीरतम यथार्थवाद, हर एक मुखौटे को फाड़ना; दूसरी ओर दुनिया की निकृष्टतम वस्तुओं में एक—धर्म—का प्रचार।[७]

बाद में लेनिन ने इन अंतर्विरोधों की व्याख्या की: "तोल्स्तोय की महानता उन विचारों और दृष्टिकोणों को अभिव्यक्त करने में है, जो रूस में पूंजीवादी क्रान्ति के विकास के समय रूसी कृषक समुदाय के लाखों लोगों के मस्तिष्कों में बने। तोल्स्तोय इस मानी में मौलिक है कि उसके विचार, सम्पूर्णतः देखने पर, हमारी क्रांति के अत्यन्त विशिष्ट चरित्र को एक **कृषक** पूंजीवादी क्रांति के रूप में व्यक्त करते हैं। इस दृष्टिकोण से, तोल्स्तोय के विचारों में निहित अंतर्विरोध उन परस्पर-विरोधी परिस्थितियों के ठीक-ठीक प्रतिबिम्ब हैं, जिनके अंतर्गत हमारी क्रांति में कृषक-वर्ग का ऐतिहासिक संघर्ष सम्पन्न हुआ।[८]

प्रथम तीन लेखों में जिनमें, लेनिन ने इन अन्तर्विरोधों की चर्चा की है, उन्होंने इस तथ्य पर ज़ोर दिया कि ये अन्तर्विरोध तोल्स्तोय की विचार-पद्धति और स्वयं उसकी कृतियों की संरचना (अर्थात् उनकी कलात्मक-ज्ञानात्मक वस्तु) दोनों में ही मौजूद थे। इस तरह वह प्लेखानोव से आगे गए। प्लेखानोव ने **नताशा रोस्तोव, प्योत्र बेजुखोव** या **कांस्तांती लेविन** के विचारों को, कहानियों में प्रस्तुत परिवेश से जोड़े बिना ही, लेखक के विचारों के रूप में व्याख्यायित कर दिया था। लेनिन ने तोल्स्तोय की कृतियों में प्रस्तुत कृषक-वर्ग और इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया कि लेखक ने यदा-कदा अभिजात पात्रों के मुँह से कोई विचार कहलवाने के बावजूद 'भोले किसान' की स्थिति अख्तियार की थी और अपनी आलोचना में उनका मनोविज्ञान अभिव्यक्त किया था।

यह एक सूक्ष्म विश्लेषण था। तोल्स्तोय की कृतियों जैसी महान् कृतियों के मामले में कलाकार को केवल अपने ही वर्ग के (या उसके हितों को अभिव्यक्त करने वाले) प्रतिनिधि के रूप में नहीं लिया जा सकता। तोल्स्तोय अपने समय की समूची सच्चाई का उसके आन्तरिक अन्तर्विरोधों को उजागर करते हुए प्रतिनिधित्व करते हैं।

इस प्रकार, अनुकरणमूलक दृष्टिकोण से किया गया विश्लेषण संकुचित परिकल्पना वाले उत्पत्तिमूलक विश्लेषण पर हावी रहता है। ज्ञान-शास्त्रीय समतुल्य (ज़ाहिर है कि साहित्यिक ज्ञान वैज्ञानिक ज्ञान से भिन्न होता है) समाजशास्त्रीय समतुल्य पर छाया रहता है। कृति की 'विश्वदृष्टि' की व्याख्या का निर्णायक घटक उसकी अन्तर्निहित वस्तु है, न कि लेखक की 'निरी' विचारधारा जो अक्सर ही सीधे उसके वर्गीय मूल से उत्पन्न होती है। यह विधि प्रकटतः ही कृति के वर्ग-मूल के सवाल का परित्याग नहीं करती। उत्पत्तिमूलक और अनुकरणमूलक विश्लेषण परस्पर घनिष्ठ रूप से गुँथे होते हैं। तोल्स्तोय पर लेनिन की टिप्पणियों के मामले में यह बिल्कुल प्रत्यक्ष है। उसका वर्गीय दृष्टिकोण लेखक तथा कृषक समुदायों के विचारों के बीच समान्तरता के माध्यम से ही प्रकट होता है। लूनाचार्स्की अपने विवेचन में, जिसका ऊपर हवाला दिया गया है, यह बिल्कुल स्पष्ट रूप से सामने ला देते हैं।

अन्य तीन लेखों में, विशेष रूप से 'तोल्स्तोय तथा सर्वहारावर्ग का संघर्ष' (दिसम्बर १९१०) में वृत्तिमूलक (functional) विश्लेषण प्रमुख है।

वहाँ ज़ोर कलात्मक-ज्ञानात्मक वस्तु की अपेक्षा अवधारणा-पद्धति पर, स्वयं विचारधारा पर अधिक है। जनवरी १९११ में प्रकाशित 'एल० एन० तोल्स्तोय और उसका युग' शीर्षक लेख में, आलोचक की रुचि 'लुसर्न', 'अन्ना कारेनिना', और 'क्रूत्ज़र सोनाता' में, मुख्यतः उनमें प्रस्तुत दार्शनिक प्रस्थापनाओं के कारण थी। **लेनिन** ने तोल्स्तोय की कृतियों पर लगभग बिल्कुल उसी दृष्टि से विचार किया जिस तरह मजदूर-वर्ग उन्हें लेते थे और उस वर्ग को उनसे जो प्राप्त होता था। ज़ाहिर है कि उन्होंने इस पर कभी संदेह नहीं किया कि तोल्स्तोय की कृतियों का स्थायी मूल्य है। उसने प्रायः ही दोहराया है, जैसा कि हमें **गोर्की** और **क्रूप्स्काया** के संस्मरणों में मिलता है, कि तोल्स्तोय की टक्कर का कोई अन्य लेखक नहीं है। लेकिन १९११ में तोल्स्तोय उन्हें **न** केवल एक कलाकार, विगत युग के एक दर्पण के रूप में, बल्कि एक विचारक, मेहनतकश और कृषक समुदायों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के शिक्षक के रूप में भी रोचक लगा। इस पर लेनिन ने बिलकुल प्लेखानोव की ही तरह प्रतिक्रिया की। लेनिन ने लिखा कि जैसा कि उदारवादी दावा करते हैं, तोल्स्तोय जीवन का शिक्षक नहीं है, बल्कि "लेव तोल्स्तोय की कृतियों में गहरे पैठकर रूसी मजदूर-वर्ग अपने शत्रुओं को बेहतर ढंग से जानता है; और तोल्स्तोय के दर्शन का विश्लेषण करके समूची रूसी जनता यह जानने में समर्थ हो सकेगी कि वह कमजोरी कहाँ है जिसने उसे अपने जागरण को पूर्णावस्था तक ले जाने से रोक रखा था और आगे बढ़ने के लिए इसे महसूस करना ही होगा।"[९]

इस प्रकार, तोल्स्तोय का दर्शन, हालाँकि वह ज़ारशाही के इतने विरुद्ध है, फिर भी अपने सिद्धान्तों में इतना स्वप्नवादी और प्रतिगामी है, कि जहाँ समाजवादी आन्दोलन को नुकसान पहुँचता हो वहाँ सर्वहारा वर्ग को उसे अस्वीकार कर देना चाहिए।

स्पष्ट है कि यहाँ वृत्तिमूलक विश्लेषण क़तई पूर्ण नहीं है। इस मुद्दे पर, लेनिन को इसमें कोई रुचि नहीं थी कि तोल्स्तोय को विभिन्न सामाजिक समूह किस रूप में देखते हैं, बल्कि सबसे महत्त्वपूर्ण, उसकी कृतियों की ज्ञानात्मक-कलात्मक वस्तु के ग्रहण करने में थी। यह विश्लेषण प्रस्तुत ऐतिहासिक क्षण में तोल्स्तोय के दर्शन के वर्गीय-दायित्व के अन्वेषण तक सीमित मोटेतौर पर यह एक राजनीतिक दृष्टिकोण था। लेनिन को अगर सिर्फ़ यही कहना होता, तो यह हॉप्टमान की मेहरिंग-कृत व्याख्या से आगे नहीं जाता। लेकिन लेनिन ने एक सुगठित दृष्टिकोण दिया, इस कारण, उनकी व्याख्या अत्यन्त रोचक थी और आज भी है। उस समय मार्क्सवादी आन्दोलन में लेनिन ही एकमात्र ऐसे व्यक्ति थे जो ऐसा विश्लेषण देने में समर्थ थे, क्योंकि केवल उन्हीं के दार्शनिक कृतित्व में **'रिफ्लेक्शन'** (प्रतिफलन) का एक सुविकसित सिद्धान्त था, जिसका एक पहलू 'अनुकरणपरक' विश्लेषण था। रोचक बात केवल यह नहीं है कि लेनिन मार्क्स की प्रस्थापनाओं तक गये। बल्कि सर्वोपरि यह है कि यह एक सच्चा विश्लेषण था, कि तोल्स्तोय ने जो लिखा यह उसकी कलात्मक-ज्ञानात्मक और आत्मसजग विचारधारात्मक विषय-वस्तु के अनुरूप था। हम जानते हैं कि **'अन्ना कारेनिना'** (१८७०-७७) के साथ उसके लेखन में एक मोड़ आया। १८६०-७० में ही 'एक भूस्वामी की सुबह' और 'पोलिकुश्का' में वह किसान की नज़र अपनाने लगा था। 'तीन मौतें' में गाड़ीवान एक किसान की तरह, आत्मसम्मान के साथ, प्रकृति से तादात्म्य स्थापित करते हुए शान्तिपूर्वक मरता है। व्यक्तिवादी तोल्स्तोय, जैसाकि प्लेखानोव हमेशा उसे कहा करता था, के अधिक निकट अभिजात-वर्गीय महिला की उत्तेजनापूर्ण, नाटकीय मृत्यु है, लेकिन पाठक को उसकी अपेक्षा फ्योदोर की मृत्यु अधिक छूती है। यहाँ 'युद्ध और शान्ति' के पात्रों प्लातोन काराताएव, कार्प और व्लास का भी ज़िक्र किया जाना चाहिए जो कृषक समुदायों का प्रतिनिधित्व करते हैं, और जो उनकी (भाग्यवादी) बुद्धिमत्ता और उनकी देशभक्ति के साकार रूप हैं। 'अंधकार की शक्ति' तथा 'स्वामी और सेवक' में भी समान विषय-वस्तु खोजी जा सकती है। चीज़ों को किसान की नज़र से देखने के साथ-साथ, व्यवस्था की कटु आलोचना भी चलती रही, जिसे 'अन्ना कारेनिना' में पहले ही देखा जा सकता है, लेकिन जो अपने चरम शिखर पर 'पुनरुद्धार' और तोल्स्तोय की पत्रकारिता (आत्मस्वीकृतियाँ, स्वर्ग का राज्य हमारे भीतर है, मैं चुप नहीं रह सकता) में पहुँचती है। फिर भी, यह आलोचनात्मक रुख उस 'नये' धर्म के कारण धुँधला पड़ गया, जिसने साथ-ही-साथ, इस महान् लेखक को अपने समय की राजनीतिक और सामाजिक स्थिति को समझने में बाधा डाली।

'विद्रोह' में तोल्स्तोय ने जनवादियों (नोरोदनिकी) को अत्यन्त सहानुभूति से वर्णित किया है, लेकिन मार्क्स को पढ़ने वाले मज़दूर के साथ व्यंग्यपूर्ण कृपालुता का वर्ताव किया है। 'दिव्य और मानवीय' (१९०५) कहानी में भी यही दृष्टिकोण दोहराया गया। इस तरह, लेनिन की व्याख्या ने तोल्स्तोय के कृतित्व का मूल, आन्तरिक द्वन्द्व उजागर किया, और आज भी वह सिद्धान्तवादियों और आलोचकों के विवाद का आधार बनी हुई है।

कुछ ही दिन पहले **जे० विदमार** (एक युगोस्लाव आलोचक) और एम० लिफशित्स (सौंदर्यशास्त्र के एक सोवियत लेखक) में इस विषय—दर्शन या विश्व-दृष्टि का कलात्मक सत्य के सम्बन्ध—पर वाद-विवाद छिड़ गया था।[१०] विदमार ने तोल्स्तोय का उदाहरण लेकर यह मान्यता पेश की कि लेखक जिसका प्रतिनिधित्व करता है (जो कि एक स्थायी मूल्य है) और सत्य पर वह जो सोचता है (जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक विचारधारात्मक संभ्रम है और केवल अस्थायी मूल्य का है) उसमें अन्तर्विरोध होता है। लिफशित्स ने अपने जवाब में प्रतिपादित किया—और ज़ोरदार ढंग से—कि तोल्स्तोय की कृतियों के अन्तर्विरोध कलात्मक और दार्शनिक दोनों ही थे। द्वन्द्व लेखक के समूचे दृष्टिकोण में प्रत्यक्ष है और उसकी कलात्मक विशृंखलताएँ उसके समान्तर हैं, बल्कि उसका प्रतिबिम्ब हैं। यदि हम यह मान भी लें कि इस मामले में लिफशित्स सही है, तब भी यह पूरी तरह सच नहीं है कि हमेशा ही ऐसा होता है। सोवियत संघ में हाल में अनेक लेखों ने दिखलाया है कि किसी लेखक की विश्व-दृष्टि और उसके कृतित्व की कलात्मक-ज्ञानात्मक वस्तु के बीच हमेशा ही सादृश्य होता है।

ई० एम० खापचेन्को ने 'विश्व-दृष्टि और सर्जनात्मक कृतित्व' शीर्षक विवेचन (प्रॉब्लेमी तेओरी लितरातुरी, स्वोनिक स्तातेई, मास्को, १९५८, पृ० ३-५७) में न केवल **लूकाच नेदोशिविन** जैसे समकालीन सौंदर्य-शास्त्रियों के खिलाफ़, बल्कि एंगेल्स के खिलाफ़ भी विवाद पेश किया है। उसने स्पष्ट रूप से दावा किया है कि एक झूठा दर्शन अपरिहार्य रूप से कलात्मक-ज्ञानात्मक विफलताओं की ओर ले जाता है, मसलन्, सच्चाई का एक अयथार्थपरक चित्र। एंगेल्स ने स्पष्ट रूप से कहा था कि बाल्ज़ाक राजवंशीय उत्तराधिकार का पक्षधर होते भी एक यथार्थवादी था (अप्रैल १८८८ में मार्गरेट हार्कनेस को लिखा एंगेल्स का पत्र देखें)।

इसमें कोई शक नहीं कि सर्जनात्मक कृति विश्व-दृष्टि पर निर्भर होती है, लेकिन यह आग्रह कि उनके बीच सादृश्य होना ही चाहिए, पुनः एक भिन्न चीज़ है। इस सिलसिले में विश्व-दृष्टि का मतलब क्या है, यह स्पष्ट नहीं है। इससे खापचेन्को (उपर्युक्त पुस्तक, पृ० ४५) आशय है 'कलात्मक विधि' से अर्थात् कथा के ताने-बाने में मूर्त्त व्यापक विचारों से भिन्न, 'प्राकृतिक और सामाजिक दृश्य-जगत् पर···विचारों का समाहार।' जीवन-दृष्टि से लिफशित्स का आशय, प्रत्यक्षतः, 'कलात्मक विधि', अर्थात्, कृति के प्रमुख कथ्यों से निकाले गये उसमें निहित विचार। (खापचेन्को के आशय के अनुसार) लेखक की विश्व-दृष्टि और उसके सर्जनात्मक कृतित्व के बीच अन्तर्विरोध निश्चय ही उठ सकता है। कम-से-कम समाजवादी यथार्थवाद से पूर्व, अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियों के साथ यही विशिष्टता जुड़ी रही। यदि हम विश्व-दृष्टि का लिफशित्स का आशय लें तो वहाँ भी हम स्वयं कलात्मक रचाव में एक अन्तर्विरोध पाते हैं; लेकिन इस स्थिति की आवृत्ति कम होती है।

लेनिन में भी, तोल्स्तोय पर उनके लेखों के बाहर, हम साहित्य की व्याख्या का एक पद्धतिबद्ध मानदण्ड पाते हैं जो खापचेन्को तथा उसके साथियों के सुव्यवस्थित निर्णयों के विरुद्ध जाता है। लेनिन ने आग्रह किया है कि धारणाओं या निर्णयों के शास्त्र के रूप में कलाकार का दर्शन, विचाराधीन कृति में निहित कलात्मक सत्य के प्रत्यक्ष विरोध में हो सकता है, और यह कि उस दशा में साहित्यिक आलोचना के लिए मूल वस्तु वह है जो कलाकार प्रस्तुत करता है, न कि जो वह सोचता है। २५ फरवरी १९०८ को (जोकि एक अत्यन्त गम्भीर समय था, जिसमें पार्टी के भीतर विवाद चल रहे थे और लेखकों को बोल्शेविक पक्ष में लाने की कोशिश हो रही थी) गोर्की को लिखे पत्र में लेनिन ने कहा: "मेरी राय में, कोई लेखक किसी भी दर्शन के अध्ययन से काफ़ी कुछ हासिल कर सकता है। मैं पूरी तरह और बिना शर्त इस पर सहमत हूँ कि लेखक के रूप में हमारे काम के लिए सभी किस्म की पुस्तकें ज़रूरी हैं, तथा उस [लेनिन के दिमाग़ में 'एम्पीरियोमोनिज़्म' (अनुभवैकवाद) था—लेखक] दृष्टि से शुरू करके, स्वयं अपने कलात्मक प्रयोगों से शुरू करके और **यहाँ तक कि आदर्शवादी दर्शन** से भी शुरू करके, ऐसे निष्कर्षों तक पहुँचना सम्भव है जो पार्टी के लिए अत्यन्त मूल्यवान् हैं···"[११]

यह गोर्की के उपन्यास 'माँ' के संदर्भ में लिखा गया था, जिसे लेनिन पार्टी का उपन्यास मानते थे। यह वक्तव्य महत्त्वपूर्ण है, लेकिन टीकाकार अक्सर ही इसे नज़रअंदाज़ कर देते हैं। यह टिप्पणी कोई उस समय की ज़रूरत के लिए और गोर्की को अपने पक्ष में करने के लिए चली गई चाल नहीं थी, जैसा कि कुछ लोग सोच सकते हैं। १९२१ में ए० एवरचेंको (पेरिस में एक रूसी श्वेत प्रवासी) की पुस्तक 'क्रान्ति की पीठ में बारह छुरे' पर लेनिन की टिप्पणियों में भी ऐसी ही व्याख्या देखी जा सकती है। लेनिन ने लक्षित किया कि यह पुस्तक भूस्वामियों और उद्योगपतियों के रुख का वातावरण कितने सजीव ढंग से प्रस्तुत करती है। हम उस लेख के निष्कर्ष प्रणामस्वरूप पेश कर रहे हैं:

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तिम कहानी 'एक ध्वस्त संसार के टुकड़े' में कीमिया में सेवास्तोपोल में एक भूतपूर्व सिनेटर है—"वह धनी, उदार अच्छे सम्बन्धों वाला रह चुका था," "अब वह एक बारूदखाने में कारतूस उतारने और छाँटने का काम करने वाले दैनिक मज़दूर की हैसियत से काम कर रहा था"—और एक भूतपूर्व मैनेजर "विशाल इस्पात मिल का, जो विबोर्ग ज़िले में सबसे बड़ी थी। अब वह एक कमीशन एजेंसी में क्लर्क है और हाल ही में उसने महिलाओं के बिक्री योग्य पुराने कोटों और बच्चों के प्लश (रोएँदार खाल के बने), खिलौना भालुओं की कीमत आँकने का कुछ हुनर सीख लिया है।"

ये दोनों बूढ़े पुराने भले दिनों की याद करते हैं—सेंट पीटर्सबर्ग के सूर्यास्त, सड़कें, नाटक-घर और, हाँ, 'लिटिल बिअर', 'वियेना', 'लिटिल यारोस्लाव' इत्यादि की यात्राएँ। उनके संस्मरण बीच-बीच में इन चीत्कारों में टूट जाते हैं: "हमने उनका क्या बिगाड़ा था? हमने किस बात में बाधा दी?...उससे उनका क्या नुकसान होता था? उन्होंने रूस की क्या गत कर दी है?"

आर्कादी एवरचेंको नहीं समझ सकता कि ऐसा क्यों है। शायद मज़दूरों और किसानों को यह 'क्यों' समझने में कोई दिक्कत नहीं हुई, और उन्हें कोई स्पष्टीकरण की ज़रूरत भी नहीं है।

मेरी राय में, कुछ कहानियाँ पुनर्मुद्रित करने लायक हैं। योग्यता की मदद करनी ही चाहिए।[12]

व्याख्या करने के इस तरीके की वाक्पटुता ज़ाहिर है। लेनिन एवरचेंको की पुस्तक के 'वस्तुगत सत्य' का बचाव कर रहे हैं। लेखक में सोवियत संघ के प्रति घृणा उफनी पड़ रही है, लेकिन स्वयं अपने तथा अगले वर्ग के बारे में सत्य लिखकर वह स्वयं अपने दर्शन को ध्वस्त कर रहा है। इसलिए, साहित्यिक आलोचना में कलात्मक-ज्ञानात्मक वस्तु निर्णायक कारण है, हालाँकि, निस्संदेह वह एकमात्र कारण नहीं है।

हमने जो कहा है वह यदि सही है तो एम० मरलो-पॉन्ती ने अपनी कृति 'ले अवाँतुरे द ला डायलेक्टिक', पेरिस, १९५५, पृ० ५६, ८५-७, ९२-४ में जो विश्लेषण दिया है वह ग़लत है जिसके मुताबिक लूकाच ने यथार्थवाद की अपनी व्याख्या को लेनिन की संकीर्ण, निरी सैद्धान्तिक पद्धति के विरोध में पेश किया है। लूकाच ने 'गेशिश्टे उंड क्लासेन-बेवुस्ट्साइन' (१९२३) में यथार्थवाद की जो प्रस्थापना दी है और जिसे 'लेनिनवादी कट्टरपंथ' से च्युत कहा जाता है, मरलो-पॉन्ती का दृष्टिकोण उसका खण्डन करता है। दरअसल, लूकाच ने, लिफशित्स और अन्य लोगों के साथ-साथ, यथार्थवाद का बचाव लेनिन की प्रस्थापनाओं के ही आशय में और उनके आधार पर १९३०-४० के दौरान किया है।

वस्तुपरक सत्य के सम्बन्ध में लेनिन का दृष्टिकोण कला और साहित्य की विशिष्ट प्रकृति के सम्बन्ध में उनकी अन्य आनुषंगिक टिप्पणियों के साथ पूरी तरह मेल खाता है। लेनिन की इन प्रस्थापनाओं के पूर्ण प्रस्तुतीकरण के लिए मुझे एक ऐसे दृष्टिकोण का पुनर्निर्माण करना होगा जिसे उन्होंने केवल खंड-खंड रूप में ही पेश किया था। चूँकि मैं ऐसी निधि से बचना चाहूँगा, इसलिए लेनिन के विचार यहाँ सीधे ही दिये जा रहे हैं, अगर्चे ज़रा विशृंखल ढंग से। मैं महसूस करता हूँ कि यह अधिक अच्छा होगा, क्योंकि यह अब तक प्रस्तुत सामग्री से घनिष्ठ रूप से जुड़ा होगा।

१९१४ में लेनिन को इनेसा एरमैण्ड से विनिचेन्को की एक पुस्तक 'पिताओं के उपदेश' प्राप्त हुई। उन्हें यह किताब पसन्द नहीं आयी क्योंकि "यह निरे रोमांचों का संग्रह" था। लेनिन ने कहा कि ज़ाहिर है कि अपराध, रोग, विकृत घटनाएँ आदि होती रहती हैं। लेकिन दुनिया को केवल उसी रूप में पेश करना एक झूठा तरीका है। इस निर्णय में एक प्रकृतिवाद-विरोधी दृष्टि सन्निहित है। साहित्य का ज्ञानात्मक मूल्य किसी भी प्रकार के सामान्यीकरण से विच्छिन्न यथार्थ (Realia) नहीं होता, और एक झूठा, सतही सामान्यीकरण से जोड़ा गया यथार्थ तो और भी नहीं। तदनुसार, किसी कला-कृति के ज्ञानात्मक और कलात्मक मूल्य की महज़ यह दलील देकर वकालत नहीं की जा सकती कि उसमें वर्णित तथ्यों जैसे तथ्य "वास्तविक जीवन में आमतौर पर होते हैं।" यद्यपि लेनिन ने मार्क्स और एंगेल्स की तरह यथार्थवाद पर नहीं लिखा, लेकिन वह भी उसी दिशा में अग्रसर हुए थे। मुक्त प्रेम के विषय पर इनेसा एरमैन्ड को दिनांक २४ जनवरी, १९१५ को लिखे एक पत्र में लेनिन ने प्रसंगवश यह लक्षित किया है कि कहानी एक व्यक्तिगत उदाहरण, एक अद्वितीय स्थिति और विशिष्ट चरित्रों पर आधारित होती है, लेकिन उनके भीतर तथा उनके द्वारा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जातीय लक्षण व्यक्त होते हैं। ये विचार एक प्रकार से तोल्स्तोय के बारे में उनके लेखों गोर्की को १९०८ में लिखे उनके पत्र की टिप्पणियों और एवरचेंको की पुस्तक के उनके व्यंग्यात्मक मूल्यांकन पर सैद्धान्तिक टिप्पणियाँ हैं।

हर जगह मुख्य वस्तु कलात्मक सत्य की समस्या है।[13]

कला की प्रकृति के सम्बन्ध में लेनिन के संकेतों को ग्रहण कर उन्हें और भी आगे बढ़ाया जा सकता है। 'धर्म का सार' पर फ़ायरबाख के व्याख्यानों को पढ़ते हुए लेनिन ने इस वक्तव्य की ताईद की कि "कला यह अपेक्षा नहीं करती कि उसकी कृतियों को यथार्थवत् लिया जाय।" यहाँ हम लेनिन के मूल-आलेख की व्याख्या की सीमाओं तक पहुँच जाते हैं। लेकिन, यहाँ तक प्रस्तुत विश्लेषण के संदर्भ में यह कहना संभव प्रतीत होता है कि लेनिन के विचार कला-कृति की सापेक्ष स्वायत्तता की मान्यता की ओर ले जाते हैं। उनकी 'दार्शनिक नोटबुकों' में सामाजिक जागरूकता के विभिन्न क्षेत्रों की सापेक्ष स्वनिर्भरता के बारे में निखरे हुए प्रणालीबद्ध विचारों से इसकी पुष्टि होती है। एक खास अर्थ में निम्न तथ्यों के बीच लेनिन की द्वन्द्वात्मक प्रतिभा हमें अधिकार देती है कि हम ऐसा करें—राजनीतिक दृष्टि से कलाकृति के तात्कालिक दायित्व की प्रस्थापना और उसके अधिकारों की शोध, जोकि आंतरिक तो है लेकिन प्रकटतः ही, स्व-निर्भर नहीं। लेकिन यह कार्य हमें पुनः लेनिन के सौंदर्यशास्त्र के अपने ढंग से पुनर्निर्माण की देहलीज़ पर ला खड़ा करता है। इसलिए हमें उसी काम पर लौट चलना चाहिए जहाँ से हमने शुरू किया था : स्वयं लेनिन ने जो कहा, उसका विश्लेषण; हम अब दूसरी समस्या पर आते हैं : **साहित्यिक कृति का पार्टी-स्वभाव।**

इस समस्या को भी पहली समस्या के साथ ही लेना चाहिए क्योंकि यह उससे सीधे-सीधे जुड़ी है। कलाकार, चेतन या अचेतन रूप में, किसी कथ्य को उठाते और यथार्थ को सच्चे या झूठे ढंग से प्रतिबिंबित करते समय, हमेशा ही एक या दूसरा पार्टी-दृष्टिकोण अपनाता है। फिर भी, लेनिन की प्रस्थापनाओं की सुसम्बद्ध व्याख्या और शब्दावली के स्पष्टीकरण की जरूरत की दृष्टि से, इस समस्या को विभक्त करना, वांछनीय प्रतीत होता है। साहित्य के पार्टी-स्वभाव की समस्या लेनिन ने उपर्युक्त लेख में १९०५ में पेश की थी। चूँकि इस शब्द के अलग-अलग मतलब लगाये जाते हैं, इसलिए हमें लेनिन के लेख में निहित तीन अर्थों का अंतर समझ लेना चाहिए। लेनिन ने स्वयं कभी भी यह भेद नहीं किया, लेकिन जान-बूझकर, अर्थात् विवाद के कारणों से इन तीनों अर्थों का उपयोग किया और संदर्भ के अनुसार उनमें से किसी एक पर ज़ोर दिया।

'पार्टी' विशेषण का केन्द्रीय अर्थ है किसी संगठन से सम्बद्ध होना। इस लेख का लेखक साहित्यिक व्यक्ति को पार्टी के अन्य सदस्यों की बराबरी का दर्जा देता है। इस तथ्य में कुछ भी विस्मयजनक नहीं है कि यह समस्या लेनिन के समय में प्रकट हुई, जबकि बोल्शेविक क़िस्म की पार्टी गठित और स्थापित हुई। कलाकार और साहित्यिक व्यक्ति उम्मीद कर रहे थे कि वे किसी अर्थ में 'कानून से परे' होंगे। सोशल डेमोक्रेटिक आंदोलन के भीतर भयंकर संघर्षों और उसके बाहर शत्रुओं से लड़ाइयों, दोनों ही जगह लेनिन ने इस बात पर जोर दिया कि पार्टी का अनुशासन सभी के लिए एक जैसा है।

एक दूसरे अर्थ में, 'पार्टी-स्वभाव' और 'वैचारिक रूप से प्रतिबद्ध होना' एक चीज़ है। यानी, जो भी स्वयं को वैचारिक रूप से प्रतिबद्ध करता है, अथवा किसी भी अर्थ में झुकाव रखता है, उसने इस कृत्य के द्वारा कोई पार्टी चुन ली है। इस अर्थ में, एक व्यक्तिवादी लेखक भी पक्षधर है अगर वह किसी भी कारण से अपनी अमूर्त और दिखावटी स्वनिर्भरता को अपनी आस्था के रूप में लेता है और स्वयं को स्पष्टतः प्रतिबद्ध लेखक की स्थिति के मुकाबले में पेश करता है।

'पार्टी' विशेषण का तीसरा मूल अर्थ है **सर्वहारा-वर्ग के पक्ष में, समाजवाद के पक्ष में प्रतिबद्ध होना।** जो कलाकार इस अर्थ में पक्षधर है, उसके लिए यह बहुत आवश्यक नहीं है कि वह पार्टी से संगठनात्मक रूप में भी जुड़ा हो। इस अर्थ में 'पार्टी-पन' (पक्षधरता) का मतलब वही है जो आजकल की परिभाषा में **क्रांतिकारी दृष्टिकोण** का है।

लेनिन की प्रस्थापनाओं के पीछे मार्क्सवादी परम्परा है। १८४८ के बाद, हाइने और फ्रेइलिग्राथ से बहस के सिलसिले में, इस समस्या को मार्क्स और एंगेल्स ने 'न्यू राइनिश ज़ाइतुंग' में उठाया था। मार्क्स ने उपर्युक्त तृतीय अर्थ में 'पक्षधरता' की अवधारणा दी। आगे चलकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१८६० में फ्रेइलिग्राथ के साथ पत्र-व्यवहार में उसने कहा कि पार्टी लेखक वह है जो खुद को कम्युनिज़्म के पक्ष में घोषित करे; यह आवश्यक नहीं कि वह कम्युनिस्ट लीग का सदस्य हो ही। शताब्दी के अंत में मेहरिंग ने भी इस विषय को उठाया; उसने सर्वहारा लेखन (प्रथम अर्थ) और पार्टी लेखन (तृतीय अर्थ) के बीच के अंतर को स्पष्ट किया। यदि लेनिन में परिभाषा का कुछ बदलाव आया है, तो वह स्पष्टतः ही राजनीतिक उद्देश्यों से था। अतएव उस समय जिस स्थिति में वह लेख छपा था, उसका वर्णन समीचीन होगा।[१४]

१९०४ और १९०५ में पार्टी के कुछ अखबारों में और उनसे सम्बद्ध बुद्धिजीवियों में यह राय व्यक्त की गयी थी कि समाजवाद ह्रासवाद (Decadentism) से अविरुद्ध रह सकता है। मिन्स्की ने 'प्रोलेतारी' और 'नोवाया ज़िज़्न' में सर्जनशील व्यक्तियों के अतिशय-व्यक्तिवाद के लिए सहिष्णुता का नारा दिया। उस समय आधुनिकतावाद के प्रतिनिधि भी ऐसे ही नारे लेकर सामने आये। एक पत्रिका 'पोलार्नाया ज़्वेज़्दा' ने अपने नीति-वक्तव्य में लिखा : "अपनी दार्शनिक-राजनीतिक विश्व-दृष्टि में हम इस प्रतिज्ञा से आरंभ करते हैं कि व्यक्ति ही समस्त आध्यात्मिक मूल्यों का वाहन और स्रष्टा है। हमारे तई व्यक्तित्व अपने-आप में और स्वतः पवित्र है। उस अर्थ में हम पूर्णतः व्यक्तिवादी हैं।"[१५] यह एस० फ्रैंक ने लिखा था, लेकिन ब्रियुसोव, मेरेज़कोव्स्की और बरद्यायेव ने भी ऐसे ही विचार व्यक्त किये थे। 'ज़ोलोतोए रूनो' पत्रिका (जो प्रतीकवादियों के मुखपत्र 'मीर इस्कुसस्तवा' की उत्तराधिकारी थी) में एक संपादकीय में आग्रहपूर्वक कहा गया कि ज़माना खतरों से भरा हुआ है, क्योंकि रक्तपाती सामाजिक संघर्ष सनातन मूल्य के रूप में कला की सीमाओं का उल्लंघन कर रहे हैं। इस पत्रिका के मंच ने निम्नलिखित 'सत्यों' की उद्घोषणा की : "कला सनातन है, कला किसी भी ऐसी चीज से नहीं बँधी है जो अनित्य हो···कला एक अद्वितीय चीज़ है, इसकी आत्मा का स्रोत अद्वितीय है। कला प्रतीकात्मक है, क्योंकि हमेशा उसके भीतर एक प्रतीक निहित होता है, अर्थात् वह जो नित्य है, और उस सबको अस्वीकार करती है जो अनित्य है। कला मुक्त है, क्योंकि यह प्रेरणा से उद्भूत होती है।"[१६] ब्रियुसोव और बरद्यायेव ने यह कहकर विरोध किया कि वे समाजवादी विचारों को केवल उसी हद तक मान्यता दे सकते हैं जहाँ तक समाजवाद उनकी विश्व-दृष्टि के मूल सिद्धान्त का सम्मान करता है : कलाकार की अनिर्बन्ध स्वतंत्रता।

रूसी प्रतीकवादियों के विचार फ्रांसीसी प्रतीकवाद और 'पारनेसिज़्म' की प्रतिच्छाया थे। इसकी जड़ में, नोवालिस और एफ० श्लेगेल से प्राप्त कला की रोमांटिक प्रस्थापना है, जिसके अनुसार कलाकार 'ब्रह्म' होता है। (साथ-ही-साथ, रोमांटिसिज़्म की एक धारा कलाकार के सामाजिक दायित्वों पर भी ज़ोर देती थी, मसलन्, 'कविता की वकालत' में शेली।) रोमांटिसिज़्म में यह राजनीति-शून्य प्रवृत्ति 'कला कला के लिए' के प्रतिनिधियों से विरासत में मिली थी। 'हीम' में बोदलेअर ने लिखा : "Que tu viennes du Ciel ou de l'Enfer, qu'importe, O Beaute." फ्लॉबेयर सोचता था : "Aimonsnous en l'art comme les mystiques s'aiment en Dien". (पत्रव्यवहार, खंड २, १८६३, पृ० २८६)। गोंकूर बन्धुओं ने अपने जर्नल में १८८६ में लिखा कि केवल 'शुद्ध साहित्य' जीवन और मरण का मसला है। और उनके लेखन में हमें निरन्तर 'सचमुच सुन्दर' की चिरन्तनता, कलाकार की स्वतन्त्रता, अपने पाठकों एवं ग्राहकों के प्रति उसकी (अपनी) श्रेष्ठता और तिरस्कार के सम्बन्ध में वक्तव्य मिलते हैं। बोदलेयर ने पो के बारे में और गॉतिए ने बोदलेयर के बारे में लिखते हुए कहा है कि कवि की महिमा स्वयं को स्वप्नदर्शियों, मानवतावादियों, समाजवादियों इत्यादि से अलग रखने में है। सभी नीति-उपदेशक कवियों के लिए बोलते हुए फ्लाबेयर ने घोषणा की कि "कला की नैतिकता उसके सौंदर्य में ही निहित होती है" (समव्यवहार, खंड ३, उपर्युक्त रचना, पृ० ७१)।

लेकिन 'कला के लिए कला' के प्रतिनिधियों और ब्रियुसोव तथा बरद्यायोव के बीच एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक अन्तर है। पूर्ववर्त्तियों ने समस्त महत्त्वाकांक्षी कला के विरोधी पूँजीपति और निम्नपूँजीपति असभ्यों (फिलिस्तीन) के खिलाफ़ विद्रोह किया था (देखें, मार्क्स के वक्तव्य, 'अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त', खंड १ में)। रूसी पतनशील (साहित्यिक) केवल पूंजीपति वर्ग पर ही हमला नहीं कर रहे थे, बल्कि एक ऐसी कला की प्रतीक्षा करने वाले जन-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समुदायों पर हमला कर रहे थे जो उनके लिए अब तक बन्द क्षितिजों को उन्मुक्त करतीं, और शायद उस समय उनका मुख्य लक्ष्य ये जन समुदाय ही थे। अवाम से कलाकारों को भय परवर्ती रोमांटिसिज़्म से शुरू होता है (देखें, 'लूतेतिया' के फ्रांसीसी रूपांतर में हाइने की भूमिका) और बेन्वा तथा मेरेज़्कोव्स्की के समय तक जारी रहता है। १६१२ में रोजर फ्राइ ने फेबियन सोसाइटी में 'कला और समाजवाद' पर पठित अपने लेख में इसे एक लाक्षणिक अभिव्यक्ति दी है। किन्तु १८४०-५० और १८५०-६० में कवियों का वैरी (समाजवाद) बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों से भिन्न रूप में था। पिछले ज़माने में समाजवाद एक 'प्रेत छाया' था जबकि लेनिन के समय में यह एक वास्तविक उर्वर ऐतिहासिक शक्ति थी। कलाकारों के नज़रिये से भी इसे इसी रूप में माना जा सकता था।

लेकिन उस समय हर एक ने इन पतनशील विचारों को स्वीकार नहीं किया। एफ० माकोव्स्की और वी० स्तासोव, जिन पर प्रतीकवादी लोग सर्जनात्मकता के नागरिक विवेक को अपील करते हुए हमला कर रहे थे; लेकिन उनकी आवाजों को व्यतीत समझा जाने लगा था। समाजवादी जनतंत्रवाद से जुड़े लेखक और आलोचक का पक्ष ही इस शास्त्रार्थ में वज़नदार रहा। उनके लेख लेनिन के वक्तव्यों से पहले छपे; उदाहरण के लिए, १८वीं सदी के फ्रांसीसी नाटक और फ्रांसीसी चित्रकला का प्लेखानोव द्वारा विवेचन और सर्वहारा आन्दोलन तथा पूँजीवादी कला पर उसका लेख। उसके बाद लूनाचार्स्की का लेख था 'मार्क्सवाद और सौंदर्यशास्त्र' पर, प्रावदा के ६-१० अंक में; और मैक्सिम गोर्की ने 'नोवाया झिज़्न' में अपना लेख 'निम्न पूँजीपति पर टिप्पणियाँ' छपाया। इन लेखों ने कला की सामाजिक प्रकृति पर ज़ोर दिया; उसके वर्गीय-उद्भव, सारतत्व और दायित्व प्रतिपादित किये, रूपवाद की आलोचना की, उसकी विचार-हीनता के लिए, मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र की नींव रखी; सामाजिक जागरण (और सांस्कृतिक क्रांति) के लिए सर्वहारा के संघर्ष में पंक्तिबद्ध हुए। नित्य, पूर्ण सुन्दर, और कलाकारों के व्यक्तिवाद के निम्नपूँजीपतिवर्गीय स्रोतों का उद्घाटन करते हुए, उनकी अन्धश्रद्धा का पर्दाफाश किया। लेनिन के लेख 'पार्टी संगठन और पार्टी साहित्य के सम्बन्ध में' की पृष्ठभूमि यह थी। उसकी पहली मूल प्रस्थापना ने दावा किया कि "साहित्य को सर्वहारा-वर्ग के आम ध्येय का एक अंग, मज़दूर-वर्ग के समूचे जागरूक अवाँ-गार्द की शक्ति से चलने वाले समाजवादी जनतंत्र के एकमात्र, ठोस विशाल यंत्र में एक 'गिअर' पुर्ज़े की तरहही होना चाहिए।" लेनिन ने तुरन्त ही जोड़ा कि कोई भी तुलना लँगड़ा सकती है, और उपर्युक्त घोषणा को निम्नलिखित ढंग से पुनः पुष्ट किया : "इसमें कोई शक नहीं कि साहित्य दुनिया की अन्तिम चीज़ है जो यांत्रिक समतलीकरण और एकरूपता के लिए, बहुमत द्वारा अल्पमत पर आधिपत्य के लिए स्वयं को समर्पित करने के लिए तैयार हो। इसमें कोई शक नहीं कि इस क्षेत्र में वैयक्तिक पहलकदमी और व्यक्तिगत रुझानों को बहुत अधिक आज़ादी, विचार और कल्पना, रूप और विषयवस्तु को बहुत अधिक आज़ादी सुनिश्चित की जानी चाहिए।"[१७]

इस मूलभूत प्रतिस्थापना का एक निश्चित लक्ष्य था—मिन्स्की और उसके समर्थक। लेकिन यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है, जिसकी ओर वापस लौटना होगा कि लेनिन ने एक तीखा राजनीतिक आधार-तत्त्व निरूपित करते समय भी कला की प्रकृति की समस्या को नज़रअन्दाज़ नहीं किया।

इस लेख की दूसरी मूलभूत प्रस्थापना बर्द्याएव, बेनोइस इत्यादि को सम्बोधित थी। लेनिन ने पतनशील लेखकों के परम स्वातंत्र्य-सम्बन्धी वाग्विस्फार की हवा निकाल दी। उन्होंने कहा : "और, यह परम स्वातन्त्र्य एक पूँजीवादी, अर्थात्, एक अराजकतावादी मुहावरा है (क्योंकि दर्शन के रूप में अराजकता उलटी हुई पूँजीवादी विश्व-दृष्टि ही है।) किसी समाज में रहना और समाज से मुक्त रहना असम्भव है। पूँजीवादी लेखक, चित्रकार या अभिनेत्री की आज़ादी केवल 'पर्स' पर, रिश्वत पर, फीस पर, ढँकी हुई (या झूठमूठ छिपायी हुई) निर्भरता है।

यह निष्कर्ष आगे उस प्रस्थापना तक ले गया जो साहित्य को पार्टी के साथ आवयविक रूप से जोड़ने के ढाँचे से भी आगे जाती है। लेनिन ने कला की स्वतंत्रता को निम्न प्रकार से परिभाषित किया : साहित्य उस हद तक स्वतंत्र होगा जिससे कि व्यक्तिगत लाभ या 'कैरियर' के लिए नहीं अपितु समाजवादी विचार और श्रमजीवी जनता के प्रति सहानुभूति के लिए, उसकी पंक्तियों में नयी शक्तियों का समावेश किया जा सके। साहित्य स्वतंत्र होगा जब वह क्लान्त नायिका की नहीं, ऊबे हुए और थुलथुल 'चोटी के दस हज़ार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोगों' की नहीं, बल्कि करोड़ों लोगों की, करोड़ों श्रमिक जनों की सेवा करेगा जो राष्ट्र के पुष्प हैं, उसकी शक्ति हैं, उसका भविष्य हैं।"[१८]

इस तरह उन्होंने उन सभी कलाकारों से सामाजिक न्याय के संघर्ष में भाग लेने की अपील की, जिन्हें जनता का ध्येय प्रिय था। यह यथार्थपरक और आशापरक सर्जनात्मकता के लिए अपील थी जो भविष्य की ओर अभिमुख थी। लूनाचार्स्की ने 'वेस्तनिक ज़िज़नी' (१९०७, सं० १) नामक पत्रिका में 'समाजवादी-जनतांत्रिक कलात्मक सर्जनात्मकता की समस्याओं' पर एक लेख में इन प्रस्थापनाओं का समर्थन किया। ब्रियुसोव और बर्दयाएव ने उसका जवाब दिया। उन्होंने अराजकता को कलाकार का अपरिहार्य रवैया और प्रेरणा ('रहस्यपूर्ण सिद्धान्त') को सर्जन-प्रक्रिया का स्रोत मानते हुए उसका बचाव किया। यह विवाद काफ़ी चला,[१९] और अब भी जारी है, जैसाकि हम सभी जानते हैं।

यहाँ उठायी गयी समस्याओं पर लेनिन के दृष्टिकोण की असाधारण सम्भावनाओं को उद्घाटित करने के लिए हम वापस उसी पर चलते हैं जो लेनिन ने कहा था। लेनिन ने सर्जनात्मक कृति के विचारों के महत्त्व पर ज़ोर दिया और कलाकार तथा पार्टी के बीच सीधे अनुबन्ध के लिए लड़ाई लड़ी। किसी राजनीतिक पार्टी के नेता के लेखन में, जिसने २०वीं सदी के इतिहास को गढ़ा, ये दलीलें आना बहुत स्वाभाविक हैं। लेकिन लेनिन ने लेखक के कार्य की विशिष्ट प्रकृति पर भी ज़ोर दिया। यह उद्देश्य, जो किसी भी हालत में सनसनीखेज़ नहीं है, इस तथ्य से जुड़ा है कि उसका कथन कलात्मक सत्य की उसकी अवधारणा से, तथा बाद की घोषणाओं से पहले का है। गोर्की को कम्युनिस्ट विचारधारा के पक्ष में लाने के लिए लेनिन के संघर्ष के साथ-साथ एक और अनवरत संघर्ष चल रहा था, वह था इस सर्जनात्मक लेखन में किसी भी तरह से बाधा न डालने का संघर्ष। लेनिन ने निरन्तर ज़ोर देकर कहा कि गोर्की का यथार्थ का निजी प्रामाणिक दृष्टिकोण पार्टी के लिए एक अमूल्य उपहार है। ठीक इसी तरह उन्होंने **देमियन बेदनी** का भी पक्ष लिया, लेकिन इसे उन्होंने बेदनी के लिए अहितकर माना और यह तथ्य लाक्षणिक है कि वह कभी-कभी केवल वही दोहरा देता था जिसे पार्टी पहले ही स्थापित कर चुकी है और समाज को वह मालूम है। गोर्की के संस्मरणों में हमे मिलता है कि लेनिन ने देमियन की कृतियों के आंदोलनात्मक मूल्य पर प्रश्नचिह्न लगाए बिना ही, कहा, "वह भोंडा है, वह पाठक का अनुगमन करता है, जबकि ज़रूरत इसकी है कि हमेशा ही कुछ आगे रहा जाए।"

इस तरह, लेनिन लेखक से **एक निजी दृष्टिकोण की, यथार्थ के भीतर एक वैयक्तिक पैठ की, उन समस्याओं और दृष्टिकोणों को उठाये जाने की, जिन पर शायद, पार्टी अभी तक नहीं पहुँची है,** अपेक्षा करते थे। लेनिन स्वयं अपना सत्य उद्घाटित करने वाली और अपने दैनिक कार्यों में पार्टी के साथ-साथ चलनेवाली कलात्मक वैयक्तिकता के पक्षधर थे, वह व्यक्तिवाद की अतियों के विरुद्ध थे।

साहित्य के पार्टी-गुण पर लेनिन के कथन मेरी दृष्टि में निम्नलिखित सामान्यीकरणों को उचित ठहराते हैं। कलाकार का चरम स्वातंत्र्य एक भ्रामक स्वातंत्र्य है। कलाकृति अनिवार्यतः सैद्धांतिक लड़ाई में उलझी होती है। सचेत चयन हमेशा ही अचेतन प्रतिबद्धता से बेहतर होता है। और हमारे युग में, एक कम्युनिस्ट समाज के लिए संघर्षरत जनता के साथ गठबन्धन से बढ़कर मानवतापूर्ण अन्य कोई चुनाव सम्भव नहीं है। वह गठबन्धन किस तरह का होगा, यह और बात है। यह कम्युनिस्ट विचारों का सार्वजनिक प्रचार करने के अर्थ में पार्टी-लेखन हो सकता है, लेकिन यह पूंजीवादी व्यवस्था की स्पष्ट आलोचना के ज़रिये उन विचारों तक पहुँचने का तरीका भी हो सकता है।

लेनिन के इन विचारों का विस्तार करते हुए हम यह भी कह सकते हैं कि यह गठबन्धन ऐसे सर्जनात्मक कृतित्व में प्रकट हो सकता है जो हमारे युग के विचारों की समस्याओं पर सीधे-सीधे प्रहार करता हो, लेकिन सौंदर्यशास्त्रीय संस्कृति के जनतंत्रीकरण की प्रक्रिया में सक्रिय भागीदारी का रूप भी ले सकता है (उदाहरण के लिए, स्थापत्य-कला और व्यावहारिक कलाओं के क्षेत्र में)। कलाकार की तथाकथित चरम स्वतंत्रता एक कपोल-कल्पित स्वतंत्रता है; सच्ची स्वतंत्रता है उन सौंदर्यशास्त्रीय मूल्यों का, जोकि एक समाजवादी समाज की सांस्कृतिक ज़रूरतों की दृष्टि से मूल्यवान् हों, हर सम्भव विकास और प्रसार। समाजवाद की लड़ाई में सचेत प्रतिबद्धता साथ-ही-साथ विभिन्न भावनात्मक अनुपातों और विभिन्न बौद्धिक अभिमुखताओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के साथ—हमेशा कलात्मक ग़ैर-एकाकीकरण के लिए लड़ाई भी होती है। उस समय कलाकार न केवल अपने सत्यों को अन्यों तक संप्रेषित करता है, बल्कि उनसे भी सत्य ग्रहण करता है, जिससे एक सर्वसामान्य आधार बनता है और प्रत्येक व्यक्ति 'धरती पर अपना स्थान' निर्धारित कर पाता है। जो कलाकार अपने निजी ढंग से उस विश्व-दृष्टि तक पहुँचता है जो कम्युनिस्ट पार्टी की है, उसे विश्व में निरन्तर अपना दिशामान चुनने, हमेशा ही असत्य को अस्वीकार करने और सत्य का आग्रह करने की कोशिश करने का न केवल अधिकार प्राप्त है, बल्कि वह इसे सहज ही एक आन्तरिक ज़रूरत के रूप में महसूस करता है। यह बात उस कलाकार पर भी, बल्कि प्राथमिक तौर पर, लागू होती है जो पार्टी का सदस्य है। वह किसी भी अन्य व्यक्ति की तरह पार्टी के अनुशासन से बंधा है, लेकिन वह पार्टी के प्रत्येक बुद्धिजीवी, प्रत्येक सर्जक की भांति, स्वतंत्र विचार और यथार्थ के बारे में अपनी निजी दृष्टि व्यक्त करने के प्रति भी प्रतिबद्ध है। पार्टी उसे स्वयमेव, एक विश्वास प्रदान करती है और वह इसलिए कि उसने अपनी वैयक्तिक अन्तर्दृष्टि के द्वारा समाजवादी संस्कृति को समृद्ध किया है, जैसे गोर्की ने अपने उपन्यास 'माँ' के द्वारा किया। लेनिन ने यह सीख तोलस्तोय सहित अन्य समाजवाद-पूर्व महान् लेखकों के उदाहरणों से ली। वे सत्यों के अन्वेषक थे, न कि पूर्वस्थापित आदेशों का पालन करने वाले दलाल। समाजवादी लेखकों ने उस रवैये को जारी रखा और अभी भी जारी रखे हुए हैं जोकि ऊपर से नीचे तक पक्षधर हैं।[२०]

यह एक चमत्कारिक तथ्य है कि लेनिन ने, जो एक महान् प्रतिभाशाली राजनीतिज्ञ और क्रांतिकारी, असाधारण दार्शनिक और अर्थशास्त्री था, अपनी साहित्यिक आलोचना में भी कुछ असाधारण विशेषताएँ प्रदर्शित की हैं। यह एक प्रतिभा के देदीप्यमान होने का उदाहरण है, क्योंकि मैंने जो सामग्री उद्धृत की उसके बिखरे हुए टुकड़े स्पष्टतः संकेत देते हैं कि यह ऐसा ज्ञान-क्षेत्र था जिसमें लेनिन कभी-कभार प्रवृत्त होते थे, सो भी राजनीतिक उद्देश्यों—तात्कालिक राजनीतिक उद्देश्यों के लिए, अथवा कुछेक लेखकों और कुछेक कृतियों में विशेष रुचि होने के कारण। अन्य मामलों उन्होंने अपने निर्णय यदा-कदा टिप्पणियों के रूप में ही दिये हैं जिन्हें वह खास महत्त्व नहीं देते थे, और यह मन्तव्य तो उनका कदापि नहीं था। उसकी रुचियाँ या सामान्य टिप्पणियाँ कभी ऐसे आधारलेख बन जायेंगी जिनसे कोई लेनिनवादी सौन्दर्यशास्त्र की रूपरेखा तैयार करेगा।

मार्क्स और एंगेल्स द्वारा कभी स्थापित स्थापनाओं की ओर लेनिन की वापसी, जिनकी लेनिन को कोई जानकारी नहीं थी, एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य है, लेकिन हमारे लिए सर्वाधिक रोचक है कलात्मक समस्याओं पर उनका द्वंद्वात्मक दृष्टिकोण[२१] उन्होंने जो कुछ कहा है, उसमें कृति तथा कृतिकार हमेशा ही सामाजिक, राजनीतिक पार्टी के मसलों के सन्दर्भ में सामने आते हैं, और साथ ही, वह उन्हें सापेक्षिक स्वायत्तता भी प्रदान करते हैं। प्रस्थापनाओं की स्वल्पता के बावजूद यह महान् विरासत है। आज का मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र लेनिन का दाय उठाने की कोशिश करता है—एक ओर उन सरलीकरणों का विरोध करते हुए, जो कला-कृति को महज़ किसी सामाजिक स्थिति की उपज बनाकर पेश करते हैं, और दूसरी ओर उन धारणाओं का भी विरोध करते हुए, जो साहित्य और कला को उनके सामाजिक आधार से जुदा करती हैं।[२२]

अन्त में, मैं लेनिन की उन दो विशेषताओं की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा जो उनकी प्रत्येक गतिविधि की भाँति उनके सौन्दर्यशास्त्र-सम्बन्धी लेखन में भी प्रकट हुई हैं: उनकी प्रतिभा और उनकी विनम्रता। कला और सौन्दर्यशास्त्र के विषय का विशेषज्ञ न होने के कारण (यह तथ्य वह स्वयं स्वीकार करते थे) वह विशेषज्ञों के निर्णय को स्वीकार कर लेते थे। साथ ही, एक राजनीतिज्ञ और दार्शनिक होने के रूप में उन्होंने ऐसे विचार और सुझाव रखे जिन्होंने विशेषज्ञों के लिए एक नींव रखी। अपने कृतित्व में एक साहित्यिक आलोचक होने के नाते लेनिन ने दो परस्पर-सम्बद्ध गुण प्रकट किये जो उन्हें एक आदमी बोल्शेविक पार्टी के एक नेता, और एक विद्वान् के रूप में विशिष्ट बना देते हैं; वे दोनों गुण हैं: क्रांतिकारी गठन और मानवता।[२३]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाद-टिप्पणियाँ

१. देखें-लूनाचार्स्की का लेख "लेनिन और साहित्य" (१९३२, उनके ग्रंथ "साहित्य सम्बन्धी लेख" में पुनर्मुद्रित, मास्को १९५७, पृ० १३-९१), तथा "साहित्य और कला पर लेनिन" (मास्को १९५७) में बी रियूरिकोव की भूमिका "वी० आई० लेनिन तथा साहित्य-सम्बन्धी प्रश्न।"

२. इस सामग्री में प्रस्तुत समस्याओं पर विभिन्न पोलिश लेखकों ने, उल्लेख्य तौर पर सेंट ज़ोलिफएव्स्की तथा एच० मार्कि-एविल्स्ज ने विचार किया है।

३. देखें—एस० मोराव्स्की, "श्लेष या बहु-कार्यपरता ?" ["अध्ययन और बहस के लिए सामग्री" वारसा, १९५५, सं० २१।२२], और आर० इंगार्डेन, "साहित्यिक कृतियों का ज्ञान", १९३७, खंड ४ और ५।

४. देखें—एस० मोराव्स्की, "एफ० मेहरिंग के सौंदर्यशास्त्रीय मतों के सम्बन्ध में कुछ विचार" [स्तूदिया फिलोज़ोफ़ित्स्जने, १९५९; सं० ६ (१५) तथा "फ्रांज़ मेहरिंग का सौंदर्यशास्त्र" (रिविस्त)]। [दि एस्तेतिका, १९६०. सितम्बर-दिसम्बर]।

५. प्लेखानोव १९०२ से १९११ तक तोल्स्तोय पर जमकर चिंतन करता रहा। १९०२ में वह एल० अक्सेलरोद की पुस्तक "टॉलस्टॉयज़ वेल्टेनशाउंग उंड इहरे एंटविकलुंग" की समीक्षा लिखना चाहता था। १९०७ और १९११ के बीच तोल्स्तोय पर प्लेखानोव-लिखित अनेक लम्बे-लम्बे लेख पार्टी के पत्रों में प्रकाशित हुए। १९०७ में प्लेखानोव ने 'तवारिश' नामक पत्रिका में पड़ोसी से बिना शर्त प्यार के पक्ष में तोल्स्तोय के प्रचार के खिलाफ उस पर आक्रमण किया। १९०८ में प्रारम्भ किये गये, प्रकृति से तोल्स्तोय के सम्बन्ध पर एक प्रकाशित लेख में उसने दिखाया कि प्रकृति के सौंदर्य के प्रति अपनी उल्लेख्य संवेदनशीलता के बावजूद तोल्स्तोय को कभी शांति प्राप्त नहीं हुई, क्योंकि मनुष्य की नश्वरता के विचार ने हमेशा उसे नष्ट किया। १९१० में 'ज्वेज़्दा' में प्रकाशित एक लेख में प्लेखानोव ने स्पष्ट किया कि वह तोल्स्तोय को "आद्योपान्त" क्यों पसन्द करता था। उसे विचारक के रूप में तोल्स्तोय उलझा हुआ, दुखमय लगता था, और उसकी नैतिक शिक्षाएँ पूरी की पूरी भ्रांतिपूर्ण। उसके दीर्घतम लेख (१९११ में मिस्ल, 'सोत्सियलदेमोक्रेत' और 'ज्वेज़्दा' पत्रिकाओं में प्रकाशित) तोल्स्तोय की ईसाइयत के खिलाफ़ एक अनवरत शास्त्रार्थ थे। इस शास्त्रार्थ की एक अपनी विशेषता यह थी कि प्लेखानोव कुछ अंशों को—उदाहरण के लिए "अन्ना कारेनिना" और "युद्ध तथा शांति" में—तोल्स्तोय के दार्शनिक तथा सामाजिक विचार समझता था, तथा उनकी तुलना मार्क्स के विचारों से करता था।

६. लेनिन ने इस (परावर्तन-बिन्दु) को सिद्ध करने के लिए (सोत्सिअलदेमोक्रात, १९१०, सं० १८ में) एक विशेष लेख "क्या यह परावर्तन का आरंभ हो सकता था," लिखा—

७. लेनिन, "ओ लितरातुर्जे" (साहित्य के सम्बन्ध में), वारसा, १९५३, पृ० १४।

८. वही, पृ० १७।

९. वही, पृ० ३६।

१०. यह बहस "ज़ेज़िती तेओरेतित्स्ज़्नो पोलितित्स्ज़्ने" १९५७, सं० १२(४३) और १९५८, सं० १-२।४४-५५ में छपी थी।

११. साहित्य और कला पर लेनिन", उपर्युक्त पुस्तक, पृ० २४५। कई वर्ष बाद लूनाचार्स्की ने भी इसी तरह लिखा है, जब वह RAPP की प्रस्थापनाओं का खंडन कर रहा था, जिनकी मान्यता थी कि लेखक की 'diamat' विश्व-दृष्टि, अर्थात् उसका दर्शन उसकी कृतियों के यथार्थवाद को नियमित करता है। 'समाजवादी यथार्थवाद' शीर्षक एक समीक्षा में, फरवरी १९३३ में लूनाचार्स्की ने घोषित किया कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में गहरी पैठ के बिना भी एक समाजवादी-यथार्थवादी होना संभव है, और यह कि सृजन-प्रक्रिया का अतिशय तार्किकीकरण कृति के कलात्मक चरित्र को नष्ट कर देता है। धारणात्मक योजनाओं का प्रभाव कलाकार पर वैसा ही पड़ता है जैसा कि किस्सों में मशहूर शतपद पर हुआ जो यह सोचने में लग गया कि उसके कदम किस क्रम से उठें और इस चक्कर में जहाँ का तहाँ खड़ा रह गया।

१२. लेनिन, 'ओ लितरातुर्जे', उपर्युक्त पुस्तक, पृ० ५७।

१३. इन सवालों का सूत्र गोर्की द्वारा लेनिन के साथ लंदन के एक संगीत भवन में जाने के विवरण में मिल सकता है। गोर्की ने लिखा है कि एक सनकी कार्यक्रम में मसखरों को देखकर लेनिन प्रसन्न हुए। लेनिन ने कहा कि सनकीपन प्रचलित रीतियों की तार्किक असंगति को रेखांकित करके एक व्यंग्य उद्देश्य की पूर्ति करता है।

१४. देखें—बी० मीलाख, 'लेनिन इ प्रोब्लेमी रुस्कोई लितरातुरी' [लेनिन और रूसी साहित्य की समस्याएँ], मास्को, १९४७, और एम० एस० कागन, '१९०५-१९०७ क्रांति का रूसी सौंदर्यशास्त्रीय विचारणा पर प्रभाव' [उकोनी ज़ापिस्की एल० जी० यू०, सेरिया इस्तोरिकेस्किख नौक; १९५६, सं० २२०।]

१५. एम० एस० कागन से उद्धृत, उपर्युक्त रचना, पृ० २८।

१६. वही, पृ० २९।

१७. लेनिन, 'ओ लितरातुर्जे', उप० रचना, पृ० ९।

१८. वही, पृष्ठ ११।

१९. कला और साहित्य पर अक्तूबर-पूर्व 'प्रावदा', मास्को-लेनिनग्राद. १९३७।

२०. 'पक्षधरता' के इन तीन अर्थों का भेद न समझ सकने के कारण अक्सर ही उन कलाकारों पर (और यहाँ तक कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेनिन का हवाला देकर) दोष मढ़ दिया जाता है जो अपने निजी ढंग से सत्य की तलाश करते हैं।

इन मार्क्सवादी (मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन के पद्धति-बद्ध कथनों में कही गयीं) प्रस्थापनाओं से टी० एस० इलियट की प्रस्थापनाओं की तुलना करना रोचक होगा, जो अपने ढंग से कलाकृति की विशिष्ट प्रकृति और सर्जक की प्रतिबद्धता, दोनों की वकालत करता है। 'दि यूस ऑव पोएट्री एंड दि यूस ऑव क्रिटिसिज्म' (१६३३) में हम पढ़ते हैं कि कविता को ऐसा दर्शन होना चाहिए जो अनुभूत हो, न कि चिंतित। अपने 'सेलेक्टेड एसेज़' (१६५३) में इलियट ने कविता का बचाव 'महत्त्वपूर्ण भाव' के रूप में किया और कलाकार से सचेत दार्शनिक अभिमुखता तथा अपनी कृति में उसकी व्यक्तिगत अभिव्यक्ति का आह्वान किया। टी० एस० इलियट धार्मिक कविता का प्रवक्ता है और उसका दृष्टिकोण मार्क्सवादी दृष्टिकोण के नितान्त विपरीत है। इसके बावजूद, उसका उदाहरण महत्त्वपूर्ण है। यह प्रदर्शित करता है कि कलाकृति की विशिष्ट प्रकृति, कला के मानवीय पहलुओं और कलाकार की प्रतिबद्धता एक सामान्य ढंग से पक्ष लेना काफी नहीं है, आपको आगे बढ़ना पड़ेगा और साफ-साफ बतलाना पड़ेगा कि कोई भी व्यक्ति किन्हीं पहलुओं को क्यों स्वीकारता है और अन्यों को क्यों अस्वीकार करता है; और कौन-सी प्रतिबद्धता मद्दे-नज़र है।

२१. इस दृष्टिकोण से लेनिन के सौन्दर्यशास्त्रीय विचारों की एक रोचक व्याख्या जी० मोरपर्गो-तैग्लियाब्युए ने 'ल एस्थीतिक कंतेपॅरेन' (मिलान, १६६०, पृ० २६८-३०१) में दी है। वह कला की प्रकृति और दायित्व पर लेनिन के विचारों को हेगेलीय धारणा 'टोटैलिटाट' से जोड़ता है।

२२. देखें—ए० हाउज़ेर, फिलॉसफी डेर कुंस्टगेशिश्टे, म्यूनिख १६५८, पृ० २६०-३०६।

२३. कलाकृति के ताने-बाने में रची विश्व-दृष्टि का एक उत्कृष्ट और विश्वसनीय विवेचन। अमरीकी सौंदर्यशास्त्री जे० हॉस्पर्स ने 'साहित्य में सन्निहित सत्य' शीर्षक लेख में 'द जर्नल ऑव एस्थेटिक्स एंड आर्ट क्रिटिसिज्म' पत्रिका शरद १६६० के अंक में किया है।

[अनुवादक : गिरधर राठी, 'साइन्स एंड सोसाइटी' नामक त्रैमासिक पत्रिका के शरत, १६६५ के अंक से साभार।]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चार कविताएँ

व्यक्तिगत विरोध-पत्र

विष्णुचंद्र शर्मा

एक : अपने जनतंत्र में

जनतंत्र के चार दरवाज़े हैं
पहले दरवाज़े की
मंत्रीजी ताली दबा कर बैठे हैं
दूसरे दरवाज़े पर लालाजी
कर्ज़ें का फंदा फैलाकर बैठे हैं

अपने जनतंत्र के
तीसरे दरवाज़े पर सागर है
सागर में बेड़े के चौकीदार
रोशनी बुझाकर बैठे हैं

अपने जनतंत्र के
चौथे दरवाज़े पर पर्वत है
पर्वत में सेंध लगा
देशवासी बैठे हैं

संसद में पलटू साब चढ़े हैं
मंगन चमार पर
अपने जनतंत्र की खबर है
चौथे दरवाज़े पर
भगदड़ मची है ।

दो : न्यायिक जाँच की रिपोर्ट

दंगे में
रँगे हाथ पकड़ा है
एक काली टोपी को
एक मैली नेकर को
एक फटे बाँस को ।

दंगे में
रँगे हाथ पकड़ा है
एक पीली कोठी में
एक भगुए चेहरे के
एक चीकट नेता को

दंगे में
रँगे हाथ पकड़ा है
गणतंत्र दिवस पर
एक बड़े जादू से
उल्टे खड़े साँड को

तीन : अभिनंदन-पत्र

महामहिम राज्यपाल !
पिछले चन्द सालों में आपने
कई शेर मारे हैं

महामहिम !
आपके राज्य में
जंगली सियार बढ़ गये हैं

महामहिम !
संसद के हाथ-पैर बाँधकर
आपके राज्य के विधायक बिक रहे हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महामहिम !
पश्चिम में, उत्तर में, पूर्व में
बीस साल बाद भी
आप ही बड़े हैं

महामहिम !
आपके आसपास हाथ जोड़े
आज भी
चौपाये खड़े हैं

चार : माँ के सामने

मैंने हर बार तुम्हारे सामने
जीत का पासा फेंका था
और हर मोर्चे पर हारने के बावजूद
मैं तुम्हारे सामने
ज़हरवाद से चीरी हुई पिता की टाँग को
माँजता रहा
योद्धा की तरह
मैं तुम्हारे सामने रहा

गो मैं कहीं हार नहीं रहा था
मुझे किसी ने पछाड़ा नहीं था
मैं कहीं लड़ा नहीं था

माँ
मैं केवल ज़हरवाद से कटी
पिता की टाँग को घुमाकर
अपने-आपको मज़बूती से
तुम्हारे सामने रख रहा था !

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय काव्यशास्त्र की नई व्याख्या

राममूर्ति त्रिपाठी

काव्य के शास्त्र से अभिप्राय उसके शासन से है—नियम-विधान से हैं। शास्त्र इसीलिए 'शास्त्र' माना जाता है कि वह शासन करता है, अंकुश रखता है—कवियों को निरंकुश होने से रोकता है। कतिपय साहित्यशास्त्रियों ने काव्यशास्त्र या काव्यशासन की जगह 'काव्यानुशासन' शब्द का ठीक उसी प्रकार प्रयोग किया है जैसे व्याकरण के भारतीय चिंतकों ने 'शब्दानुशासन' का। महाभाष्यकार पतंजलि ने शब्द-प्रयुक्त शब्द-लक्ष्य—का अनुगामी रहकर शब्द-शासन की बात कही है। लक्ष्य के अनुरूप ही नियमों का निर्धारण किया है—लक्ष्य को ध्यान में रखकर लक्षणों का विचार किया है—न कि लक्षणों के द्वारा लक्ष्य का स्वरूप निर्धारित किया है। कहा भी गया है—"लक्ष्यैकचक्षुष्का: वैयाकरणाः।" ठीक इसी प्रकार जब हेमचन्द्र या वाग्भट 'काव्यानुशासन' की बात करते हैं अथवा दशरूपककार उत्कृष्ट रचनाओं को देखकर नियम बनाने की युक्ति प्रदर्शित करते हैं तब वे भी शब्दविदों की भाँति शासन नहीं, अनु-शासन का ही समर्थन करते हैं। काव्य का अनुशासन ही काव्य का शास्त्र है।

बात यह है कि शासन या नियम-निर्माण बुद्धि का कार्य है और काव्य उसकी अपेक्षा और भी महत्त्वपूर्ण किसी **सर्जनात्मक शक्ति** का—जो केवल संश्लेष को जानती है—समग्र से परिचित है—उसके द्वारा की गई सृष्टि में कौन कहाँ से आकर किस अनुपात में किस तरह आवयविक विकास की अखण्ड प्रक्रिया में जुट गया—इसका उसे पता नहीं। यह अवश्य मानने की बात है कि हर कविता उस सर्जनात्मक शक्ति का प्रसव नहीं होती। कौन-सी रचना सर्जनात्मक शक्ति की प्रसूति है—इसका निकष भी सबका हृदय नहीं हो सकता—तभी तो किसी को लिखना पड़ा कि 'तार सप्तक' लाला भगवानदीन के हाथों पड़कर अपना प्राप्य नहीं पा सकता। सहृदय, समीक्षक या समझदार को काव्यधारा और जीवनधारा के सम्पर्क में रहकर अपनी समझ या ग्रहण-शीलता को निरन्तर ताज़ा रखना पड़ता है। जिस समझदार में इस ग्रहणशील वृत्ति की ताज़गी अन्य दोनों सम्पर्कों के अभाव में मर जाती है—उसमें अनुशासन की क्षमता नहीं आ सकती—वह अनुरूप प्रतिमान नहीं निर्धारित कर सकता।

कतिपय चिंतकों की धारणा तो यह है कि न तो काव्य का अनुशासन तात्त्विक भूमिका पर सम्भव है और न काव्य के लिए उसकी कोई आवश्यकता ही है। पहली बात इसलिए मान्य है कि कविता अपने हर प्रयास में सर्जनात्मक शक्ति 'नवता' से संवलित रहती है, अतः अनुशासन रखने वाली बुद्धि हमेशा पीछे ही रह जाती है और दूसरी बात भारतीय काव्यशास्त्रियों के साक्ष्य पर इसलिए सही है कि वे काव्य को महज़ आस्वाद की वस्तु मानते हैं—उनका सर्वाधिक मान्य रसात्मक प्रतिमान केवल आस्वाद की निरतिशयता या तारतमिकता बताता है। निरतिशयता रस की अपनी स्वरूपगत विशेषता है जबकि तारतमिकता ग्राहक के संस्कार और व्यंजक सामग्री की। वास्तव में भारतीय काव्यशास्त्रियों के रसात्मक प्रतिमान में आस्वाद या प्रीति के साथ-साथ व्युत्पत्ति अथवा मूल्य की बात इस कदर अपरिहार्य अंग बन गई है कि उसे अलग से न कहकर भी कह दिया गया है। इसीलिए रसात्मक प्रतिमान के विषय में यह कहना कि वह मूल्यांकन की ओर उन्मुख नहीं है—सही भी है और नहीं भी। सही इसलिए कि वह काव्य का लक्ष्य चर्वणा या आस्वादमात्र मानता है और नहीं भी—इसलिए कि आस्वाद-उत्पादक-अवयव **समाज-निर्धारित-औचित्य** (मूल्य) गर्भित होते ही हैं—अन्यथा 'आस्वाद' की निष्पत्ति ही न हो सकेगी। तभी तो आनंदवर्धन ने कहा—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्यकारणम् ।
औचित्योपनिबंधस्तु रसस्योपनिषत् परा ।।

यह औचित्य सामाजिक मूल्य ही है जिसे रससिद्धांती काव्येतर मूल्य कह दिया करते हैं—वस्तुतः यह पक्षपाती उदग्र दृष्टि की परिणति है। औचित्य या मूल्य वह तत्त्व है जो जीवन और काव्य के भेद को समाप्त करता है। वह काव्येतर होकर भी काव्य की है—यदि ठीक ढंग से सोचा जाए। निष्कर्ष यह कि भारतीय काव्यशास्त्र-काव्यानुशासन काव्य का रसात्मक प्रतिमान—सब-कुछ है, अर्थात् प्रतिमान भी, आस्वाद प्रक्रिया भी और आस्वाद भी साथ ही। 'बाई-प्राडक्ट' के रूप में मूल्यांकन कर तथा स्वयं संश्लिष्ट होने से मान में शाश्वत क्षम और काव्य के साथ-साथ चलने में समर्थ। निस्संदेह यह बड़ा ही समर्थ प्रतिमान है। वर्तमान जीवन और जगत् में उन तमाम औचित्य-नियामक मूल्यों का विघटन चल रहा है जिन्हें रस-निष्पत्ति के लिए अनिवार्य समझा जाता है। इसलिए अनुरूप सामग्री की योजना ही सम्भव नहीं है। मनुष्य ने, उसके द्वारा निर्मित समाज ने अपनी सुदीर्घ यात्रा में जिन मानवीय मूल्यों को अर्जित किया है वे टूट रहे हैं। मेरा विश्वास तो यह है कि वे टूट नहीं रहे हैं वरन् पुनः प्राणार्जन की आन्तरालिक प्रक्रिया में हैं। यदि जीवन, जगत् और कविता में कोई सर्जनात्मक शक्ति है तो उसकी सार्थकता, उसके अस्तित्व का प्रमाण इसी में है कि संघटन और विघटन उभयविध प्रक्रिया में निर्माण की ओर ही अग्रसर हों। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी प्रश्न किया है कि विद्रोह और संघर्ष किसके प्रति ? जिस डाली पर मानव और समाज बैठा है—उसी के प्रति ?

जो भी हो—सवाल यह है कि जो प्रवृत्ति छायावाद के अनन्तर हिन्दी साहित्य में अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित हुई है—उसको व्याख्यायित करने में, उसके सौन्दर्य-परीक्षण में, उसको समझने-समझाने में भारतीय काव्यशास्त्र कहाँ तक समर्थ है ? सवाल इतना ही नहीं है बल्कि यह भी है कि भारतीय प्रतिमानों में ऐसी संभावनाएँ भी हैं क्या—जिन्हें छायावादोत्तर नई काव्यधारा को व्याख्यायित करने में उपयुक्त किया जा सकता है ? 'भाषा और संवेदनाकार' ने तो स्पष्ट घोषणा कर दी है कि नई काव्यधारा के सौन्दर्य-विश्लेषण में प्राचीन भारतीय प्रतिमान अक्षम हैं—उनमें अब ऐसी कोई संभावना भी नहीं शेष है जिसे नई काव्यधारा के सन्दर्भ में उघाड़ा जा सके। भारतीय काव्यशास्त्र से अपरिचित ऐसे तमाम काव्यचिंतक हैं जिनके उद्धरण इस संदर्भ में प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

छायावादोत्तर काव्यप्रवृत्तियों और उसके आलोचकों की बात तो विचारणीय है ही—एक समय था जब स्वच्छन्दतावादी या छायावाद के समीक्षक ही यह कहने लग गये थे कि काव्य के उस रूप के सौन्दर्य-परीक्षण में पुरातन भारतीय प्रतिमान अपर्याप्त हो गये हैं। परन्तु ज्यों-ज्यों छायावादी आस्वाद और भारतीय प्रतिमान (रस-ध्वनि) नजदीक आते गये—त्यों-त्यों उनका अजनबीपन मिटता गया। एक तरफ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी 'भावनिरूपण के पद्धतिबद्ध रूप' को हेय बताते हुए भी युगोचित परिष्कार के साथ 'रस' को काव्य की निर्विवाद आत्मा घोषित करते हैं और दूसरी ओर प्रसादजी 'छाया या प्रतीयमान' अर्थ को काव्य का सर्वस्व कहते हैं। उक्त स्थापनाओं द्वारा इन कवि और आलोचकों ने भारतीय प्रतिमानों में निहित संभावनाओं को देखा है और उसे छायावादी साहित्य के लिए भी उपयोगी माना है। स्वच्छन्दतावादी साहित्य के विषय में कतिपय चिन्तकों की यह धारणा भी थी कि इस साहित्य से अभि-व्यक्त सौन्दर्य का संवेदन काव्यगत विषय से आगे बढ़कर कवि की अन्तरात्मा के साक्षात्कार से संभव है। (क्योंकि ये लोग सौन्दर्य को आत्मनिष्ठ मानते हैं) जबकि रस का ग्रहण काव्यगत विषय (विभावादि) से ही हो जाता है, अतः रस-वादी प्रतिमान की बात फिर भी निरर्थक है। वस्तुतः यह आक्षेप रस के मध्यकालीन माध्यम-प्रधान अथवा ढाँचा-बद्ध विजड़ित रूप को ध्यान में रखकर किया गया है—न कि आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त की मूल धारणा को समझकर। आनन्दवर्धन की रसविषयक धारणा पर्याप्त संभावनाओं से संवलित है। उन्होंने तो रस को ऐसी अनुकूल मनोवृत्ति या चित्तदशा माना है जो काव्यवर्णित वस्तु या स्थितियों से उत्पन्न होती है—साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि ग्राहक काव्य विषय का ग्रहण करता हुआ रसावेश में कवि की प्रतिभा का भी साक्षात्कार कर लेता है। इसी प्रकार प्रगतिवादी भी पहले 'रस' से मुँह बिचकाते थे, किन्तु अन्ततः उन लोगों ने भी यह स्वीकार किया कि यदि रस को विजड़ित कर देने वाले जाल को हटा दिया जाये तो रसवादी सरणि उन लोगों के बहुत काम की है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

079562

'नई कविता' के मर्मज्ञों ने इसकी मूल प्रेरक वृत्ति को ग़ैर-रोमांटिक कहा और अपनी सर्जनात्मकता में कविता को अपरिभाषेय माना। बताया यह भी कि 'कविता क्या है'—यह समझने के लिए कविता क्या नहीं है—यह समझना होगा। इसी सन्दर्भ में यह कहा गया कि '**कविता में भावावेग या रोमांटिक मनःस्थिति का होना अनिवार्य नहीं**'। छायावाद और प्रगतिवाद—उभयत्र भावावेग की संस्थिति मानी गई—एक का अवलंबन प्रकृति या नारी और दूसरे का धुएँ में सना मजदूर। फलतः रसात्मक प्रतिमान या अनुभावन की समस्या यहाँ तक कोई समस्या नहीं थी। समस्या वहाँ से आरम्भ हुई जहाँ काव्य सम्बन्धी पुरानी धारणाओं—छन्द, भावावेग आदि—को निषिद्ध मानकर भी कविता या सर्जनात्मकता की चुनौती का निर्वाह किया जाने लगा—जहाँ सर्जनशीलता के नये आयाम उद्‌घाटित किये गये—इसे भाषिक सर्जनात्मकता कहा गया।

इस प्रकार 'नयी कविता' में प्रायः समस्त पुरातन धारणाओं, कलात्मक उपकरणों तथा क्रमागत जीवन-मूल्यों के विरुद्ध विद्रोह और प्रस्थान की बात इस आशा से की गई कि काव्योचित सर्जनात्मकता या नवता के अंकुरित होने योग्य भूमियाँ और भी हैं—उनकी ओर भी दृष्टिपात होना चाहिए। कहा तो यह भी गया है कि 'नयी काव्यधारा' में जिस अनुभूति ने अभिव्यक्ति पाई है उसकी बुनावट और बनावट अपनी गुणात्मक विशेषताओं में भिन्न हो गई है और उसका कारण तेजी से होने वाले जीवनगत गुणात्मक परिवर्तन हैं। इस प्रकार ऊपर-ऊपर से विचार करने वालों ने यह स्थिर कर दिया है कि प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र या उसके द्वारा निरूपित काव्य प्रतिमान जिस 'लक्ष्य' को सामने रखकर बने थे—वह लक्ष्य अब अपनी समस्त विशेषताओं के साथ निःशेष हो चुका है। आज का 'नया कवि' अथवा 'युवा-कवि' जो कुछ दे रहा है, उसके लिए भारतीय प्रतिमानों में कोई सम्भावना शेष नहीं है। आज सामान्य, समाहिति, सामंजस्य और संश्लेष की जगह विशेष, व्यक्ति, बिखराव, द्वन्द्व और खण्ड-खण्ड की स्थितियाँ हैं। इस स्थिति में भारतीय काव्यशास्त्र को 'नयी काव्यधारा' के मूल्यांकन में या तो निःशेष मान लिया जाए अथवा उसकी नई व्याख्या द्वारा शेष सम्भावना स्पष्ट की जाय।

इसके पूर्व कि उक्त दोनों विकल्पों में से किसी एक की नयी काव्यधारा के संदर्भ में पुष्टि करें—एक बार पुनः देख लें कि ग्राह्य काव्य-धारा में भाव या भावना, सामान्य या व्यापकता और सामञ्जस्य या सौंदर्य की वृत्ति कहीं शेष है या नहीं। साथ ही यह भी देखें कि आस्ति और नास्ति पक्ष वाली रचनाओं में किसे इस धारा की चरम उपलब्धि स्वीकार किया गया है? प्रतिमान का निकष चरम उपलब्धि की रचनाएँ ही मानी जानी चाहिए। उन्हीं से प्रतिमान निकाले भी जाने चाहिए।

डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने ग़ैर-रोमाण्टिक काव्य की सम्भावनाओं पर विचार करते हुए कहा है कि कविता के लिए भावावेग अनिवार्य नहीं हैं। मतलब भावावेग निषिद्ध भी नहीं हैं। स्वयं अज्ञेय में भावावेग की स्थितियाँ मिलती हैं और इन स्थितियों में उत्तम रचनाएँ भी आई हैं। साथ ही यह भी लक्षित करने की बात है कि भावगत आवेग का निषेध हुआ—सामान्य भावबोध का नहीं—ताकि अनाविष्ट दशा का यथार्थ भी अभिव्यक्ति पा सके। भावबोध या रागात्मकता की स्वीकृति के साथ-साथ इस बात पर बल अवश्य दिया कि उन्हें उभारने वाले जटिल-जटिलतर रागात्मक सम्बन्धों को अधिक प्रकाश में लाया जाय। इसीलिए अज्ञेय प्रभृति लक्ष्यकारों का कहना है कि नई काव्यधारा में राग की जगह रागात्मक सम्बन्धों ने महत्त्व पा लिया है। कविता इसीलिए आज पहले की तुलना में जटिल-जटिलतर हो रही है क्योंकि सम्बन्ध वैसे हो गये हैं। पुरानी कविता जहाँ भीतर (भाव) से बाहर (रूप) की ओर आती थी, नयी कविता बाहर (जटिल संबंधों) से भीतर (भाव) की ओर आ रही है। भोगे हुए जीवन से उपलब्ध राग या भाव को उसकी प्रामाणिक यथार्थता में चित्रित करने के लिए यह प्रयत्न अवश्य हुआ है कि उसे न तो गलदश्रुभावुकता से रँगा जाय और न तो ओढ़ी हुई आइडियोलाजी से विकृत किया जाय। नई कविता की दिशा में दिखाई पड़ने वाली कतिपय शिथिलताओं की प्रतिक्रिया में युवा-कवि अपने आक्रोश और अनौपचारिक अभिव्यक्ति में आगे बढ़े और 'अकविता' या 'कवितांतर' तक पहुँच गये। दूसरी ओर नयी कविता में जिस भावुकता या भावना का स्वर दबे-मुंदे ढंग से रिस रहा था—नवगीत में वह समस्त युगानुरूप कलात्मक उपकरणों के साथ अपना स्वतंत्र प्रस्थान लेकर चला। नई कविता के भावात्मक और अ-भावात्मक प्रवृत्तियों के ये दो सीमान्तगामी शिखर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं—इनके बीच अन्यान्य प्रवृत्तियों की हरी-भरी घाटियाँ भी हैं।

युवा लेखन के विषय में मर्मज्ञों की विविध धारणाएँ मिलती हैं। श्री ओमानन्द सारस्वत आदि की धारणा है कि युवालेखन में कतिपय कृतियाँ या कृतिकार ऐसे हैं जिनमें काव्य या कवि का अन्वेष्य 'सहज' उभरता हुआ लक्षित हो रहा है। 'क्ष त्र ज्ञ' के संपादक को डर है कि समकालीन जीवन संदर्भों और केन्द्रीय स्थितियों से सीधे साक्षात्कार की चुनौती को अप्रासंगिक करने पर युवालेखन कहीं सम्भावनाहीन एकरसता का शिकार न हो जाय। उनकी धारणा यह है कि आक्रोश और विद्रोह का बेमानीपन अब स्वतःसिद्ध हो चुका है, चूँकि किसी ठोस बुनियादी चिन्तन के अभाव में नाराज़ भंगिमाओं की कोई तर्क-संगति नहीं है।

इस प्रकार नई काव्य-प्रवृत्ति में युवालेखन की अभी इतनी समीपी प्रवृत्ति है कि उसकी वयस्कता परीक्षणीय है। इसकी ऊँचाई, गहराई तथा प्रसार और व्यापकता अभी कोई सुस्थिर रूप नहीं ग्रहण कर सके हैं। फलतः न तो इस पर कोई प्रतिमान लागू किया जा सकता है और न इससे कोई प्रतिमान गढ़ा जा सकता है। दूसरी बात यह कि उस विद्रोह और विरोध में संभावनाहीन एकरसता का भय होता है, जिसके मूल में किसी मूल्य के प्रति आस्था नहीं है। ऐसा आस्थाहीन संघर्ष क्षयी और शुष्क हो जाता है। जहाँ मूल्यान्वेषण का बीज भाव नहीं है—वहाँ का विद्रोह और संघर्ष सर्जनात्मक नहीं वरन् अराजक और विध्वंसक होता है। एक तरफ भारत के सामूहिक मन में व्यवसायी युग द्वारा दमित मूल्य-प्राण जातीय मनोवृत्ति का बाहर आने के लिए द्वन्द्व और संघर्ष तथा दूसरी ओर व्यवसायी और अवसरवादी बलवती शक्तियों से पराजित—फलतः आकार ग्रहण करने में असमर्थ—इस दलदल का युवालेखन अजीब फाँसी भोग रहा है। इस संघर्ष का सर्वाधिक प्राणवत्ता में भोग निराला और मुक्तिबोध ने किया था—उनकी रचना ही इसकी साक्षी है। इसीलिए नई काव्य-प्रवृत्तियों के मर्मज्ञों का निर्णय है कि मुक्तिबोध और उनकी रचनाएँ नई काव्यधारा की चरम उपलब्धि हैं।

क्या ही अच्छा हो कि इसी चरम उपलब्धि को केन्द्र में रखकर भारतीय काव्य-शास्त्र के प्रतिमानों की परीक्षा की जाय और देखा जाय कि वे अपने पूर्व-व्याख्यात रूप में ही यहाँ लागू हो सकते हैं अथवा नई व्याख्या के साथ? निराला से लेकर मुक्तिबोध तक 'राम की शक्ति पूजा', 'असाध्य वीणा' एवं 'आशंका के दीप : अँधेरे में' अथवा 'ब्रह्मराक्षस' को विभिन्न रुचियों के लोगों ने एकमत से कविता और उत्कृष्ट कविता कहा है। विचारणीय है कि इन्हें कविता या उत्कृष्ट कविता कहने का आधार क्या माना गया है? क्या इसलिए कि इनमें घुटन, त्रास, खंड, वैयक्तिकता, असौन्दर्य, असामंजस्य, असमाहिति, द्वन्द्व, बौद्धिकता, निर्मूल्य विद्रोह, संघर्ष और रुक्षता है? या कोई इनसे बड़ी चीज़ है? क्या ये रचनाएँ इसलिए उत्कृष्ट हैं कि इनमें कोई आकर्षण नहीं है—एक बार पढ़ने पर ये बासी लगने लगती हैं? क्या है इन रचनाओं में जो इन्हें निरन्तर नवता और ताज़गी दे रहा है?

काव्य के सम्बन्ध में विचार करने वाला प्रत्येक आलोचक इस बात से सहमत है कि काव्य और अनुभूति (या संवेदना) का सहज तथा अविच्छेद्य सम्बन्ध है। बहस और विवाद केवल इस बात पर है कि आज काव्य में अनुभूति और संवेदना का अनुपात क्या है? उसका नियोजन किस स्तर पर है—साथ ही उसकी बुनावट और बनावट कैसी है? विचारणीय यह है कि 'नई कविता' और 'युवाकविता' की केन्द्रीय वृत्ति क्या है—संवेदना या ज्ञान? यहाँ 'संवेदना' और 'अनुभूति' की चर्चा विशेषतः इसलिए की जा रही है कि 'रस' से उसका सीधा सम्बन्ध है। संवेदना और अनुभूति पहले भी काव्य में महत्त्वपूर्ण थी और आज भी अन्तर यह आ गया है कि जहाँ पहले रूप और व्यापार की योजना संवेदना, अनुभूति राग या भाव से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखती थी—आज वे सम्बन्ध जटिल-जटिलतर हो गये हैं। इसीलिए जो (राग) वस्तु काव्य में सदा से अविशेष नहीं है—वह तो अविशेष है ही—पर युगीन प्रभाव के रूप में आज महत्त्व पा गये हैं—ये जटिलतर रागात्मक सम्बन्ध। अद्यतन कविता में 'अनुभूति' के स्वरूप पर विचार करते हुए भी श्री विजयदेव नारायण साही एवं डॉ० नामवरसिंह तो उसे हीरे की संरचना से उपमित करते हैं—जहाँ संरचना ही संरचना है और कुछ है ही नहीं। यदि आज की उत्कृष्ट कविता में अनुभूति ही निखालिस है—किसी अन्य विजातीय द्रव्य का वहाँ मिश्रण ही नहीं है—तब तो 'रस' (अनुभूतिमात्र) के विपक्ष में कुछ कहने को मिलता ही नहीं। यदि 'अनुभूति' के स्वरूप के विषय में ही कोई गहरा मतभेद हो तो उसे स्पष्ट उभरकर आना चाहिए। जिस प्रकार 'रस' का विरोध करते हुए उसकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

029562
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वीकृति में अर्थवाद (व्याख्या) की अपेक्षा शर्त के रूप में प्रस्तुत की जाती है, वैसे ही मेरी भी जिज्ञासा है कि ये नव्य समीक्षक जिस 'अनुभूति' की बुनावट को हीरे की संरचना से उपमित करते हैं उसका भी विवरण और समन्वय व्याख्या के आधार पर दें तभी बात आगे बढ़ सकती है।

जब डॉ० नामवरसिंह उत्कृष्ट काव्य के प्रतिमान के रूप में अर्थवान् शब्द के माध्यम से आवयविक अखण्डता की बात करते हैं, मुक्तिबोध ज्ञानात्मक संवेदना और संवेदनात्मक ज्ञान की चर्चा चलाते हैं—ध्वनियों और चित्रों के साथ संवेदना प्रभाव के संवाद और आनुरूप्य पर बल देते हैं, गिरिजाकुमार माथुर संवेदना की कलात्मक अभिव्यक्ति को काव्य कहते हैं, काव्य के संदर्भ में भावपक्ष, बिम्बपक्ष और नादपक्ष के पारस्परिक सम्बन्ध की प्रत्याभिज्ञा को महत्त्व देते हैं, जब जगदीश गुप्त अनुभूति और अभिव्यक्ति की सच्चाई को ही काव्योचित 'नवता' का मूलमंत्र कहते हैं, जब अज्ञेय सर्जनात्मक शक्ति के अस्तित्व की पहचान एकांगिता की संभावना के निःशेष होने में स्वीकार करते हैं—जब 'पंत' आदि छायावादी झंकार में चित्र और चित्र में झंकार की समरसता को काव्य का निकष मानते हैं, तब सुदूरवर्ती भारतीय आचार्य—कुंतक, अभिनवगुप्त और आनंदवर्धन—का यह उद्घोष कि अलंकार और अलंकार्य की तात्त्विक भूमि पर अखण्डता, काव्योचित उपकरणों की परिवृत्यसहता, काव्य की सहज स्फूर्ति भी हमें निराश नहीं करते। अन्दर प्रविष्ट होकर सहानुभूति के साथ देखने पर ये सारे-के-सारे प्रतिमान काव्य के समस्त उपकरणों में एक सहजता की माँग पर केन्द्रित जान पड़ते हैं। भेद प्रतिमानों की मूल वृत्ति में नहीं है—युगोचित काव्यकृतियों के अनुरूप उनसे निर्गत अनुरूपों में है। ये उपरूप जड़ और विकृत हो सकते हैं—इन्हीं को मूल वृत्ति मानकर एक-दूसरे का खण्डन हो सकता है, पर यह सब स्वयं का अज्ञान है जो खाने खींचता है और कलह करवाता है। संदर्भ-सापेक्ष प्रतिमान भी प्रतिमान है, पर देखना यह है कि संदर्भ-सापेक्ष रश्मियों के विकरण की क्षमता प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र में है या नहीं—यदि नहीं तो नई व्याख्या की बात ही व्यर्थ है और हाँ तो अभी तो वे सम्भावनाएँ ही युगोचित रंगों में व्यक्त हो सकती हैं—नई व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि उन प्रतिमानों की मूलवृत्ति को परखा जाय और उसे सामयिक काव्य पर लागू किया जाय—उसके उपरूप निर्मित किये जाएँ।

भारतीय काव्यशास्त्र या कोई काव्यशास्त्र आलोचक का बौद्धिक प्रयास है। बुद्धि द्वारा ऐसे प्रतिमान का निर्माण है जो यथासम्भव काव्य के सौन्दर्य को अपरिणत प्रज्ञ जन तक भी पहुँचा दे। यदि सर्जनात्मक शक्ति बुद्धि से परे कोई क्षमता है तो बौद्धिक ढाँचों में काव्य का बहुत-कुछ आ जाने पर भी कुछ शेष रह ही जाएगा, इसीलिए इस भूमि तक पहुँचकर जो लोग मूल्यांकन, मानदण्ड और प्रतिमान पर प्रश्नवाचक चिह्न लगाना चाहते हैं—वे गलत नहीं हैं। बुद्धि और सर्जनात्मक अनुभूति—द्विविध शक्तियों का अर्ध-नारीश्वर मनुष्य एक तरफ अपने अथाह आत्माभिव्यंजन में स्वभावानुसार संतोष पाता है तो दूसरी ओर उसको बौद्धिक ढाँचों या खानों में बाँधने के प्रयास में भी; दोनों ही उसका स्वभाव हैं। तत्त्वतः जो भी सही हो—स्वभावतः दोनों चलते रहेंगे। अन्ततः प्रतिमान भी अपनी अखण्डता में उसी सहज और अथाह की ओर संकेत करके अपनी सीमा स्पष्ट करते हैं।

अभिप्राय यह कि बौद्धिक वैभव के प्रदर्शन का मानवीय स्वभाव शास्त्र-निर्माण की प्रेरणा देता है। काव्यशास्त्र का निर्माण करते हुए बुद्धि ने पहला खाना खींचा कथ्य और कथन सरणि का, वर्ण्य और वर्णना का। काव्य इन दोनों की अखण्ड स्थिति है फिर भी महत्त्व इसी वर्ण्य (अनुभूति) को दिया गया और कभी 'वर्णना' को। (संकल्पात्मक अनुभूति ही काव्य है, 'वर्णनाकाव्यमुच्यते')। 'वर्णनाकाव्यमुच्यते' की वर्तमान प्रतिध्वनि 'भाषिक सर्जनात्मकता' है। आनन्दवर्धन ने भी ध्वन्यालोक के चतुर्थ उद्योत में दो ऐसे उदाहरणों को लेकर जिनमें वर्ण्य एक है—फिर भी 'नवता' काव्य की आत्मा को लेकर, पूर्व पक्ष के रूप में उसका भार 'उक्ति वैचित्र्य' पर मढ़ा है। बाद में विचार किया है—"किमिद-मुक्तिवैचित्र्यम्? उक्तिर्हि वाच्यविशेषप्रतिपादिवचनम्। तद्-वैचित्र्ये कथनं वाच्यवैचित्र्यम्। वाच्यवाचकमोरविनाभावेन प्रवृत्तेः, वाच्यानां च काव्ये प्रतिभासमानानां यद्रूपं तत्तु ग्राह्याविशेषाभेदेनैव प्रतीयते तेनोक्तिवैचित्र्यवादिना वाच्य-वैचित्र्यमनिच्छताप्यवश्यमेवाभ्युगन्तव्यम्" अर्थात् यह उक्ति गत काव्योचित 'नवता' (भाषिक सर्जनात्मकता) है क्या? उक्ति वही न जो वाच्यविशेष का प्रतिपादन करने वाली वाणी होती है? तो फिर उक्तिवैचित्र्य का मतलब वाच्यवैचित्र्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं है ? क्या कभी वाच्यनिरपेक्ष वाचक की ओर वाचक-निरपेक्ष वाच्य की कल्पना संभव है ? एक-दूसरे का प्रयोग तो परस्पर सापेक्ष ही होता है। काव्य में वाच्य वस्तु और व्यापार जब बिंबात्मक रूप में ग्राहक की प्रतिभा पर प्रतिभासित होते हैं तब वैयक्तिक विशेषता को साथ लिये हुए। निष्कर्ष यह कि उक्तिवैचित्र्य या भाषिक सर्जनात्मकता की बात करने वाले को चाहे अनचाहे वाच्यवैचित्र्य या वाच्यगत काव्योचित नवता को स्वीकार करना ही पड़ेगा। निष्कर्ष यह कि सर्जना शक्तिजन्य काव्योचित 'नवता' काव्य के समूचे रूप से सम्बद्ध है—उसे काटकर देखना संगत नहीं है।

भारतीय काव्यशास्त्र या काव्य-प्रतिमान की बात करते हुए कहा यह जा रहा था कि बुद्धि कतिपय कल्पित खण्डों को लेकर विश्लेषणार्थ अग्रसर होती है—सर्जनात्मक अनुभूति अपने-आपमें आदि और अन्त में उसी प्रकार अखण्ड होती है जैसे धरती की क्षमता विशेषता (गंध) पुष्प के आदि और अन्त में (आदि में एक सर्जनात्मक शक्ति के रूप में और अंत में सौन्दर्य या गंध के रूप में)। विश्लेषण के लिए इस मध्यवर्ती रूप को खण्ड-खण्ड कर दिया जाता है। काव्य भी अपने आदि रूप में एक सर्जनात्मक क्षमता है और मुक्तिबोध के शब्दों में अन्ततः एक संश्लिष्ट सौन्दर्यानुभव। वे इस सौन्दर्यानुभव को जीवनानुभव द्वारा प्रदत्त मानते हैं। उन्होंने कहा है कि संवेदनात्मक उद्देश्य, विधायक कल्पना की क्रिया को चलित करते हैं। इन संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार जीवनानुभवों के तत्त्व कल्पना के संघटन विधानकारी हाथों से निराले और तरह-तरह के रूपों में प्रकट होते हैं। इस प्रकार जीवनानुभवों के तरह-तरह के पैटर्न कल्पना तैयार करती है, किन्तु उसकी क्रिया संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुशासन में रहती है। उनके अनुसार इस पूरी प्रक्रिया में सौन्दर्यानुभाव तब घटित होता है जब मनः पटल पर बिंबित कल्पनाओं, रूपों में डूबकर मन साधारण जीवन की अपनी निजबद्धता का परित्याग कर देता है···संक्षेप में तन्मयता और तटस्थता-निजबद्धता से मनःपटल पर अंकित बिंबों में अपने स्वयं की व्यस्तता-संलग्नता—इन दो द्वन्द्वों की एक मनोदशात्मक परिणति ही सौन्दर्यानुभाव है।···इसीलिए सौन्दर्यानुभव जीवन के सारस्वरूप का प्रगाढ़मार्मिक अनुभव है।" मुक्तिबोध को इतना लंबा सोद्देश्य उद्धरित किया गया है।

भारतीय काव्यशास्त्र ने भी एक **मनोदशात्मक परिणति विशेष** (चित्तवृत्तिविशेषा हि रसादयः न च तदस्ति वस्तु किंञ्चिदन्न चित्रवृत्तिविशेषमुपजनयति, तदनुरूपादनेवा कवि-विषयतैव तस्यन स्यात्) को ही काव्य का लक्ष्य कहा है। अन्तर वहाँ आ गया है जहाँ युगोचित रूप, व्यापार और मानवीय सम्बन्ध बदल गए हैं—अन्तर सामग्री का है। इसी सामग्री को कथ्य और कथन में बाँटकर भारतीय काव्यशास्त्र ने जिन प्रतिमानों (वस्तुपरक रस सिद्धान्त, कलापरक-अलंकार, रीति, वक्रोक्ति) की चर्चा की थी 'ध्वनिसिद्धान्त' ने सबको आत्मसात् कर एक स्वस्थ रूप दिया। ध्वनिसिद्धान्त अपनी समग्रता से एक सशक्त काव्य प्रतिमान है—और खण्डता में—वस्तुसिद्धान्त (रस ध्वनि) और कलासिद्धान्त (वस्तु ध्वनि अलंकार ध्वनि)। इसीलिए ध्वन्यालोककार ने कहा है कि अभ्यास काल, पुनः प्राणार्जन काल या संक्रान्तिकाल में कविता चाहे जैसी हो किन्तु 'प्राप्तपरिणतीनां तु ध्वनिरवकाव्यमितिस्थितमेतत्" अर्थात् अभ्यासार्थियों के काव्य को आप चाहे जो कहें—पर परिणतावस्था में तो जो काव्य होता है, वह 'ध्वनि' ही है—ध्वनिकाव्य ही है।

ऊपर जिन तीन आधुनिक उत्कृष्ट रचनाओं की बात कही गई है उस पर भारतीय काव्यशास्त्र अर्थात् ध्वन्यात्मक प्रतिमान पूरे तौर पर लागू होता है। कविता वही **उत्कृष्ट होती है जो अभिव्यक्तिगत सहजता से हर समय के लोगों के संवेदना तंतुओं को स्पंदित कर सके (जिनके तंतु मर चुके हों उनकी बात अलग है) अथवा हर युग के अनुरूप, प्रत्येक परिवेश के अनुरूप व्याख्या की संभावनाएँ अपने भीतर रखे**। इन तीनों परिणत कविताओं में ये दोनों शर्तें मिलती हैं जो ध्वन्यात्मक प्रतिमान में निहित हैं। ध्वन्यालोककार ने ही कहा है कि महाकवि वह है जिसके शब्दों की झंकार हर युग वाले को अनुरूप सुनाई दे और पुनः-पुनः तन्मयकारिता पैदा कर सके। 'निराला' की 'राम की शक्ति पूजा', 'अज्ञेय' की 'असाध्य वीणा' और मुक्तिबोध की 'ब्रह्मराक्षस' या 'आशंका के दीप अँधेरे में'—इन सबमें दोनों बातें लागू होती हैं। 'राम की शक्ति पूजा' में राम के साथ तादात्म्य अनुभव करता हुआ पाठक बार-बार करुणा से भर उठता है। राम के आँसू के साथ-साथ पाठक के आँसू ढुलक पड़ते हैं। ब्रह्मराक्षस में कुबेरनाथ राय ने रसबोधक तत्त्वों का अस्तित्व देखा है जिनके कारण उन्हें (या किसी को)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुक्तिबोध की रचनाएँ बासी नहीं [illegible] 'असाध्य वीणा' में भी कोई ऐसी चीज़ है जो उसे कोरी दार्शनिक स्थापना होने से बचाती है। व्यक्तित्व विलयन अथवा समर्पण जो रस सिद्धान्त की एक शर्त है—वह 'असाध्य वीणा' की रीढ़ है। निष्कर्ष यह कि जहाँ एक ओर इन कविताओं में मानवीय संवेदन तंतुओं को स्पंदित कर अपने को निरन्तर ताज़ी बनाये रखने की क्षमता है—वहाँ बदलते हुए परिवेशों के अनुरूप नई 'वस्तु' झंकृत करने की भी क्षमता है। 'राम की शक्ति पूजा' में निराला का वैयक्तिक जीवन-संघर्ष तात्कालिक स्वातंत्र्य-संग्राम में विदेशी आसुरी शक्ति के समक्ष नैतिक शक्ति से जूझते हुए गांधी, मानस जगत् में निरन्तर चल रहे आसुरी और मानवी शक्ति का द्वन्द्व और संकल्प की अंततः विजय अथवा सार्वभौम भूमिका पर चल रहे निरन्तर सत् और असत् का संघर्ष—कुछ भी बदलते परिवेशों के अनुरूप वस्तुध्वनि निकाली जा सकती है। इसी प्रकार 'असाध्य वीणा' से भी काव्यात्मक सर्जना के माध्यम से शाश्वत विराट् सर्जना की रहस्यमयी प्रक्रिया का संकेत झंकृत है। 'ब्रह्मराक्षस' में एक शाश्वत सत्य तो यही है जो सदा-सदा के लिए मनोविज्ञान-सिद्ध उतर सकता है कि जातीय दमित वृत्तियाँ दोहरी यातना भोगती हैं—एक तरफ अकालग्रस्त जातीय सात्विक वृत्तियों का भारतीय ब्रह्मराक्षस मन की बावली में निवास करता है और दूसरी ओर उसके बाहर आती आवाज़ें साम्प्रतिक व्यवसायवादी वृत्ति से दबा दी जाती हैं। इस वस्तु ध्वनि के अतिरिक्त अन्य प्रकार की ध्वनियाँ भी यहाँ संभावित हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि वस्तुपक्ष और कलापक्ष—दोनों को आत्मसात् करता हुआ तात्विक भूमिका का संकेतक ध्वनिसिद्धान्त आज भी अपने मूलरूप में ज्यों-का-त्यों प्रतिमान के रूप में ग्राह्य है। हाँ, तात्कालिक लक्ष्यों को देखकर जो खाने और ढाँचे तात्कालिक विवेचकों ने अवान्तर उपभेद के रूप में कहे हैं—उन्हें यथासंभव मानकर या लाँघकर नये उपरूपों की रचना का दायित्व आज के स्वस्थ समीक्षक पर है। अभिप्राय यह कि भारतीय साहित्य शास्त्र की मूल वृत्ति तो आज भी यथावत् ग्राह्य है—उपरूप नये हो सकते हैं।

[illegible] और लक्षणा की बात कही गई है—उन्हें व्यंजनामुखी कर दिया गया है और व्यंजना के ग्रहण की सामर्थ्य अंततः प्रतिभा पर छोड़कर उसकी संभावनाओं का द्वार उन्मुक्त रखा गया है। कहा है—

"···प्रतिभाजुवाम् योऽन्योर्थो व्यज्यते यत्र
व्यापारो व्यतिरेव सा।"

भारतीय काव्यशास्त्र में 'प्रतिभा' को अनन्त सिद्ध करने के लिए ही ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना कर रखी है। कहा जाता है कि ग़ैर रोमांटिक 'नई कविता' अथवा 'युवालेखन' का मूल्यांकन छायावादी छद्म संस्कारों से मुक्त समझदार ही कर सकते हैं। ऐसे छद्म संस्कारों से आक्रान्त भावुक सहृदय नई कविता का मूल्यांकन नहीं, अवमूल्यन कर बैठते हैं। ऐसे लोगों को छायावादी रोमानियत और सौन्दर्यबोध तथा आइडियालाजी के अवशेष ही आकृष्ट करते हैं, नई धारा के प्रासाद नहीं। इसीलिए मैंने प्रतिमानों पर विचार करने के लिए कविता (चरम उपलब्धि) चुनी है—छायावादी या किसी वाद से आक्रान्त रचना नहीं।

मुक्तिबोध का 'अँधेरे में' युग के यथार्थ की परिणति है। इसमें छायावाद और नई कविता में उपलब्ध रोमानियत की संगीतात्मक परिणति का निषेध है। संगीत के हट जाने से उत्पन्न शून्यता को तनाव से भरा गया है। यह तनाव ही है जिसके कारण यह कविता गद्य नहीं हो सकी है। इसकी इन्हीं विशेषताओं ने इस कविता को नई कविता की चरम उपलब्धि और युवा कविता का संदर्भ ग्रन्थ बना दिया है। जिस प्रकार 'ब्रह्मराक्षस' का नायक भारतीय जातीय दमित वृत्ति है, इसी प्रकार इसका काव्य नायक श्रीकान्त वर्मा के शब्दों में "बेचैन, खण्डित, जर्जर, व्यग्र, स्वाधीनता के बाद का हिन्दुस्तान है जिसका शरीर और मन क्षत-विक्षत है। उसके चेहरे पर इतिहास की झुर्रियाँ, सीने पर गोली के घाव और अंतरात्मा में बेचैनी है। इस कविता की बनावट के ज़रिए अपने युग की मानसिक बुनावट का आभास दिया गया है। वह कविता मनुष्य के आत्मसंहार का भयानक और आक्रामक चित्र है।" मुक्तिबोध का दावा है कि यथार्थ अपनी कलात्मक परिणति में फैंटेसी बन जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविकर्म : सौन्दर्य का उत्स

विजेन्द्रनारायण सिंह

आधुनिक आलोचना के प्रसंग में यह भी विचारणीय है कि कविता में कवि के प्रच्छन्न व्यक्तित्व का क्या स्थान है। संस्कृत का काव्यशास्त्र समग्र सौन्दर्यशास्त्र में इसलिए भी विकसित नहीं हो सका कि उसने कवि-व्यक्तित्व के उस पक्ष पर विचार नहीं किया जिससे कविता में कवि के आभ्यन्तरिक संस्कार की खुशबू रहती है। नई समीक्षा का यह अति स्वीकृत मत है कि प्रत्येक अच्छी और मौलिक रचना अपने-आप में पूर्ण एक नया संसार है और उसकी परीक्षा के लिए नये नियमों की खोज उसी रचना में करनी पड़ती है। यदि विज्ञान का कोई नियम सुन्दर है तो इसका तात्पर्य यह होता है कि यदि कोई दूसरा वैज्ञानिक भी उस खोज में लगा होता तो परिणाम वही आता। यह वस्तुगत वैज्ञानिक तथ्य कविता पर लागू नहीं होता। यदि कोई कविता सुन्दर है तो इसका मतलब यह है कि उसी विषय पर यदि कोई दूसरा कवि लिखता तो कविता भिन्न हो जाती। इसलिए 'रामचरितमानस' वाल्मीकि की 'रामायण' से भिन्न रचना है और ताजमहल पर रवीन्द्रनाथ और पन्त की कविताओं में तात्त्विक अन्तर है। प्रत्येक कवि वस्तु के सौन्दर्य का भावन अपने ढंग से करता है और वस्तुवक्रता के नए-नए आयामों का उद्घाटन होता चलता है। संक्षेप में, 'कविता कवि के आन्तरिक व्यक्तित्व का प्रस्वेद' होती है।

संस्कृत काव्यशास्त्र इस बात की सन्तोषप्रद व्याख्या नहीं कर पाता है क्योंकि एक कवि की रचना दूसरे कवि की रचना से भिन्न होती है। यदि किसी भी रचना में गुणों एवं अलंकारों का उचित सन्निवेश और व्यंजना की शक्ति है तो वह उसे काव्य मान लेता है। आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' के प्रारम्भ में ही ध्वनि के जो उदाहरण दिए हैं उन्हें आज का समीक्षक ऊँची कविता का उदाहरण स्वीकार नहीं करेगा। इन आचार्यों ने इस समस्या पर सोचने का कष्ट ही नहीं किया कि वह कौन-सी चीज़ है जिससे 'रघुवंश' और 'नैषध' जैसे ग्रन्थ एक ही कोटि की रचना नहीं हो पाए। अभिव्यंजना के बहिरंग उपादानों के वर्गीकरण में संस्कृत के आचार्य इस कदर भिड़े रहे कि कविकर्म के इस पक्ष की ओर उनका ध्यान ही नहीं गया। संस्कृत काव्यशास्त्र का यह एक बड़ा अभाव है और इसका परिणाम यह हुआ कि कई बातें अविवेचित ही रह गईं।

कुन्तक से पहले के आलंकारिकों ने यह तो बतलाया था कि गुण और अलंकार काव्यशोभा के विधायक हैं लेकिन उन्होंने इस मौलिक प्रश्न को समझा ही नहीं था कि काव्य में वे किस वस्तु में शोभा का विधायन करते हैं। वे इस बात का अनुभव नहीं कर सके कि गुण और अलंकार सापेक्षिक शब्द हैं, वे गुणी और अलंकार्य की अपेक्षा रखते हैं। हालाँकि वामन गुण और अलंकार से परे किसी चीज़ की अपेक्षा कर रहे थे जिसे उन्होंने रीति की संज्ञा दी है, किन्तु आनन्दवर्धन ने उनकी उचित ही आलोचना की है कि रीतिवादियों ने काव्य की आत्मा का स्पष्ट रूप से साक्षात्कार किया ही नहीं था। देश के आधार पर वैदर्भी, गौडी और पांचाली आदि वर्गीकरण की निस्सारता कुन्तक ने उचित ही प्रमाणित की। उन्होंने पहली बार यह स्पष्ट किया कि रीति, गुण और अलंकार की धारणा कविकौशल से युक्त होकर ही औचित्य प्राप्त करती है।

रस-ध्वनिवादियों ने इस समस्या पर कवि नहीं बल्कि केवल सहृदय की दृष्टि से विचार किया है। यों, यह बात तो ठीक ही है कि कविपक्ष और सहृदय पक्ष में परस्पर कोई विरोध नहीं है। किन्तु विचार करने की प्रक्रिया में रसवादियों ने सामान्यतया कविपक्ष पर विचार नहीं किया है। लेकिन ऐसा लगता है कि काव्य में विभाव-पक्ष के द्वारा उन्होंने कविकर्म का संकेत किया है। तो भी यह सच है कि उन्होंने इस पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वतन्त्र रूप से विचार नहीं किया है। इसी तरह काव्य-प्रयोजन पर भी इन आचार्यों ने जो विचार किया है उससे भी यह प्रमाणित होता है कि वे समस्या के वास्तविक पहलू से कतरा रहे थे। कवि कविता इसलिए नहीं लिखता है कि उससे यश, अर्थ, व्यवहारकुशलता अथवा मंगल की प्राप्ति होती है। ये सब तो रचना के आनुषंगिक परिणाम हैं। कवि रचना इसलिए करता है कि उसके भीतर कोई चीज़ होती है जिसे सम्प्रेषित करने के लिए वह कुलबुलाया करता है। एक कवि जब रचना की पीड़ा से बेचैन हो जाता है तब वह रचे बिना रह ही नहीं पाता है। उस समय वह अर्थ या यश की एषणा से नहीं प्रत्युत् केवल सृजन की पीड़ा से रचता है।

यही त्रुटि काव्यहेतु—शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास के सिद्धान्त में भी दीखती है। शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास को सभी आचार्यों ने काव्य का हेतु माना था, किन्तु किसी ने भी कवि के व्यक्तित्व के संदर्भ में उसे देखने की कोशिश नहीं की। यह सही है कि कवि जब रचता है तब उसकी तरह-तरह की अनुभूतियाँ, उसके संस्कार, उसके अध्ययन आदि उसकी रचना के उत्पादन बनकर उपस्थित होते हैं। इसलिए रचना का रूप-रंग ग्रहण करने में उनका योग अवश्य है। अतएव ये आचार्य जब यह कहते हैं कि शक्ति के साथ व्युत्पत्ति और अभ्यास का भी योग होना चाहिए तब वे समस्या का सटीक विश्लेषण करते हैं। किन्तु कठिनाई वहाँ से शुरू हो जाती है जहाँ वे 'कवि को कवि बनाने' की बात करने लगते हैं। उदाहरण के लिए रुद्रट ने कविप्रतिभा को सहजा के साथ उत्पाद्या भी माना है। यह उत्पाद्या प्रतिभा व्युत्पत्ति द्वारा अर्जित होती है। इसी प्रकार यह अपेक्षा की गई कि कवि को सर्वज्ञ होना चाहिए। राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा' में रचना के स्रोतों में वेद, स्मृति, इतिहास, पुराण, मीमांसा और छह प्रकार का तर्कशास्त्र, अर्थशास्त्र, नाट्यशास्त्र और कामशास्त्र, लोकवृत्त, अन्य कवियों की रचनाएँ, चौंसठ कलाएँ आदि का उल्लेख किया है। इतना ही नहीं, उसे आयुर्वेद, ज्योतिष, वनस्पतिशास्त्र, अश्वगज लक्षण आदि में भी पारंगत होना चाहिए। आलंकारिकों का एक ऐसा भी वर्ग है जो कविशिक्षा को ही मुख्य बना लेता है। राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' काव्यशास्त्र से अधिक कविशिक्षा का ही ग्रंथ है। उसी प्रकार क्षेमेन्द्र ने भी 'कविकण्ठाभरण' में कविशिक्षा पर ही अधिक विचार किया है। वस्तुतः काव्यशास्त्र में यह दोष संस्कृत के उत्तरकालीन व्याकरण ग्रन्थों से संक्रमित हुआ है। अवश्य ही ऐसे विश्लेषणों और वर्गीकरणों का वैदुष्य के क्षेत्र में अपना महत्त्व और उपयोगिता है। किन्तु सम्प्रति हम यही कहना चाहते हैं कि इन आचार्यों ने कविकर्म के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पक्ष की उपेक्षा कर दी है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में कुन्तक का महत्त्व इसलिए भी है कि उन्होंने काव्य में कवि के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की। उनके एतद्विषयक मत को स्पष्ट करते हुए रुय्यक ने लिखा है—**'व्यापारप्राधान्यं च काव्यस्य प्रतिपेदे।'**[1] कुन्तक कविकर्म को ही काव्य मानते हैं: **'कवेः कर्म काव्यं।'**[2] उन्होंने 'यह उद्‌भावना की कि शक्ति और शक्तिमान दो नहीं, एक हैं। कवि की शक्ति उसके आन्तरिक व्यक्तित्व से उत्पन्न होती है। कविता और कुछ नहीं, कवि का कर्म है अर्थात् कविता उसके आन्तरिक व्यक्तित्व का प्रस्वेद है, उसकी आत्मा का रंग है, उसके संस्कारों की खुशबू है। कवि की शक्ति उसके स्वभाव से उत्पन्न होती है, कवि की व्युत्पत्ति उसके संस्कार से आती है तथा कवि का अभ्यास उसकी अपनी प्रकृति के अनुसार चलता है।"[3] इस प्रकार कुन्तक सौन्दर्य को वस्तुगत नहीं मानकर आत्मगत मानते हैं।

काव्य को कवि का कर्म मानना सौन्दर्यानुभूति के मूल स्रोत ही इंगित कर देना है। इस प्रकार कुन्तक की ओर भारतीय काव्यशास्त्र में चिन्तन की एक नई पद्धति का प्रवर्त्तन करते हैं। अपने 'जीवित' में वह जगह-जगह कविव्यापार की महिमा का व्याख्यान करते हैं। यथा:

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।

—हि० वक्रो० ॥७॥

फिर प्रथम उन्मेष की १४-१५वीं कारिकाओं की वृत्ति में वह लिखते हैं कि सब प्रकार से किसी भी पदार्थ के कवि-व्यापार के विषय रूप से वर्णनीयता को प्राप्त होने पर उसका सहृदयाह्लादकारी स्वभाव ही काव्य के शरीर रूप में वर्णनीयता को प्राप्त होता है। इसी बात की आवृत्ति वे प्रथम उन्मेष की सत्रहवीं कारिका की वृत्ति में करते हैं कि सारे वाङ्मय के प्राणभूत 'साहित्य' रूप कविव्यापार का ही वस्तुतः सबसे अधिक महत्त्व है। कारिका १८ की वृत्ति में वह कहते हैं कि कवियों का व्यापार ही कवि व्यापार है। कारिका २२ के 'व्यापारशाली वाक्यस्य' के व्यापार की व्याख्या करते हुए वह वृत्ति में लिखते हैं कि व्यापार यहाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तुत रचना रूप है: 'व्यापारोऽत्र प्रस्तुत काव्यक्रिया-लक्षणः।'

इस प्रकार कुन्तक की दृष्टि में काव्य में व्यापार की प्रधानता ही नहीं रहती है प्रत्युत् रचना ही कवि का व्यापार है।

यह कविकर्म या व्यापार ही मुख्य है। यह सभी सौंदर्य का मूल स्रोत है। इसके बिना काव्य वैचित्र्य या रमणीयता प्राप्त नहीं करता है। कुन्तक तीसरे उन्मेष की चौथी कारिका की वृत्ति में इस कविव्यापार की महिमा पर पूरा प्रकाश डालते हैं। उनके अनुसार रस, स्वभाव तथा अलंकार सबका कविकौशल ही प्राणभूत होता है। वह रस, स्वभाव तथा अलंकार तीनों में कवि व्यापार के चमत्कार का उदाहरण देकर अपने मंतव्य को स्पष्ट करते हैं। कविव्यापार की महत्ता को और भी स्पष्ट करने के लिए उन्होंने इसी कारिका के अन्त में दो अन्तरश्लोक भी दिये हैं। यथा—

वक्रतायाः प्रकाराणामौचित्यगुणशालिनाम्।
एतदुत्तेजनायातं स्वस्पन्दमहतामपि ॥२३॥

अर्थात् 'यह कविकौशल, अपने स्वाभाविक महत्त्व से युक्त और औचित्यशाली वक्रता के प्रकारों को भी उत्तेजित करने में समर्थ है।'

रसस्वभावालंकारा आसंसारमपि स्थिताः।
अनेन नवतां यान्ति तद्विदाह्लाददायिनीम् ॥२४॥

अर्थात् 'सृष्टि के आदि से स्थित रस, स्वभाव तथा अलंकार इस कविकौशल के द्वारा सहृदयों को आह्लाद देने वाली अपूर्वता को प्राप्त हो जाते हैं।' उनके शब्दों में अनगढ़ पत्थर के टुकड़े-सी मणि के समान, प्रतिभा से प्रतिभासमान वस्तु विदग्ध कविरचित वाक्य में उपारूढ़ होकर सान पर घिसे हुए मणि के समान मनोहर होकर सहृदयों के आह्लादकारित्व को प्राप्त करती है। कुन्तक का कहना है कि एक ही विषय में सावधान और असावधान कवि द्वारा रचित दो वाक्य प्रचुर भेद प्रदर्शित करते हैं। इस प्रकार वह कविप्रतिभा के अतिरिक्त एक स्वतंत्र कविव्यापार की उद्भावना करते हुए उससे काव्यसृष्टि संभावित मानते हैं। उनका यह कवि-व्यापार ही सभी प्रकार की रमणीयता का उत्स है।

जिस कविव्यापार को कुन्तक ने इतना महत्त्व दिया उसका बीज 'काव्यकौतुक' के रचयिता भट्टतौत में मिलता है। कुन्तक और अभिनवगुप्त दोनों ने इसी स्रोत से प्रेरणा ग्रहण कर इसकी व्याख्या अपने-अपने ढंग से की। भट्टतौत का 'काव्यकौतुक' अब प्राप्य नहीं है। अभिनव ने अपनी 'भारती' में भट्टतौत को जितना उद्धृत किया है उतने से ही स्पष्ट रूप से पता चलता है कि वह काव्य में कविकर्म की महिमा स्वीकार करते थे (तस्य कर्म स्मृतंकाव्यम्)। निश्चय ही इस तत्त्व को कदाचित् उन्होंने ही पहली बार उजागर किया और कुन्तक ने यह चीज वहीं से ली है। भट्टतौत ने यह बतलाया है अभिनय को प्राप्त हुए बिना काव्य से आस्वाद संभव है। यह कैसे हो पाता है? इसका उत्तर देते हुए वह कहते हैं कि वर्णनशैली के विस्तार एवं प्रौढ़ता के कारण सुन्दर रूप से अंकित उद्यानकान्ता, चन्द्रमा आदि प्रत्यक्ष के समान स्पष्ट प्रतीत होते हैं।[४] उनका तात्पर्य यह है कविकौशल से काव्य अभिनय को प्राप्त हुए बिना भी आस्वाद्य हो जाता है।

हेमचन्द्र ने भट्टतौत का एक श्लोक उद्धृत किया है। उस श्लोक का तात्पर्य है कि जब किसी को केवल दृष्टि है, तब तक ऋषि मात्र है, वह कवि तभी हो पाता है जब वह उस दर्शन को सुन्दर भाषा में व्यक्त करे, यानी कवि में वर्णन की सामर्थ्य होनी चाहिए। वर्णन के इसी माहात्म्य के कारण महाकाव्यों और प्रबन्धकाव्यों का सृजन हुआ। लगता है कि वाल्मीकि को जब आदि कवि की संज्ञा दी गई तब वर्णन की इस महिमा की ओर कहने वालों का ध्यान रहा होगा। ऋग्वेद के द्रष्टा ऋषियों ने वर्णन को प्रधानता नहीं दी है। अपने दर्शन (विजन) को कुछ मंत्रों में बाँधकर ही वे छोड़ देते हैं। तो भी यह सच है कि वर्णन की शक्ति दर्शन से ही प्राप्त होती है। भट्टतौत का श्लोक यों है:

नानृषिः कविरित्युक्तं ऋषिश्च किल दर्शनात्।
विचित्रभावधर्मांशतत्त्वप्रख्या च दर्शनम्।
स तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः।
दर्शनात् वर्णनाच्चाथ रूढ़ा लोके कविश्रुतिः ॥[५]

डॉ० प्रकाशचन्द्र लाहिरी का मत है कि लक्षण और वक्रेक्ति दोनों सिद्धान्तों में कविव्यापार की अप्रतिम महिमा को देखते हुए भट्टतौत के प्रभाव को अस्वीकारा नहीं जा सकता है। उनके अनुसार कुन्तक ने भट्टतौत के कविव्यापार के सिद्धान्त से प्रेरणा ग्रहण कर उसका भामह की वक्रोक्ति से तालमेल बैठा दिया है। यद्यपि उन्होंने वक्रोक्ति-सिद्धान्त के द्वारा पुराणरीति का व्यतिक्रम किया था तथा अभिनव ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसे इसलिए नहीं अस्वीकारा कि इसका मुख्य तत्त्व उनके गुरु भट्टतौत से ही ग्रहण किया गया था।

अभिनवगुप्त के अनुसार बन्ध, गुम्फ, भणिति, वक्रोक्ति, कविव्यापार ये पर्याय हैं।[६] अभिनवगुप्त कहते हैं कि काव्य में शब्द और अर्थ का कोई स्निग्ध स्पर्श होता है जो लक्षणों में स्थित रहकर श्लेषादि गुणों को व्यक्त करने में दक्ष होता है। काव्यपक्ष में कविव्यापार भेद से गुणालंकार के लक्षणों का विभाग किया गया है।[७] भामह की कारिका 'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिः' पर विचार करते हुए अभिनव ने लिखा है कि परमार्थ में व्यापार ही लक्षण है जो विषय द्वारा विशेष लक्षण में कहा गया। इस प्रकार स्वीकार करने में अर्थ भी लक्षण है। उसी प्रकार निरन्तर अभ्यास में लगे रहने वाले तद्विदों का व्यापार भी क्योंकि वे जब वैसे काव्यात्मक विषय का अवलोकन करने लगते हैं तो झट से झलक जाता है। कुशल शिक्षित व्यापार तो काव्य की दृष्टि से झलकता ही है। काव्य में मुख्य है कविव्यापार। गुण और अलंकार तो उसके आश्रित होते हैं। अभिनवगुप्त कहते हैं कि यहाँ कोई अलंकार नहीं होता बल्कि कविव्यापार के साथ जो शब्द-व्यापार होता है उसी से अर्थ घटित होता है। यह अर्थ स्वयं हृदय हो जाता है। इस प्रकार अभिनवगुप्त भी व्यापार के महत्त्व को समग्रतः स्वीकारते हैं।

रुय्यक के 'अलंकारसर्वस्व' के टीकाकार समुद्रबन्ध के अनुसार विशिष्ट शब्द और अर्थ काव्य है। उन दोनों का वैशिष्ट्य धर्म-व्यापार और व्यंग्य द्वारा व्यक्त होता है। व्यापारमूलक वैशिष्ट्य भी दो प्रकार का होता है—भणिति वैचित्र्य (वक्रोक्ति) तथा भोगकृत्व। इस तरह व्यापार-मूलक वैशिष्ट्य प्रतिपादक दो सम्प्रदाय हो जाते हैं। एक वक्रोक्ति सम्प्रदाय है और दूसरा भोग सम्प्रदाय। इस भोग सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक भट्टनायक माने जाते हैं। भट्टनायक रसनिष्पत्ति में सहायक तीन व्यापारों का उल्लेख करते हैं—अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व। भरत के लक्षणों पर विचार करते हुए अभिनव भट्टनायक की पंक्तियों को उद्धृत करते हैं और इस व्यापार की समता वे भामह की वक्रोक्ति से बतलाते हैं। इस प्रकार अभिनवगुप्त के अनुसार भट्टनायक का व्यापार भामह की वक्रोक्ति का ही पर्याय है। भट्टनायक के व्यापार का रहस्य विन्यास-विशेष ही है। इसी को भामह ने वक्रोक्ति और राजशेखर ने केवल उक्ति कहा है।

यह भावकत्व ही वास्तविक कविकर्म है। यह गुणा-लंकारपरिग्रहात्मक ही होता है।[८] भट्टनायक बतलाते हैं कि निविड़ निजत्व का मोह तथा संकट आदि के निवारण में यह भावकत्व काव्य और नाटक में दो दिशाओं में कार्य करता है। काव्य में दोषाभाव, गुण और अलंकार रूप और नाटक में चतुर्विध अभिनय रूप ही भावकत्व अपना कार्य सम्पादित करता है।[९]

जब भट्टनायक नाटक में चतुर्विध अभिनय रूप भाव-कत्व के कार्य का उल्लेख करते हैं तब इसका अर्थ नहीं मान लेना चाहिए कि वह नाटक में काव्यवाले दोषाभाव, गुण तथा अलंकार रूप कार्य का निषेध कर रहे हैं। नाटक में भी यह होता है। अभिनय रूप कार्य तो दोषाभाव आदि के अति-रिक्त नाटक में सम्पादित होता है। यह श्रव्य काव्य की तुलना में दृश्य काव्य की अतिरिक्त विशेषता है। नाटक भी काव्य ही है, यह संस्कृत काव्यशास्त्र का सहज स्वीकृत मत है। इस प्रकार भावकत्व कवि का व्यापार है। कवि का यही व्यापार सहृदय के पक्ष में भोजकत्व व्यापार को सम्भव बनाता है। चूँकि इसकी सत्ता केवल काव्य-नाट्य में ही मिलती है इसलिए यह कवि का ही कर्तृत्व है।

यदि हम भावकत्व के अर्थ पर विचार करें तो इसी मत की पुष्टि होती है। आचार्य विश्वेश्वर ने इसका अर्थ किया है 'साधारणीकरण'। डा० नगेन्द्र ने लिखा है कि "मोनियर विलियम्स आदि के कोशों में 'भावन' के अनेक अर्थ मिलते हैं—उनमें से प्रसंग के अनुकूल दो-तीन ही हैं, यथा 'चिन्तन का विषय होना', 'कल्पना का विषय होना', 'व्यक्त होना' आदि। इनमें से दूसरा अर्थ अर्थात् 'कल्पना का विषय होना' भट्टनायक के भावकत्व व्यापार के सर्वथा निकट है। अतः आधुनिक शब्दावली में भावन का अर्थ है "कल्पनात्मक प्रतीति और स्थायीभाव के भावन का अर्थ है—भावकत्व व्यापार के फलस्वरूप रत्यादि की प्रत्यक्ष प्रतीति की कल्पनात्मक प्रतीति में परिणति।" डॉ० नगेन्द्र आगे लिखते हैं कि "भावकत्व व्यापार का कारण है, आधुनिक शब्दावली में कल्पनातत्त्व का समावेश और कार्य है कार्यसामग्री का साधा-रणीकरण।" आधुनिक समालोचना की भाषा में कल्पना तत्त्व का समावेश ही कवि का कर्तृत्व है।

डॉ० नगेन्द्र जब भट्टनायक के भावन व्यापार को कल्पना-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्त्व के रूप में व्याख्यायित करते हैं तब वह भारतीय काव्य-शास्त्र के पुनराख्यान में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान करते हैं। इस प्रकार भावकत्व सृजन व्यापार हो जाता है। कल्पना 'कल्पृ' धातु से व्युत्पन्न होने के कारण सृजन का बोधक है। भट्टनायक को आधुनिक समीक्षा की मुख्य चिंताधारा के साथ संयोजित करने में यह व्याख्या अत्यन्त सहायक सिद्ध होती है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने पहली बार यह लक्ष्य किया था कि कवि जब विभावानुभाव की योजना—यानी कविकर्म में प्रवृत्त होता है तब कल्पना उसकी सहायिका बनती है। 'काव्य में रहस्यवाद' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने लिखा है : "...जो लोग रस-पद्धति को जानते हैं, वे आधुनिक मनोविज्ञान द्वारा निरूपित भाव के स्वरूप से भी परिचित हैं। वह एक वृत्तिचक्र है, जिसके अन्तर्गत प्रत्यय, अनुभूति, इच्छा, गति या प्रकृति और शरीर-धर्म आते हैं। हमारे यहाँ रस-निष्पन्न करनेवाली भाव-पद्धति में ये सब अवयव रखे हुए हैं। विभावों और अनुभावों की प्रतिष्ठा कवि की कल्पना द्वारा ही होती है और श्रोता या पाठक भी उनकी मूर्ति या रूप का ग्रहण अच्छी कल्पना के बिना पूरा नहीं कर सकता। विभाव और अनुभाव कल्पनासाध्य हैं।" इस प्रकार स्पष्ट है कि काव्य में सम्पूर्ण विभाव और अनुभाव कल्पना द्वारा ही नियोजित होते हैं। शुक्लजी ने काव्य के उपादानों को कल्पना द्वारा अनुशासित माना है। उन्होंने कवि और सहृदय दोनों पक्षों पर विचार करते हुए कल्पना के दो मुख्य प्रकारों का निरूपण किया है। उन्होंने लिखा कि "विधान के लिए कवि में विधायक कल्पना अपेक्षित होती है और सम्यक् ग्रहण करने के लिए पाठक या श्रोता में ग्राहक कल्पना।"[१०] सच पूछिये तो भट्टनायक का भावन-व्यापार विधायक कल्पना है और भोजकत्व ग्राहक कल्पना। इन दोनों कल्पनाओं के कार्य की शुक्लजी बड़ी ही स्वच्छ मीमांसा करते हैं। उनके अनुसार "श्रोता या पाठक में सहृदयता या भावुकता अधिक अपेक्षित होती है, कल्पना-क्रिया कम। कवि की विधायक कल्पना रस की तैयार सामग्री उनके सामने रख देती है।" यही बात भट्टनायक की भाषा में इस प्रकार कही जाएगी कि भावकत्व भोजकत्व को सम्भव बनाता है। शुक्लजी मानते हैं कि भाव काव्य का मूल उपादान है। इसलिए इसके बिना काव्य का अस्तित्व सम्भव नहीं है। किन्तु भाव का जब तक कल्पना के साथ संयोग नहीं होता है तब तक काव्य सम्भव नहीं हो पाता। "जब भाव की उमंग ही कल्पना को प्रेरित करती है, तब कवि का मूल गुण भावुकता अर्थात् अनुभूति की तीव्रता है। कल्पना उसकी सहयोगिनी है। पर ऐसी सहयोगिनी है, जिसके बिना कवि अपनी अनुभूति को दूसरे तक पहुँचा ही नहीं सकता। अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाना ही कविकर्म है। अतः हम कह सकते हैं कि कल्पना और भावुकता कवि के लिए दोनों अनिवार्य हैं। भावुक जब कल्पना-सम्पन्न और भाषा पर अधिकार रखने वाला होता है, तभी कवि होता है।" इस प्रकार शुक्लजी ने कविकर्म के लिए भाव और कल्पना के समीकरण तथा भाषाधिकार को परमावश्यक माना है।

कविकर्म के सिद्धान्त की पुष्टि दोषों की विचिकित्सा से भी होती है। भरत ने दस गुणों और दस दोषों का उल्लेख किया है। ये गुण और दोष शब्द और अर्थ दोनों के होते हैं। दण्डी ने बतलाया है कि यद्यपि माधुर्य शब्द का गुण है तथापि वह रसवद् है। सानुप्रास होने से भी इसकी रसावहता बहुत बढ़ जाती है।[११] लेकिन अर्थ में रस-निषेध का भार अग्राम्यता ही ढोती है। इस प्रकार अर्थालोक से भी माधुर्य का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इसीसे सीधा यह प्रश्न उठता है कि दोष नित्य हैं अथवा अनित्य। दण्डी ने रचयिता की दृष्टि से इस समस्या पर बहुत ही तात्त्विक ढंग से विचार किया है। 'काव्यादर्श' के तृतीय परिच्छेद के उत्तरार्द्ध में उन्होंने दोषों पर विस्तार से विचार किया है। प्रत्येक दोष के विवेचन-क्रम में वह यह बतलाते गए हैं कि कुछ विशेष-विशेष सन्दर्भों में वे दोष गुणवत् हो जाते हैं। उन्होंने प्रथम परिच्छेद में ही "तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा (१।६२)" में 'भूयसा' द्वारा संकेत किया है कि कहीं-कहीं ग्राम्यता और अश्लीलता भी दोषस्वरूप नहीं होती है। अपार्थ नाम के दोष का उल्लेख दण्डी में मिलता है जिसमें पद या वाक्य का अर्थ तो होता है परन्तु समुदाय वाक्य या महावाक्य का अर्थ नहीं होता है। काव्य का गद्य में भी इस दोष से बचना श्रेयस्कर है। किन्तु, दण्डी बतलाते हैं कि उन्मत्त मत्त बालोक्ति में परस्पर असम्बद्धत्व दोष नहीं प्रत्युत स्वाभाविक गुण ही है (३।१२८)। दण्डी का विश्लेषण विरुद्धार्थ के विवेचन में और भी उपादेय हो जाता है। इस दोष में किसी पात्र के साभिप्राय छद्म कथन से उनका अभिप्राय है प्रत्युत उनका अभिप्राय तो प्रचण्ड आवेश में निःसृत सहज उक्ति से है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु वह बतलाते हैं कि यदि दुखातुर जन की उक्ति में विरुद्धार्थ दोष पाया जाए तो उसे दोष नहीं प्रत्युत् गुण माना जाएगा। कारण यह कि उस तरह की उक्ति से उसकी आन्तरिक अस्तव्यस्तता प्रतीत होती है (३।१३३)। इस प्रकार रचयिता के किंचित् कौशल के स्पर्श से भी दोष गुण में रूपान्तरित हो जा सकते हैं।

विश्वनाथ ने इस समस्या पर अधिक गहराई से विचार किया है। खतरनाक सरलीकरण से बचने के लिए दोष की नित्यता की धारणा का वह पूर्ण परित्याग कर देते हैं। काव्य की परिभाषा देते हुए पहली साँस में वह कहते हैं कि 'दोषास्तस्यापकर्षकाः।' किन्तु कदाचित् विश्वनाथ ने स्वयं यह अनुभव किया कि इससे तो दोष नित्य सिद्ध हो जाते हैं। अतः अपने मन्तव्य को संशोधित रूप में उपस्थित करते हुए वह कहते हैं कि दोष तो वे हैं जो रस के अपकर्षक हुआ करते हैं—'रसापकर्षकादोषाः'। इससे ध्वनि यह निकलती है कि दोष नित्य नहीं हैं। इस प्रकार विश्वनाथ के मत से कोई दोष यदि किसी प्रसंग में रसोपकारक है तो वह दोष न होकर गुण ही हो जाता है। इसीको ध्यान में रखकर उन्होंने कहा है—'सुरतारम्भगोष्ठ्यादावश्लीलत्वं तथा पुनः (गुणो भवेत)।' तात्पर्य यह कि कविकर्म की ऊर्जा ही काव्य में मुख्य है।

यह बात नहीं है कि इस सत्य का साक्षात्कार विश्वनाथ ने ही पहली बार किया था। सातवीं सदी में ही, जब श्रुतिमधुर को गुण और श्रुतिकष्ट या श्रुतिदुष्ट को दोष माना जाता था, भामह कहते हैं कि सन्निवेश की विशेषता के कारण फूलों की माला के बीच गुँथे हरे पन्ने के समान सदोष अभिव्यंजना भी सुन्दर बन जाती है। कुन्तक के अनुसार वर्ण और ध्वनि को प्रस्तुत के औचित्य से शोभित होना चाहिए। वह कठोर रस के प्रसंग में कर्णकटु वर्णों के प्रयोग से उत्पन्न वक्रता का उदाहरण भी देते हैं।

राजशेखर इन सभी विचिकित्साओं का समाधान कवि-प्रतिभा में देखते हैं। वे बड़ी ही प्रसन्न मुद्रा में साहित्यिक चौर्य की महिमा का बखान करते हैं और उसके उपादेय पक्ष की सार्थकता बत्तीस प्रकारों से प्रमाणित करते हैं। यायावरीय का मत है कि दूसरे कवियों की अलौकिक कल्पनाओं को लेकर यदि विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया जाय तो वे हरण के रूप में पहचानी तो नहीं ही जा सकतीं अपितु सरस और आकर्षक भी हो जाती हैं। काव्य-रचना करने वाले कवि और व्यापारी—ये दोनों चोर न हों—ऐसा दावा नहीं किया जा सकता। इनमें प्रशंसनीय वह है जो चोरी को छिपा सके और जिसकी निन्दा न हो।

नास्त्यचौरः कविजनो नास्त्यचौरो वणिग्जनः।
स नन्दति विना वाच्यं यो जानाति निगूहितम्॥

राजशेखर ने इसी निगूहन की कला में दक्ष कवि को उत्पादक कवि कहा है। चौर्य कर्म तो अनेक कवि करते हैं, कुछ कवि परिवर्त्तक होते हैं, कुछ आच्छादक, कुछ संवर्गक; किन्तु चौर्य कला की महिमा तो उत्पादक कवि में ही सिद्ध होती है। उत्पादक कवि के सम्बन्ध में बाणभट्ट ने इस प्रकार लिखा है—

सन्ति श्वान इवासंख्या जातिभाजो गृहे-गृहे।
उत्पादका न बहवः कवयः शरभा इव।

—हर्षचरित। ५।

राजशेखर कहते हैं कि जो कवि शब्दों, अर्थों और उक्तियों में कुछ नए भावों को देखने की शक्ति रखता है और अपने प्रतिभा-प्रकर्ष से किसी अलौकिक वस्तु का उन्मेष करता है, उसे महाकवि कहना चाहिए। वह कहते हैं कि कवि में मुख्य चीज़ है शक्ति। शक्ति यानी प्रतिभा कवि के अव्युत्पत्तिजन्य दोष को भी आच्छादित कर देती है।

इसी सत्य का निर्भ्रान्ति साक्षात्कार कुन्तक भी करते हैं। वह कहते हैं कि अनूतन वस्तु भी केवल शक्ति के वैचित्र्य मात्र से सौन्दर्य की काष्ठाप्राप्ति कर लेती है। जिन्हें यह सब कुछ जँचता नहीं हो वे तुलसीदास के कौशल को देखकर आश्वस्त हो सकते हैं। उन्होंने केवल कथा ही नहीं, नानापुराणनिगमागम से शब्द ही प्रत्युत पूरे-का-पूरा अनुच्छेद ही उठाकर अपने मानस में रख दिया है। किन्तु रचयिता के कौशल के स्पर्श से 'मानस' में यह निर्धन चौर्यकला सौन्दर्य की पर्त-पर-पर्त गढ़ती चली गई है। क्षुद्र कवि की पहचान यह है कि काव्यमार्ग में स्वीकृत गुणों का उपयोग कर भी वह रचना को चौपट कर देता है।

इस प्रसंग में हम यह भी विचार कर लें कि कुन्तक ने कविकर्म का हेतु क्या माना है। वह सिद्धान्ततः यह मान लेते हैं कि रचना में शक्ति के साथ व्युत्पत्ति और अभ्यास का भी योग रहता है। वह कहते हैं कि उस सबल शक्ति से कवि उन दोनों प्रकार के स्वभाव से सुन्दर व्युत्पत्ति को प्राप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करता है और उसके बाद उन दोनों [illegible] से सुन्दर अभ्यास करने वाला हो जाता है। कुन्तक व्युत्पत्ति और अभ्यास को स्वभाव से ही सम्बद्ध कर अपने सम्पूर्ण विश्लेषण को मनोवैज्ञानिक गहराई दे देते हैं। वह कहते हैं कि अनादि वासना के अभ्यास से संस्कृत चित्त वाले व्यक्ति को अपने स्वभाव के अनुरूप ही व्युत्पत्ति तथा अभ्यास प्राप्त होता है। साथ ही व्युत्पत्ति तथा अभ्यास स्वभाव की अभिव्यक्ति द्वारा ही सफलता प्राप्त करते हैं। स्वभाव हेतुद्वय (व्युत्पत्ति और अभ्यास) को उत्पन्न करता है और ये दोनों उसे परिपुष्ट करते हैं। इस प्रकार कुन्तक हेतुद्वय को कवि व्यक्तित्व के आन्तरीण धर्म से सम्बद्ध कर इन दोनों की जड़ता और यान्त्रिकता का निरसन करते हैं और संस्कृत काव्यशास्त्र के परम्परायुक्त चिन्तन को नई अर्थवत्ता प्रदान करते हैं।

किन्तु, व्युत्पत्ति और अभ्यास तो काव्य-भवन के गारा ढोने वाले मजदूर हैं। इस महल का वास्तविक शिल्पी तो प्रतिभा है। रुय्यक के टीकाकार जयरथ ने उनकी पंक्ति 'व्यापारस्य प्राधान्यं च काव्यस्य प्रतिपेदे' पर टिप्पणी देते हुए लिखा है कि कविकर्म प्रतिभा के द्वारा विकसित होता है। इस व्यापार के साथ वक्रोक्ति का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि कविप्रतिभा के द्वारा निर्वर्तित वस्तु के बिना वक्रोक्ति की सिद्धि नहीं हो सकती।[१२] स्वयं कुन्तक प्रतिभा को इतना ही महत्त्व देते हैं। उनकी प्रतिभा पूर्वजन्म और इस जन्म के संस्कारों के परिपाक से प्रौढ़ि-प्राप्त है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वह प्रतिभा को सहजा के साथ आहार्या भी मानते हैं। उनके मतानुसार काव्यनिर्माण में यही प्रतिभा सर्वोपरि वस्तु है। कुन्तक के कहने का तात्पर्य यह है कि अत्यन्त सुन्दर रचना कवि-प्रतिभा प्रसूत होती है और उसमें कविकर्म आहार्य नहीं होता है। दूसरे शब्दों में, कविकर्म जहाँ केवल आहार्य होता है वहाँ रचना सौन्दर्य की काष्ठाप्राप्ति नहीं करती है। रचना में सौन्दर्य का उन्मेष प्रतिभा के संस्पर्श से ही होता है। वह बतलाते हैं कि शब्द और अर्थ में सौन्दर्य के स्फुरण में ही कविकर्म में प्रतिभा का योग होता है। प्रतिभा का प्राथमिक विलास भी शब्दार्थ को रमणीय बना देता है। निष्कर्षतः कुन्तक काव्यहेतु में व्युत्पत्ति और अभ्यास को स्वभाव से सम्बद्ध कर देते हैं और रचना में सौन्दर्य के उन्मेष के वास्तविक हेतु के रूप में प्रतिभा को ही स्वीकारते हैं।

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने यह बतलाया है कि 'कवि-कर्म-[illegible] के दो पक्ष होते हैं—विभावपक्ष और भावपक्ष। कवि एक ओर तो ऐसी वस्तुओं का चित्रण करता है जो मन में कोई भाव उठाने या उठे हुए भाव को जगाने में समर्थ होती हैं और दूसरी ओर उन वस्तुओं के अनुरूप भावों के अनेक स्वरूप शब्दों द्वारा व्यक्त करता है। एक विभावपक्ष है, दूसरा भावपक्ष। कहने की आवश्यकता नहीं कि काव्य में ये दोनों अन्योन्याश्रित होते हैं, अतः दोनों रहते हैं।" शुक्लजी जब भावपक्ष और विभावपक्ष को अन्योन्याश्रित कहते हैं तब वे काव्य-समीक्षा के गहन-तत्त्व का ही उन्मूलन करने में समर्थ सिद्ध होते हैं। विभाव की योजना भावों की अभिव्यक्ति के लिए ही की जाती है। इसलिए कुछ विभाव भावों के आलंबन होते हैं और कुछ उद्दीपन। भाव लोकधर्मी हैं। लोक में तो उनका अस्तित्व ऐसे भी है किन्तु काव्य में विभावों के आश्रित होकर ही आते हैं। भरत ने विभावों को ऐसे परिभाषित किया है—'विभावैराहृतो योऽर्थो'। अर्थात् भाव वह अर्थ है जो विभावों के द्वारा निष्पन्न होता है। इसलिए भाव विभावों के आधार हैं और विभाव भावों के आश्रित हैं। इसीसे शुक्लजी उन्हें अन्योन्याश्रित कहते हैं। उन्होंने इस बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है: 'जहाँ एक ही पक्ष का वर्णन रहता है वहाँ भी दूसरा पक्ष अव्यक्त रूप में रहता है। जैसे, नायिका के रूप में या नख-शिख का कोरा वर्णन लें तो उसमें भी आश्रय का रतिभाव अव्यक्त रूप में वर्तमान रहता है।' इस प्रकार काव्य में भाव और विभाव का युगपत् अस्तित्व रहता है।

आधुनिक आलोचना की भाषा में विभाव भाव का 'वस्तुगत प्रतिरूप' (ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव) है। यह पदोच्च इलियट का अपना आविष्कार है। कविता लिखने के लिए भाव, अनुभूति, संवेग आदि का अनुभावन तो आवश्यक है ही, उससे भी कहीं अधिक आवश्यक है उस अनुभूति को दूसरों तक प्रेषित करना। 'अनुभूति को दूसरों तक पहुँचाना ही', शुक्लजी के शब्दों में 'कविकर्म है'। आत्मनिष्ठ भावों को वस्तुनिष्ठ तत्वों के द्वारा प्रेषणीय बनाया जाता है। इसे ही इलियट ने 'वस्तुगत प्रतिरूप' नाम दिया है। उनके अनुसार कला के रूप में भावना को अभिव्यक्त करने का एकमात्र उपाय यही है कि "किसी वस्तुगत प्रतिरूप को, दूसरे शब्दों में, वस्तुओं की एक ऐसी श्रेणी, एक ऐसी परिस्थिति, घटनाओं की एक श्रृंखला को, ढूंढ़ा जा सके, जो भावना-विशेष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का इस तरह आधार हो कि जब बाह्य तथ्य, जिनकी परिणति ऐन्द्रिक अनुभूति में होनी ही है, दे दिये जाएँ, तब तत्क्षण वह भाव उद्बुद्ध हो जाए।" इस प्रकार पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र में अतिख्यात इलियट का यह सिद्धान्त भारतीय रसचक्र के विभाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

कविकर्म का चमत्कार वस्तु-विन्यास के क्षेत्र में भी प्रकट होता है। काव्य में महिमा वस्तु की नहीं कविकर्म की होती है। अतएव काव्यात्मक और अकाव्यात्मक वस्तुओं का पार्थक्य निस्सार है। भामह के अनुसार ऐसा न कोई शब्द है, न अर्थ, न न्याय, न कला जिसका प्रयोग काव्य में नहीं होता हो।

न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्यांगमहो भारो महान्कवेः॥

(काव्यालंकार : ५।१४)

धनंजय भी भामह के इस मत की पुष्टि करते हैं। उनके अनुसार रमणीय हो अथवा घृणित, अच्छी हो या बुरी, उग्र हो अथवा आह्लादकारी, गहन हो अथवा विकृत, विश्व में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, वस्तु ही क्यों अवस्तु भी नहीं है जो कवि और भावना के विषयीभूत होने पर रस और भाव को उत्पन्न न करे।

रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीचमुग्रं
प्रसादि गहनं विकृतं च वस्तु।
यद्वाप्यवस्तु कविभावकभाव्यमानं
तन्नास्ति यन्न रसभावमुपैतिलोके॥

राजशेखर की विदुषी पत्नी अवन्तिसुन्दरी का मत है कि किसी वस्तु का स्वरूप नियत नहीं है। कवि की उक्ति के कारण उसमें गुण या दोष आ जाते हैं—

"वस्तूनो रूपं न नियतस्वभावम्" इति अवन्तिसुन्दरी। तदाह—

वस्तुस्वभावो च कवेरतन्त्रो
गुणागुणायुक्तिवशेन काव्ये।
स्तुवन्निवध्नात्यमृतांगुमिन्दुं
निन्दंस्तु दोषाकरमाह धूर्त्तः॥

मनुष्य की कोई भी कला या विद्या ऐसी नहीं है जिसका मुख्य प्रतिपाद्य प्रकृति का व्यापार नहीं है। प्रकृति के व्यापार को आधार बनाये बिना किसी भी अन्य विद्या का अस्तित्व ही संभव नहीं है। केवल कवि में ही यह सामर्थ्य है कि वह अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के कारण ऐसे किसी भी प्रतिबन्ध से मुक्त हो जाए और प्रकृति के समानान्तर नयी पद्धति में विकसित हो। वह या तो प्रकृति के उपादानों की तुलना में सुन्दरतर सृष्टि करता है अथवा ऐसा नूतन सृजन करता है जैसा प्रकृति में कहीं भी विद्यमान नहीं है। इसीलिए धनंजय कहते हैं कि अवस्तु भी कवि की भावना से सिक्त होकर भाव और रस उत्पन्न करती है। इस प्रकार काव्य में वस्तुयोजना सृजन का रूप प्राप्त कर लेती है। अपने कर्म की महिमा में कवि स्वयं प्रजापति बन जाता है।

इसका सीधा मतलब यह है कि काव्य सृजन है, अनुकरण नहीं। लेकिन अरस्तू का कहना है कि काव्य प्रकृति का अनुकरण है। अरस्तू के व्याख्याकार बुचर के अनुसार अरस्तू के अनुकरण शब्द का अर्थ है 'सादृश्य विधान अथवा मूल का पुनरुत्पादन—सांकेतिक उल्लेख नहीं।' कलाकृति मूल वस्तु का पुनरुत्पादन करती है, अर्थात् कवि मूल वस्तु का यथातथ्य रूप खड़ा नहीं करता बल्कि वह उसके उस रूप को प्रस्तुत करता है जो इन्द्रियों को प्रतीत हुआ करता है। स्काट-जेम्स के अनुसार, "अरस्तू के अनुकरण का तात्पर्य है साहित्य में जीवन का वस्तुपरक अंकन, जिसे हम अपनी भाषा में जीवन का कल्पनात्मक पुनर्निर्माण कह सकते हैं।"[१३] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि, अरस्तू 'अनुकरण' का प्रयोग सृजन के अर्थ में ही करते हैं। हाँ, ऐसा अनुमान किया जा सकता है या तो उनकी भाषा में सृजन के उपयुक्त कोई शब्द नहीं था अथवा वह अपने शब्द का चयन बहुत सावधान मनोदशा में नहीं कर सके थे। इसलिए उनके व्याख्याकारों को 'अनुकरण' का अर्थ करने में इतनी माथापच्ची करनी पड़ी है।

अरस्तू को जो भाषा नहीं सूझी वह अभिनवगुप्त को सूझ गयी थी। भरत ने लिखा है कि सम्पूर्ण त्रैलोक्य का भावानुकीर्तन नाट्य है।[१४] ऐसा लगता है कि अभिनवगुप्त को जो पाठ प्राप्त हुआ था उसमें 'अनुकीर्तन' नहीं 'अनुकरण' रहा होगा। अतएव उसपर विमर्श करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि अनुकरण नहीं, अनुकीर्तन ही होगा। वह स्वयं यह प्रश्न उठाते हैं कि अनुकरण ने आखिर ऐसा क्या अपराध किया है जिससे उसका वर्जन किया जाता है। अभिनवगुप्त का मत है कि अनुकरण करना अपराध नहीं है। वास्तविक कठिनाई तो यह है कि अनुकरण असम्भव व्यापार है। यह इसलिए कि भाव का अनुकरण नहीं हो सकता। अनुकरण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो सदृशकरण है। तो यह अनुकरण किसका होता है? अनुकरण रामादि का नहीं होता। यह इसलिए कि रामादि अनुकार्य हैं। इससे प्रमदादि विभावों का अनुकरण खंडित हो गया। और क्रोध-शोकादि रूप चित्तवृत्तियों का भी अनुकरण नहीं होता। नट रामादि के समान ही अपना शोक नहीं करता। यह इसलिए कि उस शोक का उसमें सर्वथा अभाव रहता है। भाव में अनुकरण नहीं हो सकता। फिर ऐसी कोई दूसरी वस्तु नहीं मिलती जो शोक के सदृश हो। अतः उसका अनुकरण संभव नहीं है। यह ठीक है कि अनुभावों का अनुकरण किया जा सकता है। लेकिन यहाँ यह याद रखना है कि यह भी सजातीयों का ही हो सकता है न कि तत्सदृशों का। अभिनवगुप्त प्रश्न उठाते हैं कि साधारण रूप का कौन-सा किसके साथ सादृश्य सादृश्यार्थ होता है? त्रैलोक्यवर्ती का सादृश्य तो विशेष रूप से एक साथ नहीं हो सकता। शायद क्रम से नियत का ही अनुकरण हो सकता है।[१५]

अभिनवगुप्त की मुख्य शंका यह है कि सामान्य रूप में अनुकारार्थ क्या होगा? उनका प्रस्ताव है कि यह भ्रम नहीं पालना चाहिए कि अनियत का अनुकरण नाट्य है। उन्होंने अपने उपाध्याय भट्टतौत के 'काव्यकौतुक' का अपने कथन के समर्थन में हवाला दिया है। उनका कहना है कि नियतानुकार होता है न कि अनियतानुकार। अभिनव के अनुसार अव्यवसायवान विशेष-विषयी कार्य नाट्य है। इसे यों भी कह सकते हैं कि अनुव्यवसायात्मक कीर्तन, रूपित विकल्प संवेदन नाट्य है। यह इसलिए कि वह वेदन संवेद्य है न कि अनुकरण रूप।[१६] इस प्रकार अभिनवगुप्त यह स्थिर करते हैं कि जिस किसी ने नाट्य को अनुकरण कहा है, वह सही नहीं है।[१७] इस प्रकार अनुकीर्तन भावों का अनुकरण नहीं प्रत्युत उनका गुणगान है। इसमें भाव कई तरह से गूंजते हैं, उनकी प्रसुप्त शक्तियाँ और भी जागरित हो जाती हैं। इस प्रकार भावनाट्य में 'अन्यथाकरण' की प्राप्ति कर लेते हैं।

भरत ने अभिनय को अर्थाश्रित माना है। अर्थ से उनका तात्पर्य लोक से है।[१८] लेकिन प्रश्न उठता है कि क्या अभिनय वस्तु का हू-ब-हू अनुकरण है? यानी काव्य क्या लोक का अनुकरण मात्र है? यदि अर्थ या लोक काव्य का उपजीव्य है तो जैसा कि अभिनव ने कहा नाट्य भित्तिस्थानीय है।[१९] यानी भित्ति तो आधार अवश्य है किन्तु कविकर्म भित्ति पर उभरने वाले चित्र के सदृश भित्ति को अन्यथारूप प्रदान कर देता है। यानी लोकधर्मिता फलक मात्र है। कविकर्म भित्ति पर उभरने वाला चित्र है जो स्वयं भित्ति नहीं। सृजन-प्रक्रिया के क्रम में वस्तु का स्वरूप बदल जाता है। कविकर्म और वस्तु के घात-प्रतिघात से एक नयी चीज उभरती है। भरत ने कहा है कि स्वभाव तो लोकधर्मी है किन्तु विभाव तो नाट्य में ही होते हैं।[२०] तात्पर्य यह कि नाट्य में स्वभाव यथावत् ग्रहण नहीं किया जाता है। उसे मनोग्राह्य बनने के लिये विभाव के रूप में आना पड़ता है। अभिनवगुप्त कहते हैं कि लोकप्रसिद्ध द्रव्य को शिल्प, कला, कल्पना के द्वारा जो वांछित रूप दे दिया जाता है वह नाट्यधर्मिता है।[२१] यानी लोकप्रसिद्ध वस्तु को काव्य में रुचिकर मूर्ति दे देने की कला ही नाट्यधर्म है। इस प्रकार सौंदर्य कविकर्म का ही प्रपंच ठहरता है।

अनुकरण बाह्यसत्ता का पूर्ण स्वायत्तीकरण है। किन्तु काव्य में, साथ ही चित्र, मूर्ति आदि कलाओं में, बाह्यसत्ता पूरी तरह अँट नहीं पाती है। "मनुष्य जो कुछ भी रचता है उसके लिए वह बाह्य जगत् की वास्तविकता से ही मसाला संग्रह करता है। पर उसे ज्यों-का-त्यों वह ले ही नहीं सकता। उसे चार आयामों के जगत् को तीन, दो या एक में बदलना पड़ता है, वह कुछ-न-कुछ छोड़ने को बाध्य है। वह तथ्यात्मक बाह्यसत्ता को बदलता है, अन्यथा बनाता है। इसलिए उसके इस प्रयत्न को अन्यथाकरण कहते हैं। अन्यथाकरण अर्थात् जैसा है उसे वैसा ही न रहने देना। फिर भी वह वस्तु को यथार्थ रूप में चित्रित करने का प्रयास करता है। रेखा से, रंग से वह कमियों को पूरा करता है। इस कौशल पर ही कलाकार का वैशिष्ट्य है।" कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में एक स्थान पर एक बात बड़े आकर्षक ढंग से कही है। राजा दुष्यंत ने शकुन्तला का चित्र बनाया था। उस चित्र को देखकर राजा ने कहा था कि चित्र में जो कुछ साधु नहीं होता अर्थात् जैसा है वैसा नहीं बन पाता, उसे अन्यथा कर दिया जाता है। फिर उस (शकुन्तला) का लावण्य रेखाओं से कुछ जुड़ ही गया है, बढ़ ही गया है—

यद्यत्साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत्तदन्यथा।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किञ्चिदन्वितम् ॥

यहाँ इस श्लोक को उद्धृत करने का उद्देश्य सिर्फ यही नहीं है कि अन्यथाकरण शब्द के प्रयोग का औचित्य सिद्ध किया जाय बल्कि यह भी है कि इस बात को विशेष रूप से दृष्टिगोचर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया जाए कि कालिदास ऐसा मानते थे कि यद्यपि अन्यथा-करण के द्वारा बाह्य-जगत् ज्यों-का-त्यों नहीं आ जाता बल्कि उत्तम कोटि का चित्रकार उसमें कुछ और जोड़ देता है—'किञ्चित् अन्वितम् ।'[२२] कालिदास ने बात चित्र को लेकर उठायी है किन्तु यह काव्य तथा अन्य सभी कलाओं के विषय में भी उसी प्रकार सच है, यानी अनुकरण असंभव है ।

कवि भाव के उपर्युक्त विभाव की योजना में ज्यों ही प्रवृत्त होता है, त्यों ही सृजन-प्रक्रिया का काम शुरू हो जाता है । महिमभट्ट ने कहा है कि विभाव आदि की योजना के अतिरिक्त कविव्यापार और कुछ नहीं है ।[२३] मुक्तिबोध ने इस प्रक्रिया पर अच्छा विचार किया है । उनके अनुसार कला के तीन क्षण होते हैं । "कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव-क्षण । दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपने कसकते-दुखते हुए मूलों से पृथक् हो जाना और एक ऐसी फैण्टेसी का रूप धारण कर लेना मानो वह फैण्टेसी अपनी आँखों के सामने ही खड़ी हो । तीसरा और अन्तिम क्षण है इस फैण्टेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का आरम्भ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णावस्था तक की गतिमानता ।"[२४] मुक्तिबोध ने जिसे जीवन का 'तीव्र अनुभव-क्षण' कहा है वही काव्य का मूल उपजीव्य है । उनका दूसरा क्षण—'अनुभव का अपने कसकते-दुखते हुए मूलों से पृथक् हो जाना' ही भारतीय रसवाद में साधारणीकरण की स्थिति है । किन्तु कविकर्म का सबसे महत्त्वपूर्ण क्षण है, कला का तीसरा क्षण । इस क्षण की मीमांसा करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है कि "शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया के भीतर जो प्रवाह बहता रहता है वह समस्त व्यक्तित्व और जीवन का प्रवाह होता है । प्रवाह में वह फैण्टेसी अनवरत रूप से विकसित-परिवर्तित होती हुई आगे बढ़ती जाती है । इस प्रकार वह फैण्टेसी अपने मूल रूप को बहुत-कुछ त्यागती हुई नवीन रूप धारण करती है । जिस फैण्टेसी को शब्दबद्ध करने का प्रयत्न किया जा रहा है वह फैण्टेसी अपने मूल रूप से इतनी अधिक दूर चली जाती है कि यह कहना कठिन है कि फैण्टेसी का यह नया रूप अपने मूल रूप की ही प्रतिकृति है ।"[२५] विभाव से साधारणतया नायक-नायिका का स्थूल बोध होता है । इसलिए मुक्तिबोध ने नये काव्य के मिज़ाज के अनुकूल इस शब्द का प्रयोग किया है । इस शब्द से नायक-नायिका से परे भी भाव के 'वस्तुगत प्रतिरूप' (ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव) में आये तथ्यों का बोध हो जाता है । किन्तु फैण्टेसी, जैसा कि मुक्तिबोध ने उचित ही कहा, "वास्तविक अनुभूति की प्रतिकृति नहीं हो सकती । वैयक्तिक से निर्वैयक्तिक होने के दौरान ही उस फैण्टेसी ने कुछ ऐसा नवीन ग्रहण कर लिया कि जिससे वह स्वयं भी वास्तविक अनुभव से स्वतंत्र बन बैठी ।"[२६] वह कवित्वमय भाषा में लिखते हैं कि "फैण्टेसी अनुभव की कन्या है और उस कन्या का अपना स्वतंत्र विकासमान व्यक्तित्व है । वह अनुभव से प्रसूत है इसलिए वह उससे स्वतंत्र है ।"[२७]

इस मत की पुष्टि पं० रामचन्द्र शुक्ल भी करते हैं । "जिस रूप में अनुभूति कवि के हृदय में होती है, उसी रूप में व्यंजना कभी हो नहीं सकती । उसे प्रेषणीय बनाने के लिए—दूसरों के हृदय तक पहुँचाने के लिए—भाषा का सहारा लेना पड़ता है । शब्दों में ढलते ही अनुभूति बहुत विकृत हो जाती है, और की और हो जाती है । इसी से बहुत दिव्य और सुन्दर अनुभूतियों को कवि यों ही छोड़ देते हैं, उनकी व्यंजना का प्रयास ही नहीं करते । वे जीवन-भर एक प्रकार के मूक कवि बने रहते हैं । बहुत-सी कविता अनुभूति-दशा में नहीं होती, स्मृति-दशा में होती है । जो यह कहे कि जो कुछ हमारे भीतर था सब हमारी कविता में आ गया है, उसमें काव्यानुभूति का अभाव समझना चाहिए और उसकी कविता को कवियों की वाणी का अनुकरणमात्र ।"[२८] अतएव काव्य अनुकरण नहीं है । कवि-कर्म की प्रक्रिया में मूल जीवानुभव बदल जाता है । इसीलिए भरत ने नाट्य को भावानुकरण नहीं, भावानुकीर्तन कहा है । कवि चेतना-सम्पन्न प्राणी है । सृजन-व्यापार के समय चेतना के कई स्तरों पर वह जीता है । इसलिए उसकी मूल अनुभूतियाँ रचना के समय चेतना की नदी में सिक्त हो जाती हैं । तब जो अनुभूति रहती है वह जीवानुभूति नहीं वरन् काव्यानुभूति है । इस तरह स्वयं काव्यानुभूति कविकर्म की प्रसूति सिद्ध होती है ।

हमने ऊपर बतलाया है कि कविकर्म के सिद्धान्त द्वारा कुन्तक ने काव्य में कवि के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की । कवि का यह काव्यात्मक व्यक्तित्व आखिर क्या है ? डॉ० सुशील कुमार दे के अनुसार इसका तात्पर्य रचना में अन्विति से है ।[२९] तब यह स्थिर हुआ कि अन्विति जिस तरह प्राप्त होती है वही काव्यात्मक व्यक्तित्व है । यह परस्पर-विरोधी व्यक्तित्वों की लस्टम-पस्टम अन्विति नहीं है बल्कि काव्या-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्मक व्यक्तित्व की तात्त्विक अन्विति है। हम देखते हैं कि इस काव्यात्मक व्यक्तित्व का इलियट के अव्यक्तिवाद से कोई विरोध नहीं है। वह कवि के मन की तुलना एक उत्प्रेरक (केटेलिस्ट) से करते हैं। उत्प्रेरक के संयोग से दो गैसों के मिलन में तीसरी गैस उत्पन्न हो जाती है, किन्तु 'उसमें न कोई परिवर्तन आता है, न उस पर इस प्रक्रिया का प्रभाव ही पड़ता है और न वही कुछ प्रभाव डाल पाता है।'[३०] इस प्रकार इलियट जब कवि के मन की तुलना (उत्प्रेरक के रूप में) प्लेटिनम के तन्तु से करते हैं तब वह काव्यात्मक व्यक्तित्व की ठीक-ठीक व्याख्या कर देते हैं। इस प्रकार उनका मुख्य विरोध भोक्ता मन के व्यक्तित्व से हो जाता है। वह मानते हैं कि कवि का मन असंख्य भावनाओं, पदावलियों, बिम्बों के ग्रहण एवं संचयन के निमित्त एक आधानपात्र की भाँति होता है और वे तब तक वहाँ रहते हैं जब तक वे सब घटक, जिनके संयोग से कोई नया यौगिक पदार्थ बन सकता हो, एक साथ एकत्र नहीं हो जाते। इलियट—निर्विकारता और नवोन्मेष को—कविमानस की दो विशेषताएँ मानते हैं। भट्टतौत ने नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा को ही प्रतिभा कहा है। यही कवि का असल व्यक्तित्व है।

इस प्रसंग में हम रचना के साथ रचयिता के सम्बन्ध पर भी विचार कर लें। इलियट बतलाते हैं कि प्रौढ़ और अप्रौढ़ कवि के मानस का अन्तर सर्वथा "व्यक्तित्व के मूल्यांकन में निहित नहीं होता—न वह (प्रौढ़ कवि) आवश्यक रूप से अधिक रोचक होता है, न उसके पास आवश्यक रूप से अधिक कहने को होता है। वस्तुतः वह ऐसा परिष्कृत माध्यम होता है जिसमें विशेष अथवा अत्यन्त वैविध्यपूर्ण भावनाओं को नये संयोगों में ढलने की स्वतन्त्रता होती है।" यही कवि का नवोन्मेष और शक्ति है। इस शक्ति के कार्य की मीमांसा करते हुए इलियट ने अन्यत्र लिखा है : "कवि का मन जब अपने कार्य के लिए पूरी तरह सन्नद्ध हो जाता है तब वह अविच्छिन्न रूप से विरोधी और असदृश अनुभूतियों को समन्वित करता है। साधारण मनुष्य की अनुभूति तो अस्त-व्यस्त, विच्छिन्न और खण्डित होती है। एक साधारण मनुष्य प्रेम में उलझ जाता है या स्पिनोज़ा का अध्ययन करता है, किन्तु इन दो अनुभूतियों का कोई भी परस्पर सम्बन्ध नहीं होता है, अथवा टाइपराइटर की खटखटाहट या पाकशाला की गंध में, किन्तु ये ही अनुभूतियाँ कवि के मन में हमेशा नई समग्रता गढ़ती चलती हैं।"

इस शक्ति के बिना वस्तु और अनुभूति काव्य में चमत्कार दिखला ही नहीं सकती है। हम इसका उदाहरण इलियट की कविता से ही देना चाहेंगे। बूढ़े होने की अनुभूति सभी को उस उम्र में होती है। यह एक तीव्र और महत् अनुभूति है। उसी प्रकार एक क्षुद्र अनुभूति तब भी होती है जब हम अपने पाजामे की क्रीज़ को मुड़ा हुआ देखते हैं। इन दोनों का भोक्ता मन के लिए कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु स्रष्टा मन देखता है कि हम उसी प्रकार बूढ़े हो रहे हैं जिस प्रकार हमारा पाजामा सिकुड़ गया है। इलियट की पंक्तियाँ हैं :

I grow old...I grow old...
I shall wear the bottoms of my trousers rolled.

उसी प्रकार राजकमल चौधरी एक ही युद्ध के दर्शन अपनी कमर की हड्डियों और वियतनाम दोनों में करते हैं—'क्यों एक ही युद्ध मेरी कमर की हड्डियों और कभी वियतनाम में।' साधारण व्यक्ति के लिए उपदंशजनित कमर की हड्डियों में दर्द और वियतनाम युद्ध की विभीषिका में कोई संगति नहीं हो सकती है। किन्तु कवि की प्रज्ञा ने यह सहज ही प्रत्यक्ष कर लिया कि सभ्यता का रोग एक ही है। उपदंशजनित कमर की हड्डियों का दर्द और वियतनाम का युद्ध तो उसका बाह्य उपलक्षण मात्र है। यही अनुभूति का नव्य सामग्र्य प्राप्त करना है। इसी अर्थ में काव्य कवि का कर्म है और शक्ति तथा शक्तिमान् एक ही सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार कुन्तक ने समग्र सौन्दर्य को कविकौशल से उत्पन्न होने का कथन किया। भारतीय काव्यशास्त्र की यह एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

पाद-टिप्पणियाँ

१. अलंकारसर्वस्व : सम्पादिका कुमारी एस० एस० जानकी, मेहरचन्द लछमणदास, पृ० १०।
२. हिन्दी वक्रोक्तिजीवितः, पृ० ७।
३. दिनकर : शुद्ध कविता की खोज, पृ० २६।
४. "प्रयोगत्वमनापन्ने काव्येनास्वादसम्भवः।
वर्णनोत्कलिकाभोग—प्रौढोक्त्या सम्यगर्पिताः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उद्यानकान्ताचन्द्राद्या भावाः प्रत्यक्षवत् स्फुटाः ।।''

—हिन्दी अभिनव भारती : आचार्य विश्वेश्वर, पृ० ५०४

५. काव्यानुशासन (काव्यमाला), पृ० ३१६ ।

६. 'बन्धो, गुम्फो, भणितिर्वक्रोक्तिः, कविव्यापार इति पर्यायाः ।'

—नाट्यशास्त्र (गायकवाड़)· द्वितीय जिल्द : पृ० ३२२

७. नाट्यशास्त्रम्, (गायकवाड़) दूसरी जिल्द, पृ० २६६ ।

८. ''भावकत्वमपि समुचितगुणालङ्कारपरिग्रहात्मकमस्माभिरेव वितत्य वक्ष्यते ।''

—ध्वन्यालोकलोचन, पूर्वार्ध, डॉ० रामसागर त्रिपाठी, पृ० ३६६

९. ''तस्मात् काव्यं दोषाभावगुणालंकारमयत्वलक्षणेन, नाट्ये चतुर्विधाभिनय रूपेण निविडनिजमोहसंकटतानि वारणकारिणा ।''

—हिन्दी अभिनवभारती, आचार्य विश्वेश्वर, पृ० ४६४

१०. चिंतामणि भाग-२, पृ० ८८ ।

११. हिन्दी काव्यादर्श, आचार्य रामचन्द्र मिश्र, १।५१-५२।

१२. ''व्यापारस्य कविप्रतिभोल्लिखितस्य कर्मणः । कविप्रतिभा निर्वर्तितत्वमन्तरेण वक्रोक्तिरेव न स्यात् ।'

—डॉ० सुशील कुमार दे द्वारा 'वक्रोक्तिजीवित' की भूमिका में उद्धृत, पृ० २८ ।

१३. "Imitation, for the poetics, is the objective representation of life in literature—what in our language we might call the imaginative reconstruction of life."

—The Making of Literature : Seekers Warburg 1953, p. 53.

१४. ''त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम् ।''

—नाट्यशास्त्र, १।१०७।

१५. नाट्यशास्त्र (गायकवाड़), पहली जिल्द, पृ० ३७ ।

१६. वही, पृ० ३७ ।

१७. वही, पृ० ३८ ।

१८. वही, दूसरी जिल्द, १३।८५ ।

१९. वही, दूसरी जिल्द, पृ० २८ ।

२०. ''स्वभावो लोकधर्मा तु विभावो नाट्यमेव हि ।''

—नाट्यशास्त्र, जिल्द ३, २१·२०३ ।

२१. ''कलाशिल्पकल्पनाकलितयस्तदपि''

—वही, दूसरी जिल्द, १३।७५ ।

२२. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, आलोचना २८ । (सिसृक्षा का स्वरूप), पृ० ९-१० ।

२३. ''विभावाद्युपनिवन्ध एवहि कविव्यापारो नापरः ।''

हिन्दी व्यक्तिविवेक, पृ० १४२ ।

२४. एक साहित्यिक की डायरी (प्र० सं०), पृ० १९ ।

२५. वही, पृ० १९ ।

२६. वही, पृ० २० ।

२७. वही, पृ० २० ।

२८. चिंतामणि भाग–२, पृ० १०४ ।

२९. Sanskrit Poetics As a Study of Aesthetic, Oxford University Press, p. 71.

३० पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, पृ० २८६-८७ ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चौराहे पर ग्रीनविच का एकालाप

श्रीराम वर्मा

तारे गतिमान हैं। सूर्य भी।
पूरा सौरचक्र।
यह पृथिवी भी।—
जिस पर तुम एक चींटी की तरह चल रहे हो :
इतनी ज्वलन्त रश्मि-गति के चक्राकार वर्ष में
स्वयं प्रकाश !

बताओ, मैं कहाँ जाऊँ ?
क्या तुम जा सकते हो ?
क्या तुम सचमुच जा रहे हो ?

तुम मुझे चलते हुए क्षितिज
फिर एक निरीह बिन्दु लगते हो।
क्या मैं वहाँ तक तुमको दिखूँगा ?

क्या तुम चल पाते हो ?
आज़ाद
अपने दिमाग़ से ?

या चलना तुम्हारे लिए आसान है ?
जैसे आदत;
या तुम बेबस हो, आदी हो ?

लेकिन मैं कहाँ जाऊँ, मैं
सोच नहीं पाता।

सुनो, तुम चलते हो तो मैं सिर्फ़ केंचुल छोड़ता
हूँ

चल नहीं पाता, एक लकीर मेरे दिमाग़ से
अनंत तक
तुम तक होती हुई खिंचती है कि आखिर तुम
कहाँ जा रहे हो ?
चलना क्या अन्ततः एक दिन कम करना नहीं
है ?

मैं हूँ एक नहीं के बराबर
होना चाहता हूँ होने के समानान्तर
रोशनी की त्वरा से रास्ते को
केंचुए-सा चाहता हूँ रेडियम-रेखा
बना देना

पर क्या मैं चल सकता हूँ ?
जो मैं सोचता हूँ कि रास्ता है,
(मेरा ख़ुद का बनाया हुआ)
क्या उस पर मेरा अधिकार भी है
कि कहूँ, वह मेरा है।

मैं एक खालिस वोट हूँ,
(मच्छरों ने सर पे भन्ना के कहा।)
और यह रास्ता पट्टे की तरह टूट जाता है
या बन जाता है गले का फन्दा।
मैं चौराहे पर हूँ अनाथ
देश में, समय में, दुनिया के पेंचदार जहन्नुम
में,
दीखते हुए यान्त्रिक स्वर्ग में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुझे सन्देह है मैं उतना हूँ
जितना मैं हूँ।

क्या तुम्हें नहीं लगता कि जूं तक हमसे ज्यादा
आज़ाद हैं;
सुखी हैं। और दरअस्ल क्या यह सभ्यता उन्हीं
की नहीं है ?

मैं=दायित्व—दायित्व की बेबसी+भौतिक
शारीरिक आवश्यकताएँ
+वोट—सर्जनात्मकता—आर्थिक या बेहूदे
अतिरिक्त तनाव—वोट
की कमन्द के साथ दूसरे देश के बक्से में या
कमीने की आँत
में ढहना—सहना+अहं से, चेतना से होना—
इनसे बचना—तिनके
की तरह बहना—भीड़ का होकर ख़ुश रहना।

उलट दूँ तो मैं
नहीं रहता मैं।
—मैं हो जाता हूँ।

पर वह भी लेकर मैं कहाँ जाऊँ ?
आक्टोपस की तरह वह मुझे आविष्ट करता
मुझ पर थूकता काला थूक

नहीं होने दे सकता जूं। और इस सभ्यता से
बाहर
अकेला रहकर मैं क्या करूँगा।

टिक-टिक टिक...

घड़ी ठीक कर लो।
बदल लो तारीख़।
तुम शायद अब रुक नहीं सकते।

लेकिन तुम कहाँ जा रहे हो ?

कितना तेज़ चला जा सकता है ?

गति के चरम पर क्या स्थिति नहीं है ?

अन्तरिक्ष में तुम
अधिक-से-अधिक
हो
सकते हो
बस, फिर
एक पेंचदार जहन्नुम शुरू हो जायगा;
जिसे तुम यान्त्रिक स्वर्ग कहोगे।
कह सको, तो जाओ !
मैं नहीं कहता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'चिति की लीला में प्रतीक का प्रकार्य'*

रमेश कुंतल मेघ

: १ :

क्योंकि इस लेख के संदर्भ में 'साइके' अथवा 'चिति' की मिथक जुड़ी है और वह एक प्रतीक भी है, इसलिए हम भी एक वैसी मिथक (मिथ) से शुरुआत करते हैं। मिथक का असली और अमली धरातल चिंतन (थाट) का नहीं, बल्कि अनुभूति (फ़ीलिंग) का है। मिथक विश्वास के बजाय 'हठात्-विश्वास' (मेक-बिलीफ़) पर टिकी है। इसलिए विज्ञान के सौर धमाके के आगे मिथक की धुँधली यथार्थता की निष्ठा वाली जोत बुझ जाती है। मिथक की भी यथार्थता है। किन्तु वह पुनीत एवं प्रागैतिहासिक (प्रि-हिस्टोरिकल) है। मिथक की भी चेतना है। लेकिन वह प्राक्चिंतनात्मक (प्रि-लॉजिकल) है। मिथक का सम्बन्ध मनुष्य के बजाय मानवता के सामूहिक इतिहास से है। अतः वे सामूहिक चेतना की विरासत हैं। इसीलिए मिथक मानवता के शैशव और शिशु के सार्वभौम (यूनिवर्सल) अनुभव का पुंज है। अतः वे चैतन्य के पहले भी अस्तित्वमान थीं। अतः उनका उद्गम सामूहिक अवचेतन अर्थात् मानवता के प्राथमिक अनुभव रहे हैं। मिथकों के द्वारा ही हम—प्रतीकों के माध्यम से—मानवजाति के पुरातन इतिहास का ऐतिहासिक एवं आधुनिक अनुभवन करते हैं जिनके कई नाम हैं: प्रतीक, आर्केटाइप, मानसिक ऊर्जा (एनर्जी), फान्तासी, रूपक, बिंब, संकेत और शब्द, आदि। अतः मिथक बिंब भी हैं, और संवेग (इमोशंस) भी। अतः ये रूप और भाव, शब्द और अर्थ, बिंब और प्रतीक, भाव और कार्य के द्वंद्व से बंधे हैं। आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने मिथक-रचना के कुछ सूत्र छुए हैं। वे मिथक को अव्यक्त अनुभूति मानते हैं। जिस तरह भाषा में आदिम तत्त्व संगीत (छन्द) था जो विकसित होते-होते अर्थ हो गया, उसी तरह आदिम वृत्त में मिथक (अव्यक्त अनुभूति) था जो विकसित होकर 'माइथोलॉजी' बन गया जिसका प्रतिफलन चित्र, मूर्ति आदि हैं। आदिम मनुष्य ने सुबह की लाली देखकर 'उश्श्!' की अनुभूति की और वही 'उषा' हो गई। सिंधु से घुमड़ता हुआ एक बादल का सफेद टुकड़ा उठा होगा और मिथक-अनुभूति ने उसे ऐरावत हाथी बना दिया होगा क्योंकि मिथकशास्त्र में यह इन्द्र (मेघों के देवता) का वाहन तथा बादलों का वाहक है। उदासी तथा अकेलेपन में डूबे हुए पाषाणकालीन आदमी ने कोई एक ऐसी इच्छा की होगी जो उसे जल से, थल से, नभ से आज़ाद कर सके। तब उसके सामने सूअर ऐसा जानवर और कछुवा ऐसा जीव था। अतः उसने महावाराह और कच्छप के सादृश्य (एनालोजी) लिये। रूपक-तत्त्व (मेटाफोरिज़्म) के द्वारा उसने रूपांतरण-तत्त्व (मेटामारफिज़्म) का अनुभव किया। अतः वाराह और कच्छप के इर्दगिर्द मिथक कथाएँ जुड़ गईं। वे पवित्र और अतिमानवीय और प्रतीक से मंडित होकर 'अवतार' हो गये। आज अर्थ एवं अभिव्यक्ति-प्रधान बौद्धिक भाषा से आदिम मिथक-तत्त्व छूट गये हैं। लेकिन प्रतीकों के रूप में वे बार-बार नया-नया जन्म लेते हैं, नये अर्थ पाते हैं, नये अनुभवों का रहस्योद्घाटन करते हैं। इस रूपांतरण का सूत्र है—रूपक-तत्त्व से रूपांतरण-तत्त्व की ओर प्रयाण। रूपक (मेटाफर) के प्रति मनुष्य का लगाव यही साबित करता है कि जीवन में प्रत्येक वस्तु स्थायी परिवर्तन और पारस्परिक क्रिया की दशा में है। अतः वह रूपांतरित होती है। "रूपक-तत्त्व संबंधवाद की देन है। वह एक ऐसा दर्शन है जो मानता है कि प्रत्येक वस्तु तुलनीय (कम्पेयरेबल) और हर किसी दूसरी वस्तु से विस्थापनीय

* पंजाबी यूनिवर्सिटी, पटियाला, द्वारा आयोजित 'इंटर-डिसिप्लिनरी सेमिनार' में फरवरी १९६९ को (मानसिक अमल विच परतीक दा कम्) शीर्षक से पठित संलेख।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(रिप्लेसिरेबल) है। इस तरह प्रतिस्थापन (सब्स्टीट्यूशन) का सिद्धांत रूपक तत्व तथा तटस्थीकरण की प्रवृत्ति, दोनों के लिए ही आधार देता है।"[1]

: २ :

तो, हम भी, 'साइके' या 'शक्ति' की चितिमय लीला के मिथक के ज़रिये मानवता, मानवजाति तथा मनुष्य के अनुभवों का मंथन कर सकते हैं और इनकी महानीलिमा के अन्तराल से 'प्रतीकों' के सहस्रदल कमलों को निकलते-डूबते पा सकते हैं। 'साइके' या 'शक्ति' मनुष्य की मानसिक दुनिया में इच्छा-क्रिया ज्ञान के जालों को फैलाती तथा बटोरती है।

यूनानी मिथक के मुताबिक नीले सिंधु और उज्ज्वल झाग पर तैरकर आई 'अफ्रोदीत' (अदिति ?) महान् देवी थी। वह दैवी मातृशक्ति के रूप में पूजित थी। किन्तु द्यौस के वीर्य से गर्भवती पृथ्वी से 'साइके' (Psyche) उत्पन्न हुई। वह अपने कौमार्य की समस्त शालीनता के साथ द्वितीय वीनस बनी। मानवीय नारीत्व (फ़ेमिनिटी) एवं नारी भावना (वुमेनहुड) के एक क्वाँरे कुसुम के रूप में साइके का अभिषेक हो गया। ईर्ष्या के कारण अफ्रोदीत ने अपने महान् पुत्र देव इरोस (Eros) को यह काम सौंपा कि वह ऐसा विधान रचे कि साइके एक अमानवीय दानव के प्रति प्रणय में फँसे तथा विरह में भस्म हो जाए। इरोस अदृश्य देवता था अनंग की तरह। साइके थी एक सौंदर्यगर्विता देव-मानव किशोरी; लेकिन प्रेम नहीं पा सकी। इरोस उसका अदृश्य पति तथा प्रेमी था। शर्त यही रही कि वह उसे कभी देखने की कोशिश नहीं करे। अतः इरोस अँधेरे में रहा। इस मिथक-कथा में सभी कुछ अर्थ के परे झिलमिला रहा है। साइके एक 'अनाघ्रात पुष्प' है; इरोस से साथ उसका प्रणय निविड़ अन्धकार (अवचेतन) में होता है। साइके अदृश्य देवता और अमानवीय दैत्य के द्वंद्व के बीच में आन्दोलित है; उसमें रूप है किन्तु उसे प्रणय नहीं मिलता··· और···अन्ततः वह मानवीय 'अनादिवासना' या 'रति' ही है। भारतीय मिथकों में शिव और शक्ति की कथा, शिव द्वारा मदन का दहन तथा उसका अनंग हो जाना, काम की रति एवं प्रीति नामक दो पत्नियों का होना भी हमें एक ऐसे ही समानान्तर अनुभव के नज़दीक ले जाते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि मिथकीय चेतना (मिथिक कांशसनेस) हमें मानवीय वैश्वकता (ह्यूमेन यूनिवर्सेलिटी) से जोड़ देती है। इस जोड़ने की प्रक्रिया में मिथकीय नाम या संज्ञाएँ बिंबों की अपेक्षा 'प्रतीक दशा' (सिम्बालिक सिचुएशन) की अभिव्यक्ति करने लगते हैं। अतः 'प्रतीक' अर्थ के दायरे में नहीं बँधते। या तो वे बड़े होते हैं अथवा छोटे; या वे अतिमानवीय होते हैं अथवा अवमानवीय; या वैयक्तिक होते हैं अथवा सार्वजनीन। ये अर्थ को धुँधला अर्थात् दुहरा-तिहरा कई परतों वाला करके अनुभूति (फ़ीलिंग) और मनोवृत्ति (एटीच्यूड) को भी धारण कर लेते हैं। ये पदार्थ की न तो परिभाषा करते हैं न वर्णन। बल्कि ये धारणा (कांसेप्ट) को अनुभूति के धरातल पर प्रतिष्ठित कर देते हैं। सुशाने लैंगर ने प्रतीक में तात्पर्य (मीनिंग), वैशिष्ट्य (सिगनीफ़िकेंस), उपलक्षण (डिनोटेशन) तथा सारूप्य (कोनोटेशन)—ये चार प्रयोजन माने हैं।[2] अतः लैंगर के अनुसार प्रतीक किसी लक्ष्यवस्तु का स्थान नहीं ग्रहण कर सकता, बल्कि वस्तुओं की धारणा (कांसेप्शन) का ही वाहन होता है। प्रतीक हमें धारणा-बोध तक ले जाता है। उसके बाद हमारी मानसिक अव्यक्त यात्राएँ शुरू होती हैं जहाँ अनुभूति है, अनुभव है, अवचेतन-चेतन है, अस्तित्व (एक्ज़िस्टेंस) और भाविता (बिकमिंग) है, तथा चितिमय यथार्थता (साइकिक रियलिटी) भी है। कार्ल जुंग के अनुसार प्रतीक तब तक 'जीवंत' (लिविंग) है जब तक उसमें अर्थगर्भ है। यदि उसके तात्पर्य का जन्म उसी में से हुआ है, यदि वास्तविक प्रतीक से उसका तात्पर्य अधिक दिव्य हो गया है, तो प्रतीक मृत है और उसका केवल ऐतिहासिक महत्त्व रह गया है। तब वह केवल 'संकेत' (Sign) बन गया है।[3] वास्तव में प्रतीक उद्घाटन करता है। उसका रहस्य-द्रष्टा ऋषि स्वयं उसे नहीं जानता। अतः इन्हीं दशाओं में वह अवचेतन तक धँसता चला जाता है और एकबारगी मानवीय चेतना तथा जीवन-चेतना और मानस-चेतना की सृष्टि करता है। यही सम्पूर्णता जैसी संघटना 'चिति' या साइके है। यह मानवीय प्रकृति (नेचर) का, या मानवीय मानस (माइंड) का, अथवा ऐतिहासिक अर्थों में आत्मा (सोल) का नाम भी पा चुकी है। मूलरूपेण यह विशेषतः मानसिक जीवन का सारत्व तथा सिद्धान्त है। यह मानवता तथा मानव जाति, और मनुष्य तथा व्यक्ति में समान रूप से क्रियाशील है। वस्तुतः 'मानस' की धारणा से बहुत व्यापक और महत् धारणा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'चिति' (Psyche) की है। इसमें चेतन और अवचेतन, अस्तित्व और सत्ता, निस्पन्दन और क्रिया, व्यक्ति और मानवता आदि का द्वंद्वात्मक समाहार हो सकता है। अतः हम आगे 'साइके' को चिति तथा 'साइकिक प्रोसेस' को 'चिति-लीला' या 'चिति-प्रक्रिया' कहेंगे। इसे रेखांकित कर लिया जाए।

: ३ :

चिति में कई बिंब बार-बार आया करते हैं जो विश्व में प्रागैतिहास से लेकर आज तथा अभी तक जीवंत बने हुए हैं। वे मानवता के तथा मानव जाति के संचित अनुभव हैं जो बिंब, मिथक, प्रतीक, धारणा के नाम से अभिहित होते हैं। नाना नामों से बारंबार आकर वे मेरी, तुम्हारी, हमारी, उसकी तथा मानव जाति की ज़िंदगी में कई अभिप्रायों को पूरा करते हैं। अतः चिति-लीला (साइकिक प्रोसेस) निरंतर गतिशालिनी है, एक स्थायी गति से बँधी है; एक 'शक्ति' या ऊर्जा (एनर्जी) है जो स्व-नियंत्रण भी करती है। प्राचीन रहस्यानुभवों में इसे प्रकाश (चैतन्य) रूप 'परम् शिव' की विमर्ष 'शक्ति' कहा है जो आनन्द, इच्छा, क्रिया और ज्ञान नामक शक्तियों में विभक्त होकर पुरुष को काल (टाइम), नियति (स्पेस), विद्या (नॉलिज), कला (एक्ट) और राग (पैशन) का भौतिक प्रबोध कराती है। तब शिव 'पुरुष' हो जाते हैं, और शक्ति 'प्रकृति' एवं 'माया'। इस तरह शक्ति के स्व-नियंत्रण के द्वारा शिव ही पुरुष हो जाते हैं। उक्त रहस्यवाद में सामाजिक शक्ति की बहुविधि दशा को प्रतीक पुंज में ढाल दिया गया है। चैतन्य शिवतत्त्व को हम मानवता, मानवजाति, मनुष्य तथा व्यक्ति में समाहित कर सकते हैं; चैतन्य शिव की 'चितिशक्ति' को ही साइकिक 'ऊर्जा' मान सकते हैं जो ज्ञान, क्रिया, इच्छा और आनन्द रूपों में प्रकट होती है और अंततः समाधिस्थ शिव में लीन हो जाती है। अतः उसका प्रकट होकर 'लीला' करना चेतनावस्था, और 'लीन' हो जाना अवचेतन दशा है। इसका सम्बन्ध शिव से भी है, और पुरुष से। यह पुरुष के 'कंचुक' होकर उसको स्व-नियंत्रित करती है। चिति शक्ति की ऐसी स्थापना को जुंग ने एक लैटिन नाम 'लिबीडो' (उच्चारण : 'लि-बीऽऽडो') दिया है। लिबीडो का तात्पर्य 'कांक्षा, कामना, आवेश है। उन्होंने इसे कामना एवं ऊर्जा [या शक्ति (एनर्जी)] के संयुक्त अर्थ में इस्तेमाल किया है।

मध्ययुग में यथार्थता (रियलिटी) का धर्मरहस्य तथा अलौकिक दर्शन से अन्यथाकरण (डिस्टार्शन) कर दिया जाता था। अतः मध्यकालीन बोध में यथार्थता पवित्र (सेक्रेड) और रहस्यात्मक (अलौकिक) हो जाती है। फलतः हम मानव की सभी क्षमताओं, श्रेष्ठताओं, कामनाओं को ऐक-दिव्य तथा दैवी धारणा को अर्पित तथा उस पर आरोपित कर देते हैं। इस तरह पुरुष शिव हो जाता है। आधुनिक सामाजिक-विज्ञान इसे आत्मनिर्वासन (सेल्फ़ ऐलियेनेशन) की एक स्थिति मानते हैं। कार्ल मार्क्स से पहले फायरबाख ने मनुष्य को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए ईश्वर की धारणाओं का उन्मूलन किया। इसे उन्होंने 'अव-मिथकीयकरण' (डी-माइथोलाइज़ेशन) की प्रक्रिया कहा। फलतः समाजशास्त्र और नृतत्वशात्र (ऐन्थ्रोपोलाजी) में ईश्वर के बजाय मनुष्य की प्रतिष्ठा हुई। हमने भी 'चिति-लीला' की मध्यकालीन धारणा का अवमिथकीयकरण करके मनुष्य के अंतर्लोक तथा मानस के कई आयामों का विश्लेषण किया है। अगर हम मिथक एवं धर्म के बीच स्पष्ट सीमारेखा नहीं खींच सकते, तो मिथक और प्रतीक के बीच भी फ़र्क करना मुश्किल काम है। लेकिन इससे हम अलबत्ता मानवजाति की एकता, जीवन की चिरंतनता तथा ऐतिहासिक कालों के अनुरूप मनुष्य की चेतना के रूपांतरण के भेद-विभेद अवश्य जान सकते हैं।

शिव और अनंग का द्वंद्व, शिव और शक्ति की समरसता, अर्द्धनारीश्वर का मिथक, प्रकृति और पुरुष की पारस्परिक प्रक्रिया आदि भारतीय मिथक एवं प्रतीक हैं जो चितिलीला के अनेक कार्यधर्मों का उद्घाटन करते हैं। इस संदर्भ में हम पुनः साइके संबंधी एक दूसरा मिथक पेश करना चाहेंगे। 'डायनोसियाका' (Dionysiaca) में आई एक मिथक में कुमारियों पर फंदे डालने वाली 'आर्तेमिस' और उसकी सहेली 'आउरा' के बीच एक दृश्य का वर्णन है जिसमें आर्तेमिस आउरा के कुचों के गुदगुदे मुलायमपन तथा उसके शरीर की सामान्य स्त्रैणता (फेमिनिटी) की आलोचना करती है। आर्ते मिस के कटाक्ष से आहत आउरा बदला लेने के लिए वनदेवता नेमेसिस (जो बाद में ट्रेजेडी का अधिशासनदेवता हो जाता है) के पास जाती है। नेमेसिस इरोस के साथ षड्यंत्र करके आउरा का कौमार्य भंग करता है। डायोनीसस को इतनी शराब पिलाई जाती है कि मदमत्त होकर वह सोती हुई आउरा के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ विश्वासघात करता है। इस मिथक में इरोस की भूमिका बदली है और अफ्रोदीत का स्थान नेमेसिस ले लेता है। किन्तु यहाँ चिति की गहराई में जाने पर हमारे सामने यूनानी राष्ट्र की यौन-संस्कृति का पैटर्न भी उन्मीलित हो जाता है। आर्तेमिस-आउरा-संवाद में यूनानियों की 'समरति' (होमो-सेक्सुअलिटी) की मनोवृत्ति का उद्घाटन होता है। उनके आदर्शों में सच्ची क्वाँरी को छोकड़े-जैसा (boyish) होना चाहिए, अर्थात् उसमें मांसपेशियों का उभार तथा पौरुष का संभार होना चाहिए, अर्थात् नारी-शोभा और नारीत्व का निर्धारण सुहागसेज-वाला-कमरा न करके व्यायामशाला (जिमनेशियम) करती थी। तदनुकूल नारी के पयोधरों के सेब-जैसे (apple-like) आकार तथा आकृति का निश्चय समरतिमूलक दृष्टि करती है। यूनानी मिट्टी के बर्तनों पर अंकित कुमारिकाओं के चित्र किशोर बालकों के अनुरूप-से हैं। इसी कथा का डायनीसस-आउरा वाला खण्ड भिन्नरति (हेटरो-सेक्सुअलिटी) का प्रतीक देता है। लेकिन सम्पूर्ण कथा में रति की द्वैतावस्था है। यूनानियों की समरति की दूसरी मिसाल लेस्बोस द्वीप की कवयित्री सेफो की जीवनी है जो कुमारी एत्थिस से प्यार करती थी। अतः मनोविश्लेषण ने 'लेस्बियन-प्रेम' का भी एक भेद स्वीकार किया है।

यहाँ इस मिथक-कथा को हमने इस ढंग से निरूपित किया है कि मिथक ही रूपांतरित होकर प्रतीक-दशा के वृत्त में प्रतीक बन जाता है। यूनानियों के विलक्षण 'सांस्कृतिक पैटर्न' के अन्तर्गत उनकी प्रजाति (रेस) में चितिशक्ति का प्रवाह उक्त मिथकात्मक प्रतीकों द्वारा कार्यवाहित होता रहा है। इस प्रतीक-कृत्य में नीति एवं धर्म के हाशिये विलुप्त कर दिये गए हैं। धर्म के आध्यात्मिक एवं दार्शनिक प्रतीकीकरण के उदाहरणार्थ शिव-शक्ति और पुरुष-प्रकृति की रूढ़ व्याख्याएँ दी गई थीं। ऐसी स्थिति का चितिमय (साइकिक) अनुभव अन्यथाकृत होकर 'रहस्यवादी अनुभव' हो जाता है। कुल मिलाकर मिथकीय चेतना से ही जादू, धर्म, दर्शन और कला के लोक झिलमिलाते चलते हैं। इस तरह मिथक एक ओर चितिशक्ति (साइकिक एनर्जी) के प्रवाह के कुतुबनुमा हैं, दूसरी ओर स्वयं प्रतीक हो जाते हैं, और तीसरी ओर नई-नई वैयक्तिक अनुभूतियों एवं सामाजिक संबंधों से मंडित होकर चेतना का विकास और रूपांतर भी करते हैं। आदिम मानसिक अमल में तो प्रतीकों की बेहद महत्ता थी और आधुनिक मनुष्य के अंतर्लोक में भी प्रतीक उतने ही जीवंत तथा आदिम होकर मौजूद हैं। अलबत्ता वे अवगुंठित हो जाते हैं, खण्डित हो जाते हैं अथवा पदावनत हो जाते हैं किन्तु विनष्ट कभी नहीं होते।[४]

इस तरह प्रतीक यथार्थता के उस पहलू—और सबसे गहरे पहलू—का उद्घाटन करते हैं जो ज्ञान के किसी दूजे कम्पास में नहीं नापा जा सकता। इस तरह मिथकाव-गुंठित प्रतीक हमें मनुष्य के यथावत् स्वरूप की पहचान कराते हैं। ये प्रतीक सिद्ध करते हैं कि प्रत्येक 'ऐतिहासिक' मनुष्य अपने संग-संग प्रागैतिहासिक मानवता का बहुत-कुछ अधिग्रहण (एडाप्ट) करता है, और ऐतिहासिकता से पलायन करने पर वह पुनः सपनों, दिवास्वप्नों और चिति (psyche) के लोक में खो जाता है। इन दशाओं में मिथकीय अतीत 'आर्केटाइपल प्रतीकों' के रूप में जाग उठता है। चिति की यथार्थता में से प्रतीक कभी भी हमेशा लापता नहीं हो सकता।

दुनिया के सभी इंसानों तथा राष्ट्रों में हम पुनः आर्के-टाइपों को नवजीवित तथा पुनरुज्जीवित होते हुए पाते हैं क्योंकि चिति की यथार्थता से प्रतीक का विलयन कभी नहीं होता। अतः आधुनिक मनुष्य भी आर्केटाइपल प्रतीकों का पुनरान्वेषण करता है, क्योंकि ये प्रतीक और मिथक विशिष्ट सामाजिक दशाओं तथा सामाजिक चेतना से मनोजन्म लेते हैं। अतः मनुष्य की चितिलीला (साइकिक प्रोसेज़) में ये उसकी वैयक्तिक, सामूहिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय चेतनाओं का भी विकास करते हैं। इन वैश्वक मिथकाच्छादित प्रतीकों के माध्यम से भी हम 'मनुष्य' और 'मानवता' की धारणा की पुष्टि होती पाते हैं जो प्रजाति (रेस) तथा ऐतिहासिक परिवेश के राष्ट्रीय स्वरूपों की विशिष्टता को भी घुला देती है। इस तरह आदिम प्रतीकों के रूप (फार्म्स) तो राष्ट्रीय होते हैं, किन्तु विषयतत्त्व (कान्टेन्ट) वैश्वक या यूनिवर्सल। ऐतिहासिक हो अथवा आधुनिक, मनुष्य की प्रत्येक अस्तित्ववादी (एक्जिस्टेंशियल) स्थिति में प्रतीक अनिवार्यतः प्रकट होकर उसे रूपांतरित (मेटामारफोज़) करते हैं। मनुष्य की चिति नितांत तात्कालिक (इमीडियेट) है, अतः यह अतिशय रूप से यथार्थ है, लेकिन अन्तर्मुखी भी है। अतः यह अपने अनुरूप ही बाह्य यथार्थता का अनुभव करती है। इसलिए यह यथार्थता को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

झूठा भी कर सकती है और रूपांतरित भी। चिति के ये कार्य-धर्म (फ़ंक्शन) प्रतीकों के माध्यम से होते हैं। कभी किसी कार्यधर्म और प्रतीक में परस्पर **आरोप** हो जाता है, तो कभी किसी अनुभव को प्रतीक बना दिया जाता है। हम शंख और सीप और मछली के प्रतीकों का दृष्टांत ले सकते हैं। शंख और मछली, सीप और घोंघे आदि अफ्रोदीत, वीनस, लक्ष्मी, मीनकेतन (कंदर्प) की कथाओं से जुड़कर काम, रति तथा श्री के कार्यधर्मों का वहन करते हैं। एक ओर तो इन वस्तुओं की आकृतियाँ नारी की योनि या पुरुष के लिंग के समान होती हैं, दूसरे ये मिथकीय देवप्रतीक भी काम एवं रति के कार्यधर्मों से संबंधित हैं। इसलिए देवताओं के कार्यधर्म तथा वस्तुओं की आकृति के आरोप से हम प्रजनन और मैथुन की अनुभूतियों का भोग करने लगे। विष्णु के आयुधों में शंख भी एक है; हिन्दू-विवाह के अवसर पर शंखनाद होता है, गर्भवती नारी को देखने पर उन्मत्त काम अर्थात् प्रतीक सर्प अन्धा हो जाता है, इत्यादि। इस तरह प्रतीक कर्मकांड तथा रूढ़ परम्पराओं के कार्यधर्म भी निबाहते हैं। आधुनिक मनुष्य भी संकट के समय प्रतीकों का इस्तेमाल करता है। शत्रु अथवा शत्रुराष्ट्र के संबंध में यह धारणा कि वह राक्षस है और अमंगलों का पुंज है, हमारे देशों में आज तक जीवित है। प्राचीन कालों में शत्रुओं को आसुरी माया से सम्पन्न माना जाता था। इसकी तुलना में अपने राष्ट्र को स्वर्ग, देश को पवित्र, नेता को अवतारी मानने के पीछे भी प्रतीकों का रहस्यात्मक प्रभाव है। अर्न्स्ट कैसीरर ने 'दि मिथ ऑफ़ दि स्टेट' शीर्षक पुस्तक में मनुष्य तथा राष्ट्र के मानसिक अमल में इन राजनीतिक प्रतीकों की भूमिकाओं का निरूपण किया है। विराट् आंदोलन और महत्तम क्रांतियाँ भी प्रतीकों पर आरूढ़ होकर गतिवान होती हैं। रूसो-संमत 'आदिम भोलेपन और प्राकृतिक स्वतंत्रता' से आंदोलित होकर लोगों ने फ्रांसीसी क्रांति की; प्रोमेथियस के चिरंतन विद्रोह के प्रतीक को लेकर मार्क्स ने 'मज़दूर' का अन्तर्राष्ट्रीय प्रतीक प्रसारित किया; एवं साम्राज्यवाद को समाप्त करने के प्रखर संघर्ष के निर्णय को प्रसारित करने के लिए माओ-त्से-तुंग ने साम्राज्यवादियों को 'कागज़ी बाघ' का शानदार प्रतीक दिया। सारांश में, हमारी चितिलीलाओं को उनसे जन्मे प्रतीक अभिव्यक्त करते हैं, और वे (प्रतीक) हमारी चितिलीलाओं का सूत्र-संचालन भी करते हैं। यह दुतरफा कार्य बहिर्मुखी सामाजिक शक्तियों और अन्तर्मुखी वैयक्तिक संकल्पों के सहयोग से ही हो पाता है।

: ४ :

केवल चितिलीला (साइकिक प्रोसेस) या मानसिक अमल के क्षेत्र में प्रतीक मात्र सैद्धांतिक कार्य (एक्शन) कर सकते हैं, न कि व्यावहारिक काम (वर्क)। अतः गतिशील चिति की गति को रूपकों के माध्यम से प्रकाशित किया गया है और उसके कार्यधर्मों को 'शक्ति' (पावर) अथवा 'ऊर्जा' (एनर्जी) कहा गया है। इस 'चितिशक्ति' या 'चितिऊर्जा' को हम सांख्यदर्शन की 'प्रकृति' के साधर्म्य से समझ सकते हैं जहाँ भूत (मैटर) निरंतर तथा स्थायी गति में व्यस्त है। प्रकृति से 'महत्', महत् से 'अहंकार', अहंकार से 'मन', मन से नाना 'इन्द्रियों' का विकास दार्शनिक मनोविज्ञान के द्वारा बहुत-कुछ स्पष्ट हो जाता है। प्रकृति सृष्टि और प्रलय के ध्रुवांतों में झूलती है: कभी व्यक्त होती है, उन्मीलित होती है; और कभी अव्यक्त और निमीलित। इन विपरीत अवस्थाओं की निरंतर द्वन्द्वात्मकता (डायलेक्टिक्स) के फल-स्वरूप जो नया समन्वय (सिंथीसिस) होता है वह 'प्रतीक' है जिसमें प्रज्ञा (इंट्यूशन) तथा प्रमा (रीज़न) की विलक्षण अशांत संगति है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक जुंग प्रकृति या 'चितिशक्ति' को 'लिबीडो' कहते हैं जो दो विपरीत ध्रुवांतों (पोलारिटीज़) के बीच सतत् प्रवाहित रहता है: ज्वार-भाटे की भाँति। आप चाहें तो उन दो ध्रुवांतों का नामकरण, चेतन-अवचेतन, या इदम्-नैतिक अहं कर सकते हैं। लेकिन ये विपरीत परस्पर विरुद्ध न होकर प्रतिलोम हैं। फिर भी, यह रूपकों द्वारा की गई व्याख्या ही तो है। इवान पावलोव इसे 'प्रथम सांकेतिक व्यवस्था' (फर्स्ट सिग्नल सिस्टम) तथा 'द्वितीय सांकेतिक व्यवस्था' के नाम देते हैं। मार्क्स इसे दो विपरीत वर्गों के बीच का संघर्ष बताते हैं जिसके परिणाम-स्वरूप 'क्रांति' का आविर्भाव होता है। अथवा वे इसे काम (वर्क) और चिंतन (थिंकिंग) का नाम देंगे जिसके फल-स्वरूप प्रकृति का मानवीयकरण (ह्यूमेनाइज़ेशन ऑफ़ नेचर) करते-करते 'इतिहास' का आविर्भाव होता है; रोमांटिक योहान् वूल्फगांग गोएथे (१७४९—१८३२) इसे तनाव और खिंचाव (स्ट्रेस एंड स्ट्रेन) का नाम देते हैं जिससे सुन्दर और कुरूप, अँधेरा और उजाला, गम्भीर और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हास्यात्मक आमने-सामने हो आते हैं। स्वयं गोएथे के 'फाउस्ट' की मार्गरेट और हेलेन, तथा रोमांटिक फ्रांसीसी चित्रकार देलाक्रॉ (१७९८—१८६३) ने 'शिओस का कत्ले-आम', 'पागलखाने में टासो', 'लोगों का नेतृत्व करती हुई स्वतंत्रता' जैसे फलकों को चित्रित किया। इससे यह अनुमान पक्का हो जाता है कि विपरीतों (अपोजिट्स) के द्वंद्व के बगैर शक्ति या ऊर्जा का आविर्भाव नहीं हो सकता। और, प्रतीक ऊर्जा के इन्हीं ध्रुवांतों, अथवा शक्ति की सृष्टि-प्रलय धाराओं में डूबती-उतराती मणियों जैसे हैं।

कार्ल जुंग लिबीडो अर्थात् प्राकृतिक चिति शक्ति को प्राकृतिक ऊर्जा मानते हैं। यह जीवन के प्रयोजन संपादित करती है। निरंतर प्रवाहित होने के कारण इसकी मात्रा तथा तीव्रता घट या बढ़ सकती है जो दो विपरीत ध्रुवांतों के बीच तनाव की मात्रा के अनुपात में होगी। लिबीडो की अतिरिक्त ऊर्जा—जीवन की मूलप्रवृत्ति वाले (इंस्टिंक्टिव) प्रयोजन पूरा करने के बाद—सृजनात्मक कार्यों और सांस्कृतिक प्रयोजनों में इस्तेमाल हो सकती है। जुंग चेतना की माँगों को संतुष्ट करने वाली (लिबीडो की) अग्रगति को 'प्रगमन' (प्रोग्रेशन) तथा अवचेतन की माँगों को संतुष्ट करने वाली (लिबीडो की) पुरोगति को 'अगमन' (रिग्रेशन) कहते हैं। 'प्रतीक' इस ऊर्जा को दिशा (नियंत्रण) तथा अर्थ (अभिव्यक्ति) देते हैं। अगमन में एक स्वप्निल मानसिक दशा रहती है; और इसी दशा में, तथा केवल अवचेतन में ही प्रतीक का जन्म होता है। यह प्रतीक लिबीडो को आकर्षित करता है तथा उसकी दिशा में वंकिमता (कर्व) ला देता है। इस तरह चेतन में सोच-विचारकर प्रतीक नहीं उत्पन्न होता, बल्कि एक उन्मेष या स्वयंप्रकाश्य ज्ञान अथवा स्वप्न में उन्मीलित हो उठता है। सारांश में, प्रतीक का संबंध वास्तविक वस्तु से न होकर एक चितिमय तथ्य (साइकिक फैक्ट) से होता है। जुंग यह भी कहते हैं कि प्रतीकों के द्वारा लिबीडो का अन्वयन सभ्यता के आरंभ से होता चला आ रहा है। इसलिए प्रतीक कार्य मानवीय स्वभाव का ही अंग है। अपने लम्बे ऐतिहासिक अभ्यास के दौरान मनुष्य ने अपनी प्राकृतिक ऊर्जा का एक अंश मूल-प्रवृत्ति (इंस्टिंक्ट) से विच्छिन्न करके उसे संकल्प (विल) अर्थात् मन के कार्यधर्म से जोड़ दिया है। अतः यह मनस्तात्त्विक ऊर्जा मूलप्रवृत्त्यात्मक (कालिदासीय 'अबोध-पूर्वस्मृति') उद्गम भी रखती है और वैयक्तिक संकल्पों से अपना अभिषेक करके 'पर्युत्सुकीभावों' से विकल रहती है। इस तरह प्रतीक में व्यक्ति-मन की मौलिक पर्युत्सुकता भी छिपी है जो बहुत गहरे में जाकर मानवीय मूलप्रवृत्ति (अनादि वासना) के विराट् शक्तिपुंज के द्वारा उछाली गई है। किन्तु इसके लिए एक सामाजिक निश्चयता भी है : यह 'मिथ्या चेतना' के द्वारा आत्मनिर्वासन (सेल्फ़-ऐलियेनेशन) में नहीं बिखर पाये।

अगर हम गहराई में जाएँ, तो कार्ल जुंग के इस प्रारूप (माडल) के पीछे सामाजिक विज्ञानों की देन को खोज सकते हैं। सांस्कृतिक प्रयोजनों तथा कलात्मक कार्यों में इस्तेमाल हो सकने वाली 'अतिरिक्त ऊर्जा' की उनकी धारणा मानों कार्ल मार्क्स द्वारा खोजी गई 'अतिरिक्त मूल्य' (सरप्लस वेल्यू) का अंतर्मुखी रूपांतर है। इसी तरह उन्होंने लिबीडो-प्रवाह की कल्पना भी द्वंद्ववाद से ग्रहण की है। प्राचीन यूनानी समाज में संस्कृति और कला के रिनैसाँ की चर्चा करते हुए मार्क्स ने बताया था कि वह दासों के श्रम पर आधारित थी ताकि कुलीनों को बेहद अवकाश मिला। ऊर्जा और अवकाश (लेज़र) के ऐसे ही संबंधों को वेब्लेन ने अपने 'अवकाश-भोगी वर्ग के सिद्धांत' में स्पष्ट करते हुए कहा था कि कला एवं संस्कृति अवकाश में जन्म लेती हैं, कर्म में नहीं। अतः उच्चवर्गीय विचारधारा (आइडियोलाजी) का सारा परिगठन (सुपर स्ट्रक्चर) कर्म और श्रम को हीन तथा अपवित्र तथा अगौरवपूर्ण मानकर विलासपूर्ण अवकाश (लेज़र) में जिस संस्कृति का निर्माण करता है वह सुखमय (प्लेज़र) है। मध्यकालीन विचारधारा ने इस 'सुख' की धारणा के ऊपर इसकी ही 'आनंद' की धारणा का एक अलौकिक एवं आध्यात्मिक रूप आरोपित कर दिया।

अतएव निष्कर्ष के तौर पर हमें हमेशा यह ध्यान में रखना होगा कि हम चितिप्रक्रिया में प्रतीकों के कार्यधर्म की जाँच-पड़ताल करते समय एक ओर तो घोर असामाजिक व्यक्तिवादी दृष्टिकोणों से बचें; दूसरी ओर उच्च वर्गों के दृष्टिकोणों को सामान्य जनता तथा मानवता की प्रकृति न मान लें, तथा तीसरी ओर सामाजिक चेतना का बलिदान करते हुए 'मिथ्या चेतना' के आदर्शवादी-अध्यात्मवादी रहस्य-लोक में न खो जाएँ। केवल द्वंद्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण ही इस विराट् विश्वैतिहासिक फलक को संतुलित रख सकता है। इसका मतलब यह कतई नहीं है कि हम अतीत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा इतिहास को एक अस्तित्ववादी मनुष्य की तरह नामंजूर कर दें। इसके एवज में हमें मानवीय चिति तथा मानवीय समाज के तत्त्वादि परख के बाद ग्रहण कर लेने चाहिए जो मनुष्य के लिए सर्वसामान्य हैं। अतः हमें जुंग की इस स्थापना से असहमत होना चाहिए कि चितिमय यथार्थता के मिथ्या-धर्म भी बराबर महत्त्व के हैं। इसके बाद ही हम प्रतीकों को व्यक्ति-मन तथा सामाजिक चेतना के अक्षों में संचरणशील बना सकते हैं, अन्यथा वे मात्र 'अनिर्वचनीय ख्याति' में भुला दिये जाएँगे। मनुष्य को प्राकृतिक बनाने के कार्य, तथा प्रकृति को मानवीयकृत करने का संघर्ष सदैव ही अन्योन्याश्रित रहा है। अतः सर्जक प्रतीक केवल चितिप्रक्रिया में ही नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तनों में भी जन्म लेते हैं, तथा उन्हें प्रभावित करते हैं। हमने यहाँ अपने विवेच्य विषय की सीमा और एकांगिता को परिलक्षित किया है।

: ५ :

प्रतीकों में समग्र 'शक्ति' तथा 'अतिरिक्त' ऊर्जा किस प्रकार अभिव्यक्त होती है? इसे समझने के लिए हमें प्रयोगात्मक (एक्सपेरिमेंटल) मनोविज्ञान की दुनिया में जाना होगा। अर्न्स्ट कैसीरर प्रतीकात्मक रूपों (सिम्बालिक फार्म्स) के दायरे में भाषा और मिथक, धर्म और कला को भी शामिल करते हैं। कला के 'प्रतीकात्मक रूप' होने का तात्पर्य यह है कि शब्द, रेखा, रंग, मुद्रा, भाव आदि कलाकार की चितिशक्ति की दिशा और अर्थ का वहन करते हैं; वैयक्तिक शैलियों और मानसिक मौलिकता को विशिष्टता देते हैं; तथा कला के सामाजिक इतिहास में समाज एवं इतिहास का **दर्पण** तथा **दीपक** हो जाते हैं। उपर्युक्त नतीजे अनिवार्य रूप से स्वयंसिद्ध हो जाते हैं। इनसे यह भी उद्घाटित होता है कि शब्द, रेखा, रंग, मुद्रा, भाव आदि भिन्न-भिन्न माध्यमों से आविर्भूत होने वाली सौंदर्यबोधात्मक इकाइयों (एस्थेटिक यूनिट्स) में कोई एकतान-व्यापार भी है। इसलिए शब्द रेखा में, रेखा मुद्रा में, भाव रंग में, मुद्रा शब्द में ढला रूपकत्व भी पा सकती हैं; तथा रूपांतरित भी हो सकती हैं। कलाकारों के स्वभावों, प्रभावों तथा शैलियों को समझने के लिए यह एक बेहद महत्त्वपूर्ण सूत्र है। कला-इतिहास तथा इतिहास-दर्शन में इस सूत्र से कलाओं के **वर्गीकरण** तथा उनके **अंतर्संबंधों** की छानबीन करने की दिशाएँ भी मिल सकती हैं। एक मूर्ति बनाने में चितिऊर्जा अधिक **समय** तक इस्तेमाल होगी; एक चित्र बनाने में चिति-ऊर्जा अधिक **स्थान** पर फैलेगी; एक नृत्य करने में अधिक **बल** (पावर) की अपेक्षा रखेगी; एक वेणुगीत रचने में अधिक **तीव्रता** से फूट पड़ेगी; इत्यादि। इस तरह कलारूपों के प्रतीक चितिऊर्जा की दिशाओं की भूलभुलैया रचते हैं। इसके साथ ही वे सभी कलाओं के एकधारा 'अनुभव' ('अर्थ' के बजाय) की एक 'वैश्वक भाषा' (यूनिवर्सल लैंग्वेज) की संभावना को साकार करते हैं। इस तरह साहित्य एवं काव्य के अलावा अन्य सभी कलाओं में अर्थ के सवाल को हल करने वाले प्रतीक ही हैं।

जेस्टाल्टवादी सौंदर्यबोध-शास्त्रियों ने बोत्तिचेली, राफेल, माइकेल एंजिलो आदि के चित्रफलकों की इन्फ्रा-रेड एक्स-किरणों द्वारा रंगीन फिल्में लीं। एक ही चित्रफलक की निरंतर बढ़ती हुई नितांत सूक्ष्म पर्त्तों वाली रूपरेखाएँ उभारने के लिए मिली-माइक्रोन वेवलैंथों (तरंगदैर्घ्यों) का इस्तेमाल करके उसकी चित्रावली तैयार की गई। बोत्तिचेली कृत 'वीनस का जन्म' तथा लियोनार्दो-दविंची कृत 'मोनालिसा' की जो ऐसी क्रमिक गहराई वाली कई प्रतिकृतियां खींची गईं उनके अध्ययन से यह ज्ञात हो गया कि इन चित्रकारों की पहली रूपरेखा क्या थी; आकृतियों में कहाँ-कहाँ तथा कब-कितनी बार परिवर्तन किये गए; कूचियों की छाप लगाने की पद्धति कैसी है; इससे कलाकार की विशिष्ट शैली का आविर्भाव किस तरह हुआ; किन स्थलों पर कलाकार ऊबा है और कहाँ तन्मय हुआ है; कहाँ उसने जल्दी मचाई है और कहाँ वह आलस्य कर गया है; किन अंगों, वस्त्रों, आभूषणों या वस्तुओं में वह मोहासक्त हुआ है; एक खंड को अंकित करने के बाद दूसरा खंड कितनी देर बाद (रेडियो-कार्बन पद्धति के प्रयोग से) उसने अन्य खंड चित्रित किये हैं···। यह ज्ञात हुआ कि बोत्तिचेली ने वीनस की कटि, कुच तथा झूलती-झूमती केशमाला में अठारह-उन्नीस बार परिवर्तन किये हैं; लियोनार्दो की मोनालिसा की मूल छवि दूसरी थी; इत्यादि।[५] कोई विशेष अंग, मुद्रा, रंग, वस्त्र, आभूषण आदि बार-बार अंकित होने पर यदि एक पैटर्न होकर शैली बनता है तो हर पुनरांकन में चिति की अनुपम अनुभूतियाँ उस वस्तु को प्रतीक-दशा के प्रभामंडल से ज्योतिर्मय कर देती हैं। जेस्टाल्ट मनोविज्ञान संपूर्णता को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधार मानकर चलता है। अतः चितिप्रक्रिया में शक्ति या ऊर्जा के विविध रूपों तथा दिशाओं को ग्राफ में बिंदुलित किया जाता है।

किसी एक चरण में सृजन के दौरान मूल शक्ति या प्राकृतिक ऊर्जा 'ऊ' (मू) है, कलाकार की सृजनात्मक ऊर्जा 'ऊ(सृ)' है; और कलाकृति के मुकम्मिल हो जाने पर अवशेष ऊर्जा 'ऊ(शे)' बच जाती है; तब संपूर्ण ऊर्जा को अगर 'ऊ' मानें तो यह स्थिरांक 'K' होती है। इस तरह—

(i) ऊ = K

(ii) ऊ = ऊ(सृ) + ऊ(मू) + ऊ(शे) = K

जिन कृतियों में प्रतीक ऊर्जा-प्रवाहों पर आरूढ़ होकर श्रेष्ठता और मानवचिति का अधिग्रहण कर लेते हैं, उनमें (iii) ऊ(शे) > O होता है। उन कृतियों में ऊ(सृ) क्रमशः घटती जाती है तथा ऊ (मू) बहुत अधिक होती है। जेस्टाल्ट ने ऊ(शे) के आधार पर यह पाया कि प्रतीकों के अर्थ जितने अधिक गहरे तथा व्यापक होते हैं उसी अनुपात से यह ऊ(शे) इच्छाशक्ति की स्थिरता, पाठकों की तृप्ति (रसभोग), प्रतीकों के अर्थगर्भत्व का मानदंड हो जाती है। श्रेष्ठतर दशाओं में ऊ(शे) न्यूनतम होती है; और आदर्श स्थिति में शून्य होती है। इस ऊर्जा-त्रयी से यह भी ज्ञात होता है कि कलाकार किस तरह अधिकाधिक परिष्कार तथा लावण्य के हेतु माध्यम से, और मन से, संघर्षलिप्त रहा है। माइकेल एंजिलो की सृजन-प्रक्रिया तत्स्फूर्त (स्पोंटेनियस) है और लियोनार्दो की अभ्याससाध्य (पेन-स्टेकिंग)। आमतौर पर इन ऊर्जाओं के अंकन से यह पाया गया कि आरंभ में कलाकारों की ऊर्जा बहुत बिखरी तथा थकी हुई होती है; फिर धीरे-धीरे व्यवस्थित और घनीभूत होती है; तथा अंत में घबराहट कम होती हुई तथा आत्मविश्वास बढ़ता हुआ नज़र आता है। इस तरह प्रतीकों के कार्यधर्म का नक्शा भी खुल जाता है। इसके साथ कला की दैवी प्रेरणा और रस की अलौकिकता के दैवी नकाब भी उतरे आते हैं। ग्राफ़ के X-अक्ष पर लंबाई की शक्ति [चित्र में क्षेत्रफल, काव्य में समय, आदि] को बिंदुलित किया जाता है, तथा Y-अक्ष पर ऊ(शे) अर्थात् श्रम की मात्रा को। शुरू में तो ऊ(शे) बहुत ही नमित होती है किन्तु प्रतीकों के जादू तथा दिशा में बँधकर एकदम ऊँचे उठ जाती है। इस तरह तनाव से उन्मुक्ति होते ही 'विश्रांति (रिपोज़) की ऐंद्रिकता' नष्ट हो जाती है। सृजन-प्रक्रिया को वैज्ञानिक भूमिका देने में इस पद्धति का महत्त्व तो स्वयंसिद्ध है ही (दे० संलग्न ग्राफ)—

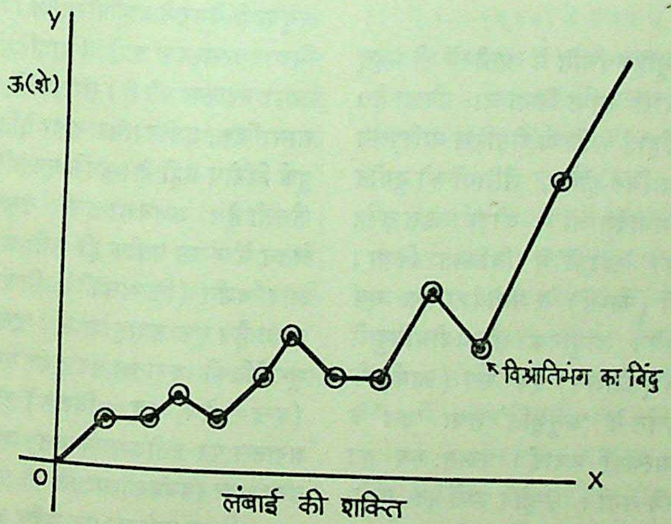

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब इस फलक का दूसरा पक्ष। एक व्यक्ति की चिति के घेरे में व्यापक समूह, वर्ग, राष्ट्र के व्यापक मानस-वृत्त होते हैं। लेख के शीर्षक की वजह से हमें यह गलतफहमी नहीं होनी चाहिए कि प्रतीकात्मक अभिव्यंजना किसी वस्तु या कर्म की भौतिक तथा विशेष प्रामाणिकता (वेलिडिटी) को बर्खास्त कर देती है। वास्तव में प्रतीक तो किसी वस्तु या कर्म में एक अतिरिक्त महत्ता भर जोड़ देता है। इस संयोग के बावजूद वस्तु या कर्म की तात्कालिक या 'ऐतिहासिक' महत्ता बरकरार रहती है। हमें 'प्रतीकात्मक' तथा 'ऐतिहासिक' को परस्पर विरुद्ध नहीं मानना चाहिए। ऐतिहासिकता के कारण ही प्रतीकात्मकता को नये-नये हाशिये मिलते हैं, तथा प्रतीकात्मकता इतिहास को वैश्वकता और चिरंतनता प्रदान करती है। इतिहासदर्शन में हम संपूर्ण मानवता, संस्कृतियों, कालों, आन्दोलनों, घटनाओं, चरित्रों तक को प्रतीकीकृत होते हुए पाते हैं। जीवन तथा जगत् के प्रति नये बोध का उन्मेष करने वाली आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियाँ परोक्ष रूप से पुराने बोधों का निमेष कर देती हैं। इटली के रिनैसाँ ने मध्यकालीन दुनिया की आध्यात्मिकता का विलयन कर डाला; गुप्तयुगों की क्लासिकल प्रतीक छवियों ने पूर्ववर्ती भरहुत-साँची के प्राक् (आर्केइक) प्रतीक रूपों को घुलाकर तराश दिया; इत्यादि। हमारी स्थापना यही है कि प्रतीक समूह, वर्ग तथा राष्ट्र की चेतनप्रक्रिया में भी सक्रिय रहते हैं; और अधिक सशक्त तथा प्रकट ढंग से।

प्रजाति या वर्ग की सामूहिक चिति में प्रतीकों की महत् भूमिका को कुछ संकेतों के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। रिनैसाँ के महान् अध्येता वर्कहार्त के शिष्य हीनरिख वाल्फ़्लिन ने, चित्रकार ड्यूरेर से अनुप्राणित होकर, शैलियों को युगीन चेतनाओं अथवा युग की मनोदशाओं से जोड़ा। इस तरह उन्होंने रूपात्मक शैलियों को 'टाइपों' में विविक्त किया। इसके साथ ही उन्होंने रूपों (फार्म्स) के मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय उद्गम खोजे। आधुनिक सौंदर्यबोधविदुषी सुशाने लैंगर ने भी अनुभूति (फ़ीलिंग) एवं रूप (फ़ार्म) के अंतर्संबंध खोजे हैं। वाल्फ़्लिन ने 'अनुभूति' तथा 'रूप' के बीच 'निश्चयता' की मध्यस्थता कराई। फलतः रूप का निर्धारण इतिहास-दशा करने लगा। उन्होंने रूपों का मनोविज्ञान खोजा। रेखा, छवि, भंगिमा, वर्णभंग, प्रकाश-छाया वस्त्रों की चुन्नटों और ज़री की कारीगरी आदि का अनुशीलन करके उन्होंने उन वस्तुओं के अनुभवों की धुँधली छायाएँ बाँधीं। इस उपक्रम में उन्होंने आकृतियों की सरलता और स्वच्छता का, स्वयंप्रकाश्यज्ञान की समृद्धि का, संबंधों की एकता तथा अनिवार्यता का मनोमंथन भी किया। उन्होंने शैलियाँ रूपों की प्रतीक मानीं जो (जुंगीय सादृश्य के अनुरूप ही) छै ध्रुवांत युगलों में प्रवाहित हैं: (क) तकनीकी-वनस्पतीय, (ख) अनुपात कार्यधर्म, (ग) आदर्श-यथार्थ, (घ) स्थिर-गत्यात्मक, (ङ) समीम-असीम और (च) नियमितता-अंतरता। इन सभी के आधार में उन्होंने एक विशेष जीवन की भावदशा (Lebensstimmung) और विश्वदृष्टि को प्रतिष्ठित किया। आजकल नेत्र, मुख, वेशभूषा, वसन, स्तन, हाथ, मुस्कान, आदि को लेकर ही जो ऐतिहासिक अध्ययन हो रहे हैं उनमें इनसे संबंधित नाना बारीकियाँ, शैलियाँ, युगबोध, सामाजिक रुचियाँ आदि इन्हें प्रतीक बना देते हैं। तब इनके कार्यधर्म भौतिक और ऐतिहासिक प्रक्रियाओं में भी उद्घाटित हो जाते हैं। आधुनिक समाजशास्त्र के जनक मैक्स वेबर ने शैलियों तथा सभ्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए यह बताया है कि किस तरह सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक रूप में एक ही मिथक अथवा धार्मिक रूढ़ि एक सामाजिक वर्ग में, इसके बाद एक कानूनी व्यवस्था में, एक कलारूप में, एक तर्क व्यवस्था में, एक यौन-नैतिकता आदि में स्थानांतरित हो जाती है। कार्ल मार्क्स के आरंभिक अनुयायी वेबर ने यहाँ परिगठन (सुपर स्ट्रक्चर) के एकस्तरीय विचारधारात्मक रूपों (आइडियोलाजिकल फार्म्स) की ही उदार व्याख्या की है। सारांश में, चितिमय (साइकिक) तथा सामाजिक, प्रतीकात्मक तथा ऐतिहासिक के बीच असमन्वयपूर्ण विरोध नहीं है। इनके एकांगी ग्रहण के कारण ही गड़बड़ी फैलती है। अलबत्ता इनके समन्वय से रहस्यपूर्ण और अवचेतन में जन्मा प्रतीक ही शनैः-शनैः अन्यापदेश (एलिगरी) और दर्शन (फिलासफी), निजंधर (लीजेंड) आदि बन जाता है। एक उदाहरण लें : 'इन्द्र ने वज्र फेंका'। यह मिथक भू-भौतिकी धरातल पर तुरंत एक सचेतनापरक अन्यापदेश (इन्द्र=मेघ, वज्र=विद्युत) हो जाता है तथा मनोवैज्ञानिक धरातल पर प्रतीकात्मक बन जाता है जब इन्द्र चेतना का तथा वज्र स्वयंप्रकाश्यज्ञान का प्रतीक हो जाते हैं। और यही आध्यात्मिक धरातल पर दर्शन बन जाता है जिसके अनुसार माया के पाशों को दिव्य प्रकाश काट देता है। निजंधरों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप में कई सम्राटों ने 'वज्रधारी' की उपाधियाँ धारण कीं, अथवा 'नरेन्द्र' हो गए।

अतः चिति-प्रक्रिया के अंतर्गत भी प्रतीक, चिह्न (साइन), मिथक, अन्यापदेश (एलीगरी), रूपक (मेटाफर), निजंधर (लीजेंड) में रूपान्तरित होकर कार्यरत रहता है। चिति तथा समाज, दोनों ही क्षेत्रों में ध्रुवांतों के बीच प्रवाहित होती हुई शक्ति की धारणा ही केन्द्रीय है।

अब तक हमने जेस्टाल्ट और तदुपरान्त 'सांस्कृतिक जेस्टाल्ट' के अंतर्गत शक्ति की सुव्यवस्था में प्रतीकों का दिग्दर्शन कराया है। अब शक्ति के केन्द्रापसारी (सेंट्रीफुगली) होकर बिखरने की अवस्था में प्रतीक की भूमिका का अध्ययन कर सकते हैं। इसके लिए हम एक लंबी छलाँग लगाकर आधुनिक चित्रकार पैब्लो पिकासो की मिसाल लेंगे। पहले विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद तीसरे दशक में उन्होंने जिन चित्रों को बनाया उनमें फ्रांसीसी चित्रकार इन्ग्रे, और उसके प्रेरणास्रोत राफेल की क्लासिकल परंपरा के साथ माइकेल-एंजिलो की शिल्पात्मक विलक्षणता का मेल था। लेकिन दूसरे महायुद्ध के बाद चौथे दशक में उन्होंने जो चित्र अंकित किए उनमें मुख, भुजाओं और पाँवों के कोण गड्ड-मड्ड कर दिये गये; वे आयामहीन स्थान (स्पेस) में गुड़मुड़ा गये; तथा मानव-शरीर क्षतविक्षत खंड-खंड बना दिया गया। उन्होंने यह अनुभव कराया कि किस सीमा तक कुरूप (अगली) तथा किमाकार (ग्रोटेस्क) मिलकर सुन्दर के पूरक तथा खंडक बनते हैं। उन्होंने आकृतियों में खुरदरे क्रिस्टल की तरह अनेक सतहों तथा आयामों को एक साथ उभारा है जिससे उनकी मूल या अनादि शक्ति अनियंत्रित तथा उन्मुक्त होकर बिखरी। इस तरह वे न तो असौन्दर्य के, और न ही शोभा के चितेरे हैं। वास्तव में वे 'शक्ति' के चित्रकार हैं। इसी तरह मार्क चागल 'स्वप्न' के, तथा साल्वेदोर डाली 'फान्तासी' के चित्रकार हैं। चागल में शैशव और यौवन के भोले प्रतीक हैं, तो डाली में 'आतंक' (हारर) के प्रतीक। 'असौन्दर्य' के अलावा 'घृणा', तथा उससे उत्पन्न पश्चात्ताप और शर्म वाले प्रतीक-बिंब भी उभरे।

इस भाँति 'शक्ति', 'स्वप्न', 'भोलेपन', 'घृणा', 'आतंक', आदि की भी प्रतीक-दशाओं (सिम्बालिक सिचुएशंस) ने आधुनिक चिति-प्रक्रिया को अन्वित किया है।

: ६ :

लेकिन ऊपर संकेत की गई प्रतीक-दशाओं में बेहद निजता (प्राइवेसी) के आने की सम्भावना है; और वह आई भी। फलतः 'व्यक्तिगत प्रतीकत्व' (पर्सनल सिम्बालिज़्म) का फैलाव हुआ। अब सामाजिक शक्ति या चिति-ऊर्जा के आधार तिरोहित होने लगे। अतः अर्थ-भ्रान्तियाँ (एंबिग्वि-टीज़), विभ्रान्तियाँ (कन्फ्यूजन्स), वैयक्तिक संदर्भ, आदि प्रतीकों के कार्यधर्म को स्तब्ध और अनुमानविहीन बनाने लगे। किन्तु ऋणक 'व्यक्तिगत प्रतीकत्व' का एक धनक (पाज़िटिव) पहलू भी है। यह अभिव्यंजना की नई संभाव-नाओं, नये रूपकात्मक सम्बन्धों, विलक्षण अलंकारों, अनुभूति की बारीकियों और रूप के प्रयोगों आदि के द्वार भी खोल देता है। इस तरह से यह चेतनता के विकास के एक अगले कदम का भी प्रतिनिधि होता है। इसके साथ ही यह पहलू कलाकार के मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व का उन्मीलन भी करता है। रिनैसाँ चित्रकार लियोनार्दो (१४५२—१५१९) का लालन-पालन दो माताओं ने किया था। अतः उनके चित्रों में शिशु-ईसा दो माताओं से घिरे हुए अंकित हुए हैं; टिशियाँ द्वारा अंकित देवियों के बाद रूबेंस ने जिन आभिजात्य नारियों को अंकित किया उनमें विलासमय मांसलता, शरीर में थुल-थुलापन, त्वचा में चिकनाहट लक्षित होती है। उन चित्रों में शिशु-देवदूतों की संख्या भी बढ़ गई है। कारण, कि रूबेंस (१५७७—१६४०) के समय में और उनके परिवार में उच्च-वर्गों के खानपान तथा भोगविलास में इज़ाफ़ा हुआ था तथा परिवारों में सन्तानों की संख्या भी बढ़ गई थी। बोत्तिचेली (१४४४-१५१०) ने सन् १४८५ में 'वीनस का जन्म' शीर्षक चित्र बनाया। उसकी विचार-वस्तु (थीम) तो यूनानी है किन्तु उसके उपचार में मध्यकालीन ईसाइयत की वर्जनाएँ घर कर गई हैं। अतः 'मूल पाप' की ईसाई-धारणा के फल-स्वरूप शर्म तथा अशोभनता को व्यक्त करने के लिए उसने अपने स्तनों को हाथ से ढँक लिया है। बोत्तिचेली का मानस खुद भी तो रिनैसाँ के नव्य-पेगनवाद तथा मध्यकालीन ईसा-इयत के बीच द्विधाविभक्त रहा था। पिछली शताब्दी के अन्त में जब चित्रकार आगस्त रेनोआ (१८४१—१९१९) की अँगुलियाँ आर्थाइटिस रोग के कारण लुन्ज-पुन्ज हो गई और वे कूची पकड़ने में भी असमर्थ हो गए, तब उन्होंने शरीर की पूर्णता, ऐंद्रिकता और स्वास्थ्य के प्रतीक रूप में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नग्न रमणियों के अनूठ अंकन किये। यही नहीं, इसके बाद से उनके फलकों पर सिदूरी, लाल और गुलाबी जैसे 'गरम' प्रभाव वाले रंगों की प्रचुरता भी हो गई। पाल गोगे (१८४८—१९०३) ने (सन् १८९१ में ताहिती जाने के बाद से) अपने चित्रों में प्रतीकात्मक तत्त्वों की भरमार कर दी जिनमें पवित्रता और भोग, भोलेपन और गम्भीरता के नाटकीय द्वन्द्व उभरे हैं। वान गोग (१८५३—९०) ने तो अपने रंगों में ही अर्थ तथा विद्युत्तरंगों की अनुभूति की। अतः उनके कैनवास का कोना-कोना आन्तरिक पर्युत्सुकता से छटपटाता मिलता है।···इस तरह हम 'व्यक्तिगत प्रतीकत्व' के उदाहरणों को बढ़ाते जा सकते हैं। लेकिन चिति-प्रक्रिया में प्रतीकीकरण के अनुशीलन पर नीचे दी हुई सम्भावनाएँ ही अनुमित होती हैं: (१) **सारूप्य तुलना** (जैसे चन्द्रमा और सोम, सूर्य और अग्नि); (२) **बहिर्मुखी कारणवादी तुलना** (जैसे, हृदय जुड़ाने वाला चन्द्रमा); (३) **अन्तर्मुखी कारणवादी तुलना** (जैसे, गौ और पृथ्वी, मादकता और अंगूर, पयोधर और स्तन); (४) **साधर्म्य तुलना** (जैसे, वियतकांग छापामार शेर की तरह बहादुर और मछली की तरह फुर्तीले हैं)।[६] इस भाँति कम-से-कम चिति-प्रक्रिया में प्रतीक के कार्यधर्मों के उपयुक्त स्तर तथा विधियाँ हैं। इनमें हम रूपक, अलंकार, अन्यापदेश, मिथक और बिम्ब के रूप में भी प्रतीक को रूपान्तरित होते हुए पाते हैं। प्रतीकों की गम्यता का मूल, अनादि रास्ता यही है कि हम 'रूपकात्मक तुलना' (मेटाफोरिक कंपेरीज़न) की क्रीड़ा या स्वप्न या क्रिया में संलग्न हो जाएँ। अतएव चिति-प्रक्रिया में ऊर्जा जिस यथार्थता का अधिग्रहण करती है वह ज्ञानेन्द्रियों एवं मनस् को, प्रतीकों के माध्यम से, अनुभूत तथा अनुमित होती है। अनुभूति की तीव्रता तथा अनुमान के लक्षणों के अनुसार ही प्रतीकपुंज रूपक, अलंकार, अन्यापदेश, मिथक, दिवास्वप्नबिंब आदि हो जाया करता है। इसलिए प्रतीक अकेला न होकर 'प्रतीकपुंज' या 'प्रतीक-स्तवक' के रूप में श्रृंखलाकार उपलब्ध हो जाता है क्योंकि इस पुंज या स्तवक में अभी बताये गए प्रतीकों के 'प्रकार' तथा 'तुलनाओं' के भेद भी गुँथे हैं। शायद इसीलिए सुशाने लैंगर ने प्रतीक में तात्पर्य (मीनिंग), अहमियत (सिगनिफ़िकेंस), उपलक्षण (डिनोटेशन) और सारूप्य (कोनोटेशन) के चार प्रयोजन संश्लिष्ट किये।

: ७ :

किसी भी 'प्रक्रिया' की तरह चिति-प्रक्रिया (साइकिक प्रोसेस) में भी अपूर्णता तथा निरन्तरता और माध्यम तथा कर्म की आवश्यकता रहती है। तदुपरान्त 'कृत्य' या 'कृति' या 'रचना' पूर्ण होती है। इसलिए प्रक्रिया के दौरान चिति-वृद्धि (साइकिक ग्रोथ) के कई स्तर (levels) उभरते हैं। अब एक ओर तो सामाजिक विकास तथा परिवर्तन होता है, दूसरी ओर मनुष्य का विकास तथा परिवर्द्धन होता है। अतः सही हालत तो द्वंद्वन्याय और पूरकन्याय के द्वारा दोनों पहलुओं के सामंजस्य से हासिल होगी। चिति-प्रक्रिया के प्रकार (स्वप्न, मिथक, अन्यापदेश, रूपक, अलंकार, फान्तासी) भले न बदलें किन्तु इनके वाहक और संचालक प्रतीक अवश्य बदल जाते हैं क्योंकि प्रतीकीकरण में तुलनाओं के लिए आर्थिक एवं सामाजिक उन्नतियाँ, नई-नई वस्तुएँ तथा परिवर्तित सम्बन्ध प्रदान करती हैं। कुषाण शुंगकालीन भरहुत की यक्षिणी-मूर्ति और गुप्तकालीन दीदारगंज की यक्षिणी-मूर्ति की तुलना करने पर चिति-वृद्धि के नए स्तर भी मिलते हैं। इन दो मूर्तियों के शिल्पन के बीच के समय में केवल तकनीकी **कौशल** में ही तरक्की नहीं हुई, बल्कि पुनर्प्रस्तुत (रिप्रिज़ेंटेशनल) **प्रतीकों** में ही परिवर्तन हो गया। तैलरंगों के आविष्कार के दौर में बोत्तिचेली तथा टिशियाँ के समय के बीच यूँ तो केवल अस्सी वर्षों का ही अन्तर है लेकिन वहाँ भी संवर्द्धित कौशल और तदनुरूप अपेक्षित कुशलतर प्रतीकायन साफ़ तौर पर लक्षित होता है। अतः सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन के नए-नए वातावरणों में ही मानवीय अस्तित्व चेतनता का निर्धारण करता है। फलतः आवश्यकताओं का बोध ही **मौलिकता, वैयक्तिकता** तथा **स्वतन्त्रता** की त्रयी को उद्धारित (ऊपर उठाता) करता है। जो मनुष्य इस उद्धार का अनुभव करके अभिव्यक्त भी कर पाते हैं उनमें 'वैयक्तिकरण' (इंडिविजुएशन) का अभिधान होता है। इस तरह **वैयक्तिकरण के द्वारा ही चिति-वृद्धि होती है।** इसके अलावा एक शिशु से प्रौढ़ के रूप में विकासशील मनुष्य की चिति-वृद्धि के भी उत्तरोत्तर स्तर होते हैं। अतः हम चिति को अकेला करने पर व्यक्तिवाद तथा आदर्शवाद तथा नव्य रहस्यवाद के शिकार हो जाएँगे।

चिति (साइके) के कम्पास में इच्छा, कल्पना, स्मृति, संकल्प, ज्ञान, संस्कार, वृत्ति, वासना, बुद्धि, मन, अहंकार,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चित्त, चैतन्य, अनुभूति, अनुभव, इंद्रियबोध, स्वयंप्रकाश्यज्ञान (प्रज्ञा) आदि आते हैं। इनका ही योगायोग 'व्यक्तित्व' (पर्सनालिटी) तथा 'प्रारूप' (टाइप) का विभेद करता है। हम इनमें से एक तत्त्व या कुछ तत्त्वों को प्राथमिकता देते हैं। उसके आधार पर मानवीय व्यवहारों (विहेवियर) का वर्गीकरण होता है। लेकिन प्रत्येक व्यक्ति की चिति आदिम तथा शैशवावस्था से विकसित होती है। पहले चरण का प्रतिनिधित्व बच्चों के चितारहित खेल; दूसरे का आरम्भिक किशोरावस्था या 'यौगंडावस्था' के दुस्साहसिक रोमांच; तथा तीसरे चरण का प्रतिनिधित्व यौवनावस्था के आत्मोत्सर्ग एवं आदर्शवाद करते हैं।[७] इस भाँति एक अधिक व्यापक तथा प्रौढ़ व्यक्तित्व का आविर्भाव शनैः-शनैः और चरणों में ही होता है। चिति-वृद्धि की अन्तर्दिशा का एक यह ऐसा भी प्रारूप (मॉडल) मुमकिन है। जिस तरह सांख्य दर्शन में 'अन्तःकरण' की धारणा है उसी तरह जुंग-सम्मत 'चिति' है। अन्तःकरण में बुद्धि, मन और ज्ञानेन्द्रियाँ शामिल हैं। चिति के केन्द्र में 'स्व' (सेल्फ) है जो अन्वेषी, संगठक और स्रोत है। 'स्व' तभी स्पन्दित या सक्रिय होता है जब अहं (ईगो) प्रयोजनों एवं इच्छाओं से विमुक्त होकर गहराई में डूबे। यूँ अहं चेतन के क्षेत्र में ही व्यस्त रहता है लेकिन नीचे उतरने पर उसका 'इदं' रूप स्व को स्पन्दित कर देता है। यूँ मालूम पड़ता है कि जुंग चिति-प्रक्रिया में प्रयोजनों तथा चेतनता को निर्णायक भूमिका नहीं देना चाहते। वस्तुतः मनोविश्लेषणवाद (साइको-ऐनालासिस) में 'इंद' के अनुशीलन को ही सर्वोच्च दर्जा दिया गया है। फ्रायड ने इदं-चक्र में ऊर्जा को प्रवाहित होती हुई तथा तत्काल कार्य प्रस्तुत माना है। इसकी तुलना में वे इदं-चक्र में ऊर्जा को बन्दिनी तथा अहं की आश्रिता मानते हैं। इस तरह चिति में दो प्रतिक्रियाएँ होती हैं और ऊर्जा इन दो चिति-स्तरों में आरोहण-अवरोहण करती है। कला के प्रतीक इंदचक्र से उछलकर अहं-चक्र में सक्रिय हो जाते हैं। इस तरह कलाप्रतीकों का एक प्रमुख कार्यधर्म उदात्तीकरण (सब्लिमेशन) है। कला प्रतीकों का एक दूसरा कार्यधर्म नाटक जैसे कलारूपों में 'कलात्मक भ्रान्ति' (इल्यूज़न) तथा काव्य जैसे कलारूपों में 'अर्थभ्रांति' (एंबिग्विटी) उत्पन्न करना है। इन भ्रान्तियों के निराकरण के क्रम में ही प्रतीक, रूपक, अलंकार, मुद्रा, अभिनय, साधारणीकरण, स्वप्न, आभास, अन्यापदेश, अनुमान, फान्तासी आदि के संसारों के ताने-बाने झिलमिलाते हैं। चिति-प्रक्रिया में प्रतीकों की तीसरी भूमिका क्रीड़ा से आनन्द अथवा कर्म की ओर प्रयाण है। सामाजिक-जीवन में प्रतीक राजनैतिक आन्दोलनों, नैतिक आचरणों, धार्मिक कर्मकांडों आदि को प्रेरित करते हैं, लेकिन कला के संसार में वे आनन्द की ओर उन्मुख हो जाते हैं।

चिति-स्तरों (साइकिक लेवेल्स) में अदल-बदल और इस प्रक्रिया में प्रतीकों की भूमिका पर हमने संक्षिप्त विचार किया है। किन्तु कलाकार और सहृदयवृन्द प्रसंग में चिति-स्तरों में अदल-बदल के दूसरे ही आयाम खुल पड़ते हैं।

कलाकार-पक्ष से ललित सृजन में अहं के कार्यधर्मों को विश्रांति (रिलेक्शेसन) मिलती है जो कि अगमन (रिग्रेशन) या लिबीडो के अंतर्मुखी होने का ही एक रूप है। अतः कला में 'विश्रांत अगमन' की जो दशा होती है वह प्रयोजनपूर्ण तथा नियंत्रित भी होती है। इसके मुकाबले में फान्तासी और स्वप्न में बाह्य अंकुशों से सर्वतंत्र स्वतंत्रता होती है। इस भाँति हम 'कार्यधर्मी (फंक्शनल) अगमन' और नियंत्रण का सह-अस्तित्व पाते हैं। जब अगमन बहुत दूर तक हो जाता है तब प्रतीक वैयक्तिक (प्राइवेट) हो जाते हैं। यहाँ तक कि वे स्वयं की भी चिंतनदशा में अबोधगम्य हो जाते हैं। अगर नियंत्रण अत्यधिक हो जाता है, तब भी नतीजा प्रेरणा-शून्य, भावशून्य और घिसा-पिटा होता है।[८] इसलिए अगमन और नियत्रण की दशा में, तथा इनके सामंजस्य में, चिति-स्तरों में अदल-बदल होती है। इन विभिन्न चिति-स्तरों (साइकिक लेवेल्स) में प्रतीकों की धार्य ऊर्जा की मात्रा, दिशा तथा गुण में विवर्तन होता है।

सहृदयवृन्द (आडियेंस) के मामले में एक दूसरे तरह की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया घटती है। यह एक साथ सामूहिक एवं वैयक्तिक भी है। सहृदयवृन्द अवचेतन ढंग से कलाकार के साथ तादात्म्य (आइडेंटिफ़िकेशन) करता है। सहृदयवृन्द पक्ष में चिति-स्तरों में अदल-बदल प्रतीपक्रम से होती है। इसकी शुरुआत चेतनता से होती है तथा परिणति इदं में। सहृदयवृन्द अनुभव, ज्ञान एवं रुचियों का कलाकार से **तादात्म्य** तथा **साँझा** करता है। अतः आदर्श स्थिति में कारयित्री और भावयित्री अनुभवों में सरसता हो जाती है। सापेक्ष्य दशाओं में, रचना-प्रक्रिया की भाँति, ग्राहकता में भी 'जब नियंत्रण बहुत अधिक होता है तब परिणाम पुनर्रचना (रिक्रिएशन)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न होकर पुनर्विन्यास (रिकांस्ट्रक्शन) होता है अर्थात् अनुभव **बौद्धिकताविधेन** (इंटेलेक्चुआलाइज्ड) हो जाता है। ऐसे में सौंदर्यबोधात्मक प्रतिक्रिया आलोचना तथा इतिहासवाद में बौद्धिकीकृत हो जाती है।···और जब अगमन बहुत दूर तक होता है तब चिति-स्तर में अनुभव आशंसा (एप्रिशियेशन) वाला न होकर भोग (एंज्वायमेंट) प्रधान होता है। ऐसी दशा में अर्थ प्रक्षेपित (प्रोजेक्टिव) होते हैं।[६] उपर्युक्त चिति-स्तरों में हम प्रतीकात्मक प्रतिबोध को सौंदर्यतात्विक नहीं कह सकते, अगर चिति-स्तर में अदलबदल के साथ-साथ चितिमूलक या 'मनस्तात्विक दूरी' (साइकिकल डिस्टेंस) न हो। इस अवस्था पर एडवर्ड बुलो ने सबसे पहले विचार किया था। इस दूरी पर सभी सांस्कृतिक जेस्टाल्टों में विवेचन हुआ है: यूनानियों में 'कैथार्सिस', भारतीयों में 'साधारणीकरण', पाश्चात्यों में 'डिपर्सनलाइज़ेशन' के रूपों में। इन सभी में केन्द्रीय बात यही है कि अभिनेता या पात्र, या अर्थ के प्रतीक के संचरण की स्थिति में चिति-स्तर में अदल-बदल हो जाती है जिसकी वजह से सक्रियता से निष्क्रियता, व्यक्तिवाचक संज्ञा से जातिवाचक फिर भाववाचक संज्ञा की ओर उन्मुख होना प्रधान है। एक अन्य दृष्टिकोण से चिति (साइके) तथा मनोविज्ञान (साइकोलाजी) के अनुशीलन का भेद किया जा सकता है।

चिति मनुष्य तथा ब्रह्माण्ड को संबंधित करनेवाली लीलाशक्ति है। चिति **मानवीय प्रकृति** का उद्घाटन करती है। किन्तु विडंबना यह है कि इसे मनोरोगचिकित्सकों (साइकियाट्रिस्ट) की ऑपरेशन-मेज़ पर लिटा दिया गया है। वास्तव में चिति मनोसौंदर्यात्मक मिथक धारणा है। यह मनुष्य की इच्छाओं, इच्छापूर्तियों, आदिम अभिज्ञानों तथा सहज आवेशों की कलियों को खोलती है लेकिन फ्रायड ने इसे **'दमित अवचेतन'** के द्वारा समझाने का वितंडावाद खड़ा किया। चिति को **'प्रतीकित स्वप्नों'** द्वारा समझने-संवेदने की बात ज्यादा संगत है। यह बात अंतर्साक्षी सामाजिक यथार्थता के संज्ञान से भी जुड़ी है। अतः चिति का मशीनी बहिष्कार कदापि नहीं होना चाहिए।

मनोविज्ञान ने, चिति के बजाय चेतना को केन्द्र में गर्भित करके, स्वयं से चिति को अलग करने का विभ्रम फैलाया है। मनोविज्ञान में चितिमूलक मानवीय प्रकृति के बजाय **मानवीय व्यक्तित्व** को प्रधानता मिली। यह सही है। किन्तु मानवीय व्यक्तित्व को प्रधानतः **स्नायुमंडल** के प्रसंग में ही रखा गया। नये मनोवैज्ञानिक **कंडीशंड रिफलेक्स** को भी शामिल करने की अनबन कोशिशें करते हैं। अलबत्ता प्रत्यक्षीकरण तथा शिक्षण (पर्सेप्शन एंड लर्निंग) के क्षेत्र में मनोविज्ञान की खोजें समन्वयात्मक हैं।

अतएव चिति-लीला के प्रकाशन के लिए हमें अकेले **स्वप्न** तथा **अवचेतन** के अमूर्त बिन्दुओं को ही नहीं, बल्कि स्नायुमंडल और प्रत्यक्षीकरण के चक्रों को भी अंगीकार करना होगा। अतएव मनोरोग-चिकित्सकों के 'चिति के आधुनिक धन्वन्तरि' होने के दावे हमें कैसे मंजूर हों? हम तो 'चिति के हमदम और दोस्त' होने की बातें करते हैं। इस भूमिका में हम विचारधारक तथा सामाजिक सौंदर्यवेत्ता हैं। अतः **प्रतीक** (सिम्बल) तथा **विचार** (आइडिया)—ये ही चिति के दो आकर्णलोचन हैं।

: ८ :

जिस तरह कोई हरसिंगार का वृक्ष अपने फूल उगाता-खिलाता है, उसी तरह चिति (psyche) अपने प्रतीकों की सिरजना करती है। लेकिन वृक्ष की जड़ों की तरह चिति का आधार भी मानवशरीर, मस्तिष्क (ब्रेन), भौतिक जगत्, पदार्थ है जो मात्रा से गुण में रूपांतरित होता है। सामाजिक जीवन की बुनियाद के बिना चिति-प्रक्रिया की बात ज्यादा सार्थक नहीं है; तथा व्यावहारिक कर्म के बिना प्रतीकों के कार्यधर्म का अनुमान बेहद अधूरा, गलत और एकांगी है। प्रतीकों का उद्भव चिति द्वारा होता है; चिति भौतिक मानव-मस्तिष्क की चेतना का धर्म है; मानव-अस्तित्व इस चेतना का निश्चय करता है; तथा यह चेतना आर्थिक संबंधों, श्रम के विभाजन, सामाजिक संबंधों द्वारा निर्धारित होती है। इसलिए असली चुनौती तो यह है कि सही विचार और जीवंत प्रतीक कहाँ से आते हैं? वे दोनों एक द्वंद्वात्मक प्रक्रिया से उपजते हैं न कि अकेले रहस्यात्मक इदं से। सर्वप्रथम सारा ज्ञान प्रत्यक्ष (पर्सेप्चुअल) होता है। तब वह छलाँग लगाकर अवधारणात्मक (कांसेप्चुअल) अर्थात् विचार (आइडिया) बनता है। अतः अवधारणा में प्रत्यक्षीकृत ज्ञान का केन्द्रीभवन होता है। इसके बाद नाना व्यवहारों (प्रेक्टिसेज़) की कसौटी पर विचारों की परख होती है। तब विचार ही कार्य (ऐक्शन) तथा प्रतीक (सिम्बल) के युगल बनते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतः ज्ञान के विचार, प्रतीक तथा व्यवहार जैसे स्वरूप प्रतिबिंबात्मक हैं अर्थात् इस व्यापार में अस्तित्व से सत्ता, भूत से चेतना, मात्रा से गुण में रूपांतर (मेटामार्फोसिस) होता है। इस प्रक्रिया में प्रतीक सेतु का कार्यधर्म निबाहता है। अतएव हमारे मत से निर्धारित विषय अधूरा तथा एकांगी है। इसके दूसरे खंड 'सामाजिक जीवन में कर्म के प्रतीक धर्म' का भी होना लाज़िमी है। अंततः यह मूल सवाल बाकी ही रह जाता है : "कहाँ से सही विचार और प्रगतिधर्मा प्रतीक आते हैं ?" हमराहियो, यही अगली तथा असली चुनौती है।

पाद-टिप्पणियाँ

१. 'Mannerism', Vol I, Arnold Hauser, pp. 295.

२. दे० 'Problems of Aesthetics', pp. 219-225.

३. दे० 'Psychological Types', pp 602.

४. दे० 'Images & Symbols', Mircea Eliade, pp. 9-12.

५. 'Aesthetics and the Gestalt', Ian Rawlinson.

६. दे० कार्ल जुंग : 'Symbols of Transformations.'

७. C. G. Jung : 'Man and His Symbols' pp. 160.

८. 'Psychoanalytic Explorations in Art', Erntst Kris, pp. 254.

९. Ibid p. 256.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक चीज़ के लिए

विष्णु खरे

प्रत्येक पुरागाथा-स्थिति में मैंने अपनी कल्पना
की है
शुरुआत में सब-कुछ ठीक रहता है
फिर जब मैं अमर्ष में भरकर अपना माथा
झटकता हूँ
तो फूटे अलूमीनियम की ठनठनाहट के साथ
मेरा मुकुट विग को लिए-दिए भरी सभा में
गिरता है
मेरे आदेश पर पहरेदार एक-दूसरे की तरफ
देखते हुए
नाक छिनकने लगते हैं या पेशाब करने चले
जाते हैं
और जिरहबख्तर के नीचे अण्डकोष पर चलती
हुई चींटी को
राजमहिलाओं की उपस्थिति में न मसलने को
मजबूर
एक जाँघ को दूसरी पर रखते हुए मैं
अपने मालिशवाले की सेवाओं का स्मरण
करता हूँ
जो मेरे अन्दर तक के दुखः-सुख का साथी है

बतलाओ क्या हो जाता है
बलवे राज्यक्रांति और सत्ता-परिवर्त्तन के बाद
मैं पूछता हूँ राजचित्रकार द्वारा 'उकेरे गए' उस
युवा अक्स से
उकड़ूँ बैठने से क्यों फूहड़ हो जाते हैं परिधान
क्यों टूट जाती हैं ध्वजाएँ इरादों की
एक धोखे से दूसरे धोखे के बीचवाले अन्तराल में
लोग क्यों इस तरह लोमहर्षित होते हैं और
सरासर आमन्त्रित करते हैं
और फिर वही माँगते हैं एक नया सिर और
आदर्श वाक्य
सभासद क्यों बैठते हैं दीवार से लगी अँधेरी
कुर्सियों पर
कौन ऐन मौके पर काट देता है तार लाउड-
स्पीकरों के
मेरे चेहरे वाले डाक-टिकट क्यों नहीं चिपकाते
बच्चे अब कापियों में
हथेली पर घिसकर मेरे सिक्कों को बस
कंडक्टर क्यों लौटाता है
क्या इसी तरह लौटा जा सकता है समय में
एक निरन्तर प्रचलित क्षण बन सकने के लिए
इतिहास में या तो सतृष्ण मृत्यु है या विस्फा-
रित हत्याकांड
मैं नहीं चाहता अब उठाईगीर के बाद व्यवस्था-
पक रहना—
किन्तु गैलरी में महिलाएँ आँखों पर रूमाल
ढँके हुए
प्रतीक्षा में हैं कि ठहरा हुआ हाथ नीचे आए
और कुछ नया हो
उनके ऋतुमती होने से पहले

उस और इस क्षण के बीच सिर्फ स्मरण ही कर
सकता है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब एक चीज़ के लिए मेरा सब नहीं छीना
गया था—
रंग देखने के लिए आँखें
धरती के घूमने और घूमने के बीच की गन्ध
और औरत के साथ सोने की स्वस्थ इच्छा
दूसरे चेहरों के पसीने को अपने हाथ के विरल
वालों में
और मसूढ़ों से दबाये गए अँगूठे को महसूस
करते हुए
मैं रोज़ जाता था
एक व्याख्याहीन पशु को लड़ाई की अगली
किस्त चुकाने
झाड़फानूस के नीचे पदचापों के दुःस्वप्न देखना
तब तक मेरा व्यवसाय नहीं बना था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वच्छन्दतावादी समीक्षक नन्ददुलारे वाजपेयी

विष्णुकान्त शास्त्री

अपनी-अपनी दृष्टि से साहित्य की परीक्षा, समीक्षा और चर्चा पंडित, समीक्षक और पत्रकार तीनों करते हैं। जिस प्रकार तीनों की दृष्टियां अलग-अलग होती हैं, उसी प्रकार उपलब्धियाँ भी। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी अपने साहित्यिक जीवन के एक दौर में पत्रकार भी थे और एक दौर में विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष भी (जो पद मुख्यतः पांडित्य की ही अपेक्षा करता है) किन्तु वे मूलतः समीक्षक ही थे, पत्रकार और पंडित नहीं। उनके कर्त्तृत्व को ठीक-ठीक समझने के लिए इन तीनों की भूमिकाओं का किंचित् विश्लेषण करना लाभदायक होगा।

पंडित किसी रचना की सृजन-प्रेरणा के ऐतिहासिक कारणों की जाँच करता है, उसके मूल उपादानों की छानबीन करता है, प्रायः परम्परागत रूप से स्वीकृत प्रतिमानों के आधार पर उसका शास्त्रीय अध्ययन करता है, उसके पाठालोचन या भाषावैज्ञानिक विवेचन में प्रवृत्त होता है, परवर्त्ती साहित्य पर पड़े उसके प्रभाव का निर्धारण करता है, किन्तु जैसा कि प्रायः देखा गया है कि अपने तमाम शुष्क, ज्ञानपूर्ण अनुशीलन के बावजूद उस रचना के सौन्दर्य का उद्‌घाटन नहीं कर पाता, उसकी मार्मिकता का रसास्वादन नहीं करा पाता। दूसरी तरफ पत्रकार किसी रचना की चलती-सी चर्चा स्थूल, सामयिक दृष्टि से कर लेता है, अपनी सतही समझदारी के बलबूते पर उसके सम्बन्ध में अनुकूल-प्रतिकूल फतवे देकर विवाद खड़ा कर पाने में चरितार्थता का अनुभव करता है। हिन्दी के सन्दर्भ में ही बात करनी हो तो पहली कोटि के अन्तर्गत आते हैं, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० माताप्रसाद गुप्त आदि और दूसरी कोटि के अन्तर्गत पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर आदि। इन कोटियों से भिन्न कोटि होती है समीक्षक की, जो शुष्क गवेषणा और सनसनीखेज फिकरेबाज़ी दोनों से बचकर रचना के मर्म में प्रवेश करता है, उसकी कलात्मक सुन्दरता का, उसकी सांस्कृतिक विशिष्टता का प्रतिपादन करता है, उससे प्राप्त होने वाले आनन्द का, रस का आस्वादन करता-कराता है, जीवन को गति देनेवाली उसकी शक्ति का मूल्यांकन करता है, उसे व्यापक सन्दर्भ में रखकर उसके महत्त्व का निरूपण करता है। उसमें पंडित के ज्ञान और पत्रकार की प्रभविष्णुता का भी अन्तर्भाव रहता है, किन्तु सीमा के रूप में नहीं, गरिमा के रूप में। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ऐसे ही सुधी समीक्षक थे।

यहाँ हम यह स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते हैं कि वाजपेयीजी को 'पंडित' से पृथक् कोटि का मानना उनकी विद्वत्ता पर शंका करना नहीं है। निश्चय ही वे गंभीर विद्वान् तथा पूर्व और पश्चिम के साहित्य एवं साहित्यशास्त्र के मर्मज्ञ थे। हमारा अभिप्राय यही है कि वे पुरातात्त्विकता और शास्त्रीयता के खूंटों से बँधे रहने से इन्कार करते थे। उन्होंने 'पांडित्य' के क्षेत्र में भी काफी काम किया है, सूरसागर और रामचरितमानस का सम्पादन, दर्जनों शोध-प्रबन्धों का निर्देशन आदि इसके प्रमाण हैं, किन्तु यह उनकी मुख्य दिशा नहीं थी। वे स्वयं शोध-कार्य में प्रवृत्त होकर भी नहीं हुए, यहाँ तक कि अपनी पुस्तक 'महाकवि सूरदास' के शोधपरक आरंभिक परिच्छेद भी उन्होंने स्वयं नहीं लिखे, अपने निर्देशन में अपने छात्र श्री मधुसूदन वाखले से लिखवाये और भूमिका में उन्हें अपने मुखर आशीर्वाद दिये। सूरदास को छोड़कर उन्होंने किसी प्राचीन कवि पर विस्तारपूर्वक नहीं लिखा। न हिन्दी साहित्य के इतिहास के अनुसंधान में, न सैद्धान्तिक समीक्षा के मौलिक गंभीर विवेचन में ही रस लिया। इतिहास-सम्बन्धी उनकी छोटी-सी पुस्तक और पूर्वी-पश्चिमी समीक्षा-सिद्धान्तों से सम्बन्धित उनके कुछ निबन्ध मुख्यतः परिचयात्मक एवं प्राध्यापकीय उत्तरदायित्व के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्वाह मात्र हैं।

सिर्फ इतना ही नहीं, उन्होंने स्थान-स्थान पर शुष्क पांडित्य पर कटाक्ष भी किये हैं, उसे 'स्थविर शास्त्राचार' कहा है। परम्परागत पंडितों के प्रति उनकी मान्यता थी कि उनमें "पांडित्य की प्रचुरता तो थी, परन्तु उसका प्रयोग अधिकतर शास्त्रार्थी पद्धति पर किया जाता रहा। लोग बाल की खाल अधिक निकालते थे।"[1] उनकी दृष्टि में पश्चिमी पंडितों की छत्रछाया में प्राच्य अनुसंधान के कार्य में संलग्न भारतीय "पंडितों की सबसे बड़ी कमी यह थी कि वे अपने पश्चिमी अभिभावकों द्वारा बाँधी गई लीक से बाहर निकलने में असमर्थ थे।"[2] सीधे पश्चिमी पंडितों की संकीर्ण साहित्यिक दृष्टि से असहमति प्रकट करते हुए उन्होंने कहा था, "पश्चिम के पंडितों ने काव्य की परिधि बनाते हुए न जाने क्यों धार्मिक और आध्यात्मिक कृतियों को उससे बहिष्कृत-सा कर दिया है और ब्लेक, ब्राउनिंग जैसे दार्शनिक कवियों को भी उनका उचित आसन देने में संकोच करते हैं।"[3] केवल पांडित्यपूर्ण गवेषणा करने वालों को साहित्य-समीक्षक मानने में उन्हें आपत्ति थी। उनकी उक्ति है, "हमें यह देखकर प्रसन्नता होती है कि डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा डॉ० माताप्रसाद गुप्त जैसे शोधकर्त्ताओं ने साहित्य समीक्षा तथा शोधकार्य का अन्तर समझकर दोनों के बीच चक्कर लगाने की आदत छोड़ दी है।"[4] आ० द्विवेदी सम्बन्धी उनकी मान्यता को हम संशोधन-सापेक्ष मानते हैं, फिर भी इससे उनकी दृष्टि तो स्पष्ट होती ही है। प्राच्य और पाश्चात्य पांडित्य की उपलब्धियों के ज्ञाता होते हुए भी उनकी रूढ़ियों से बँधने से इन्कार करना, शास्त्र-दृष्टि पर आत्म-दृष्टि को प्रधानता देना समीक्षक नन्ददुलारे वाजपेयी की स्वच्छन्दता का एक प्रमुख तत्व है।

यदि वे पांडित्य के घटाटोप से, उसके भारी-भरकम निर्णयों से साहित्यिक विदग्धता को आक्रान्त होने देना नहीं गवारा करते थे तो पत्रकारों की हल्की-फुल्की रायजनी तो उनके लिए और भी अग्राह्य थी। साहित्य और जीवन के प्रगाढ़ पारस्परिक सम्बन्ध को स्वीकारते हुए उसके निरूपण में गंभीरता की माँग एवं सतही पत्रकारी फतवों से वितृष्णा प्रकट करते हुए उन्होंने व्यंग्यमयी शैली में लिखा था, "जीवन इतना रहस्यमय और अज्ञेय है और परिस्थितियाँ इतनी बहुमुखी हैं कि इस सम्बन्ध में अधिक-से-अधिक सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता है, नहीं तो एक कलकतिया सम्पादक जी की तरह सैनिक और साहित्यिक तथा आनन्द भवन और शान्तिनिकेतन के बीच में ही अटक रहने का भय है।"[5]

किन्तु जिस प्रकार पांडित्य की परम्परा से अभिभूत न होते हुए भी वैदुष्य का पुष्कल प्रमाण उन्होंने अपनी रचनाओं में दिया है (जो तत्त्व उनकी समीक्षाओं को श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी की समीक्षाओं से पृथक् करता है) उसी प्रकार पत्रकारिता के 'चलतेपन' से बचकर भी उसके प्रश्नमुखर पैनेपन को, उसकी जीवन्त विवादोत्तेजकता को उन्होंने अपनाया है, (जिसके फलस्वरूप उनकी समीक्षाएँ डॉ० नगेन्द्र की गुरुगंभीर समीक्षाओं की तुलना में अधिक प्रभावशाली एवं उपभोग्य बन पड़ी हैं।)

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का ऐतिहासिक कार्य है प्रबल विरोधों के मध्य छायावादी काव्य के महत्त्व का प्रतिपादन एवं उसके सौन्दर्य का उद्घाटन करना। अवश्य ही श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी एवं डॉ० नगेन्द्र के कार्य भी इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि हरावल में आचार्य वाजपेयी ही थे। छायावादी काव्य की प्रतिष्ठा के लिए उसके अव्यवहित पूर्व की कविता की तुलना में उसकी श्रेष्ठता का तथा उसके सम्यक् मूल्यांकन में असमर्थ समीक्षकों के प्रतिमानों की संकीर्णता का दिग्दर्शन कराना आवश्यक था। अतीत से प्राप्त संस्कारों में संशोधन कर ही नयी पीढ़ी अपनी जीवन-दृष्टि का निर्माण करती है, अतः उसके लिए अनिवार्य हो जाता है कि वह अतीत विशेषतः निकट अतीत से अपनी भिन्नता और यदि संभव हो तो श्रेष्ठता प्रमाणित करे। आश्चर्यजनक निर्भीकता, स्पष्टता और सफलता के साथ वाजपेयीजी ने यह कार्य सम्पन्न किया। वाजपेयीजी मुख्यतः कविता के ही आलोचक रहे हैं। प्रसंगवश उपन्यास, कहानी, नाटक आदि की चर्चा भी उन्होंने की है, किन्तु काव्य-समीक्षा के सदृश तलस्पर्शिता का आभास उनकी अन्य समीक्षाओं में नहीं मिलता।

द्विवेदीयुगीन कविता की तुलना में छायावादी कविता को समृद्धतर सिद्ध करना अपेक्षाकृत रूप से सरल कार्य था। आ० महावीरप्रसाद द्विवेदी के सम्बन्ध में दिया गया उनका यह निर्णय कि उनकी कृतियों में, "न कल्पना की उच्च उद्भावना है, न साहित्य की सूक्ष्म दृष्टि, केवल एक शुद्ध प्रेरणा है जो भाषा का भी मार्जन करती है और समय पर सरल उदात्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भावों का भी सत्कार करती है"[६] द्विवेदीयुगीन कविता के लिए भी सही है। उसके प्रतिनिधि कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त की मूलभूत विशेषता को रेखांकित करते हुए वाजपेयी-जी ने कहा है, "सारग्राही सरलता के साथ-साथ गुप्तजी की आदर्शवादिता भी चलती है। उस आदर्शवादिता में औदात्य उतना नहीं है, जितनी एक भावुकतामय नैतिकता।"[७] अपने कथन की सारवत्ता को प्रमाणित करने के लिए उन्होंने प्रायः समान विषयों एवं भावों पर रचित गुप्तजी एवं प्रसादजी के प्रतिनिधि काव्यांशों की तुलनात्मक विवेचना भी की और यह निष्कर्ष निकाला कि प्रसादजी के काव्य (छायावादी काव्य) में "एक नई कल्पनाशीलता, नूतन जागरूक चेतना, मानसवृत्तियों की सूक्ष्मतर और प्रौढ़तर पकड़, एक विलक्षण अवसाद, विस्मय, संशय और कौतूहल जो नई चिन्तना का सूक्ष्म प्रभाव है, प्रकट हो रहा है"[८] तथा युगानुरूपता की दृष्टि से उसमें कुछ कमियाँ भले हों "किन्तु गुप्तजी की ऐकान्तिक आदर्शवादिता और सीधी-सादी भावव्यंजना से कई कदम आगे वह अवश्य हैं।"[९]

पूर्ववर्त्ती समीक्षा के प्रतिमानों की सीमाओं का निर्देश कर पाना अधिक कठिन कार्य था, क्योंकि उसके नियन्ता थे आ० रामचन्द्र शुक्ल, जो न केवल हिन्दी के क्षेत्र में बल्कि अखिल भारतीय क्षेत्र में साहित्य-समीक्षा की दृष्टि से अत्यन्त मौलिक एवं प्रशस्त कार्य कर गये हैं। काव्य-समीक्षा के उनके प्रतिमान न केवल वाल्मीकि, कालिदास, सूर, तुलसी, जायसी की कृतियों के आधार पर निर्मित हुए थे बल्कि उन पर शेली, कीट्स आदि की कृतियों के अनुशीलन की भी गहरी छाप थी। केवल भरत, मम्मट, विश्वनाथ आदि ही नहीं, मैथ्यू अर्नाल्ड एवं रिचार्ड्स आदि भी उनकी दृष्टि के समक्ष थे। श्रेण्य संस्कारों के बावजूद वे स्वच्छन्दतावाद के प्रशंसक थे। जायसी, घनानन्द की ही नहीं, श्रीधर पाठक एवं मुकुट-धर पांडेय की स्वच्छन्दता की भी सराहना उन्होंने की थी। अपने 'इतिहास' के प्रवर्धित संस्करण में उन्होंने छायावाद की जो संक्षिप्त एवं मार्मिक आलोचना की है, वह उसकी सीमा को ही नहीं शक्ति और सुन्दरता को भी उद्घाटित करती है और आज भी कई दृष्टियों से बेजोड़ है। छायावाद के आरंभिक काल में उन्होंने उसकी वादग्रस्त रहस्यात्मकता का ही विशेष विरोध किया था जिसे वे स्वाभाविक रहस्यानुभूति से भिन्न, साम्प्रदायिक एवं अनुकरणमूलक मानते थे, साथ ही अभिव्यंग्य को गौण एवं अभिव्यंजना को अतिशय प्रधानता देनेवाली दृष्टि को भी वे अनुचित मानते थे, क्योंकि उससे हवाई कल्पना के कारण ऐसे निरर्थक वाग्जाल को प्रोत्साहन प्राप्त होता है जिसका अनुभूति की सच्चाई से बहुत कम सम्बन्ध रह जाता है। ईमानदारी का तकाज़ा है कि यह स्वीकार कर लिया जाये कि उनके इन आरोपों में सत्यांश था और एक सीमा तक उनका शुभ प्रभाव भी पड़ा।

किन्तु यह खेदजनक सत्य है कि आ० शुक्ल का पांडित्य छायावाद के रहस्यवादी स्तर को विदेशी भावापन्न एवं उसकी अभिव्यंजना को कृत्रिम सिद्ध करने में इतना उलझ गया था कि आरंभ में वे उसके आधारभूत गुणों के फलस्वरूप हिन्दी काव्य में आये नवोन्मेष का, नवीन सौन्दर्य का स्वागत एवं सहृदय मूल्यांकन नहीं कर पाये। इस ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति का श्रीगणेश किया आ० नन्ददुलारे वाजपेयी ने। अपने गुरु आ० शुक्ल से बहुत दूर तक प्रभावित होते हुए भी उन्होंने समीक्षा-सम्बन्धी उनके प्रतिमानों को चुनौती दी। शुक्लजी की छायावाद-रहस्यवाद की कठोर आलोचनाओं से क्षुब्ध होकर अपने युवक सुलभ आवेश एवं 'तलस्पर्शी एकांगिता' के आवेग में बहकर १९३१ में उन्होंने जो आक्रामक लेख उनके विरुद्ध लिखा, वह फेनिल होते हुए भी समीक्षा के पुराने प्रतिमानों के समक्ष कई प्रश्नचिह्न लगाने में समर्थ हुआ। १९४० में शुक्लजी पर लिखे अपने दूसरे अधिक संयत एवं सन्तुलित लेख में वाजपेयीजी ने उनके समीक्षा-सम्बन्धी प्रतिमानों की प्रमुख कमियों का निर्देश करते हुए यह निष्कर्ष निकाला था कि "शुक्लजी की सारी विचारणा द्विवेदी-युग की व्यक्तिगत, भावात्मक और आदर्शोन्मुख नीतिमत्ता पर स्थित है। समाजशास्त्र, संस्कृति और मनोविज्ञान की वस्तून्मुखी मीमांसा उन्होंने नहीं की है। प्रवृत्ति-विषयक उनकी धारणा भारतीय धार्मिक धारणा की अपेक्षा पाश्चात्य अधिक है। उनका काव्य-विवेचन भी प्रबन्ध-कथानक और जीवन-सौन्दर्य के व्यक्त रूपों का आग्रह करने के कारण सर्वांगीण और तटस्थ नहीं कहा जा सकता। नवीन युग की सामाजिक और सांस्कृतिक जटिलताओं का विवेचन और उनसे होकर बहने वाली काव्य-धारा का आकलन हम शुक्लजी में नहीं पाते।"[१०]

आदर्शोन्मुख नीतिमत्ता के स्थान पर (आदर्शोन्मुख!) स्वच्छन्दता का, स्थूल व्यक्त सौन्दर्य के साथ-साथ सूक्ष्म, रहस्यात्मक अव्यक्त सौन्दर्य का, लोकमंगल को मूलतः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वीकारते हुए भी कलात्मकता के महत्त्व का, पूर्व-निश्चित दार्शनिक, साहित्यिक सिद्धान्तों की स्थिर कसौटियों को बाधक बताकर लचीले एवं गतिशील जीवन के सन्दर्भ में रख-कर कलात्मक कृतियों के सौन्दर्यानुसन्धान का, घटना-परि-स्थिति बहुल प्रबन्धकाव्य की तुलना में मनःस्थिति-विशेष की उत्कट संवेदनशीलता से युक्त प्रगीतमुक्तक का समर्थन एवं प्रतिष्ठापन वाजपेयीजी ने किया। "व्यक्तित्व और कार्य की दृष्टि से अब तक नये समीक्षक उनकी (शुक्लजी की) समता पर नहीं आ सके हैं" इसे स्वीकारते हुए भी शुक्लोत्तर समीक्षा की उपलब्धि के सम्बन्ध में उनकी दृढ़ धारणा है, "शुक्लजी की अपेक्षा नई समीक्षा में साहित्य के ऐतिहासिक विकास और सामाजिक प्रेरणाशक्तियों, शैलीभेदों और कलास्वरूपों की परख अधिक व्यापक और मार्मिक है, इसमें सन्देह नहीं। शुक्लजी की नैतिक और बौद्धिक दृष्टि की अपेक्षा नये समी-क्षकों की सौन्दर्य-अनुभूति और कलाप्रधान दृष्टि एक निश्चित प्रगति है···"[११] कहना न होगा कि शुक्लोत्तर समीक्षा के इस रूप के प्रतिनिधि समीक्षक स्वयं श्री नन्ददुलारे वाजपेयी हैं।

प्रश्न हैं : समीक्षा के इन नये प्रतिमानों को वाजपेयीजी क्योंकर विकसित कर सके, क्या इनके द्वारा समग्र छायावादी काव्य की समुचित समीक्षा उन्होंने की, क्या परवर्ती साहित्य की सम्यक् आलोचना इनके आधार पर वे कर पाये? वाज-पेयीजी के कार्य के सन्दर्भ में ही इन प्रश्नों पर विचार करना संभव है।

पहले प्रश्न के उत्तर में यह असन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि उनके ये प्रतिमान मुख्यतः छायावादी काव्य के अनुशीलनजन्य संस्कारों से निर्मित हुए हैं, यह ठीक है कि पूर्व और पश्चिम की समशील काव्यधारा में अवगाहन एवं तदनुरूप समीक्षा-सिद्धान्तों के मनन द्वारा उन्होंने उन्हें और व्यापक तथा यथातथ्य बनाया, किन्तु यह द्वितीय स्तर पर किया गया कार्य है। अपने संस्कारों के रचनात्मक काल में वे प्रसाद, निराला, पन्त के नवोन्मेषशाली काव्य के सम्पर्क में आए और उनके 'प्राकृतिक अध्यात्म के शिलान्यास' से, उनके 'असाधारण उल्लास और वेग तथा उनकी सशक्त भाषा' से, उनकी 'अतिशय सजीव कल्पना सृष्टि' तथा 'कोमल अथच मार्जित' रुचि से आकृष्ट होकर उनके रंग में रँग गये। वस्तुतः कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा का अन्तःसम्बन्ध होता है एवं युगचेतना जिस प्रकार रचना के स्तर पर प्रतिफलित होती है, उसी प्रकार आलोचना को भी वह उद्दीप्त करती है। नई रचनाएँ जब प्रचलित साहित्यशास्त्र की सीमाओं में नहीं समातीं तो ऐसी नई आलोचना का विकास आवश्यक हो उठता है, जो उनकी संगत व्याख्या एवं समीक्षा कर सके, जो आलोचना के पुराने प्रतिमानों में उन नई रचनाओं के आधार पर कुछ नये प्रतिमान जोड़ सके। छायावाद के सम्बन्ध में आ० वाजपेयी का अग्रणी कार्य इसी सत्य की पुष्टि करता है। 'नया साहित्य : नये प्रश्न' के निकष में वाजपेयीजी ने स्वीकारा है, "प्रसाद के 'आँसू' की मार्मिक पंक्तियाँ, निराला की 'तुम और मैं', 'जुही की कली' और अन्य अनेक रचनाएँ तथा 'पल्लव' के बहुत-से प्रगीत विशिष्टता का प्रतिमान बन-कर मेरे समक्ष आये थे। मेरा कार्य केवल विवेचन और व्याख्या करना था।"[१२] प्रसाद, निराला, पन्त के काव्या-नुशीलन से उपलब्ध प्रतिमानों के अनुकूल न होने के कारण ही वे अपने समीक्षक जीवन के आरंभ में प्रेमचन्द को उनका वास्तविक प्राप्य नहीं दे सके थे। उन प्रतिमानों में स्वाभाविक रूप से संशोधन, संवर्धन करने के बावजूद मूलतः उन्हीं के कारण वे अपने समीक्षक जीवन के मध्य और उत्तर काल में प्रगतिवाद और प्रयोगवाद का अंशतः या समग्रतः प्रत्याख्यान करते रहे।

आगे बढ़ने के पहले संक्षेप में देख लिया जाए कि युग-चेतना के किन उपादानों के आधार पर ये प्रतिमान टिके थे। अपने आदर्श कवियों की जीवनदृष्टि की समन्वित चर्चा करते हुए वाजपेयीजी ने कहा है, "ये तीनों ही राष्ट्रीय स्वातंत्र्य के हिमायती, प्रजातंत्र के हिमायती और मानव के अंतर्निहित उत्कर्ष के हिमायती कवि हैं।···इनकी जीवनदृष्टि प्रमुखतः प्रगतिशील और महान् आस्थाओं से समन्वित है, यद्यपि वैयक्तिक वेदना और निराशा के झकोरे भी इनके काव्य में मिल जाते हैं।"[१३] इन्हीं के अनुरूप साहित्यिक क्षेत्र में 'अनु-भूति और अभिव्यंजना का युगपत् विन्यास' हुआ छायावाद में। जहाँ एक ओर प्रकृति और मानव-जीवन के सम्बन्ध तथा प्रेम-कल्पना को आध्यात्मिक भूमि पर पहुँचा देने के कारण उसमें 'उदात्त दार्शनिक और रहस्यात्मक अनुभूति की प्रमु-खता' हुई, वहीं दूसरी ओर उसमें 'स्वातंत्र्य-लालसा, शक्ति की अभिज्ञता और सांस्कृतिक द्वन्द्व की अनिर्दिष्ट स्थिति भी' देख पड़ी, जिसमें 'कल्पनात्मक और भावनात्मक प्रवृत्तियों' की प्रमुखता है, किन्तु 'कर्मचेतना' की सर्वथा उपेक्षा नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन सबके साथ ही आविर्भाव हुआ 'भाषा में नई लाक्षणिकता का', परिष्कृत संगीतात्मकता का। 'समस्त छायावादी काव्य इसी असाधारण सौन्दर्य भूमि पर स्थित है।"[14]

राष्ट्रीय स्वातंत्र्य-आन्दोलन और सांस्कृतिक पुनर्जागरण की साहित्यिक अभिव्यक्ति के रूप में छायावादी काव्य की प्रतिष्ठा उनके विकसित युगबोध का प्रमाण है। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि दार्शनिक या राजनीतिक चिन्तन को साहित्य में वे अनुलोम स्थिति में ही स्वीकार करते थे। साहित्य में भावोन्नयन के साधन के रूप में उनका प्रभाव वे शुभ मानते थे किन्तु साध्य रूप में उनकी प्रतिष्ठा के विरोधी थे। साहित्य में किसी साहित्येतर मूल्य को आत्यन्तिक स्थिति देने के लिए वे प्रस्तुत न थे, चाहे वह कोई क्रमागत साम्प्रदायिक दर्शन हो, चाहे राजनीतिक या मनोवैज्ञानिक मतवाद। औरों की बात तो जाने दीजिए, पंतजी के परवर्ती विकास से भी वे इसी कारण असन्तुष्ट थे। उनका आरोप है, "क्रमशः पंतजी के काव्य में बौद्धिक विश्लेषण की कृत्रिमता बढ़ती गई है और काव्य का सहज प्रवेग क्षीण होता गया है।···काव्य की अन्तरात्मा इनमें प्रशस्त रूप से प्रकाशित नहीं है। वह सिद्धान्त-चर्चा के वायुवेग से आक्रान्त दीखती है। पांडित्य का मुलम्मा और मानसिक अवसाद की खोट छिपाए नहीं छिपती।"[15] महादेवीजी के काव्य के प्रति पर्याप्त आदर रखते हुए भी उनके काव्य में व्यक्त अतिशय रहस्यवादिता (जिसमें उन्हें प्राकृत अध्यात्म की जगह रूढ़ि के चिह्न मिलते हैं) तथा वेदना की 'एकपक्षिता' उन्हें प्रिय नहीं थी। एक स्थल पर तो उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि महादेवीजी के काव्य में छायावाद युग की विशेषताएँ नहीं मिलतीं।[16] इन आरोपों का खंडन-मंडन किए बिना हम यह निष्कर्ष तो निकाल ही सकते हैं कि वाजपेयीजी के साहित्यिक आदर्श के सर्वाधिक निकट प्रसाद और निराला ही थे, बल्कि यह कहना अधिक संगत होगा कि प्रसाद और निराला को आदर्श मानकर वाजपेयीजी ने अपने प्रमुख साहित्यिक प्रतिमान स्थिर किए थे। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि वाजपेयीजी ने अपने व्यक्तित्व का विलय उनमें भी नहीं किया, वे उनके समशील समीक्षक थे, अनुगत चारण या भाट नहीं। इसकी स्पष्ट उपलब्धि के लिए रचना और समीक्षा के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में उनकी धारणा को जान लेना लाभदायक होगा।

वाजपेयीजी की दृष्टि में समीक्षा न तो 'रचना विशेष की अनुचरी मात्र है', न 'साहित्य का कठोरता से नियंत्रण करनेवाली अधिनेत्री' ही। उनके अनुसार "वह रचनात्मक साहित्य की प्रिय सखी, शुभैषिणी सेविका और सहृदय स्वामिनी कही जा सकती है।"[17] समीक्षा की स्वतंत्र स्थिति का प्रतिपादन करते हुए भी वे रचना की वरीयता को स्वीकारने में कुंठाबोध नहीं करते। उनका कथन है, "रचना और समीक्षा के बीच उचित संतुलन आवश्यक है, किन्तु इस संतुलन में भी रचना को सदैव प्राथमिकता प्राप्त रहनी चाहिए। जब समीक्षा साहित्य-सृष्टि का नियंत्रण करने लगती है, तब निर्माणकारी प्रतिभा कुंठित हुए बिना नहीं रहती।"[18] अपनी इस प्रशस्त दृष्टि का जैसा मार्मिक परिचय उन्होंने छायावादी कवियों—विशेषतः प्रसाद और निराला—की समीक्षा में दिया, खेद है वैसा परिचय वे छायावादोत्तर साहित्य की समीक्षा करते समय नहीं दे सके।

जो हो, बात चल रही थी कि प्रसाद और निराला ही वाजपेयीजी के प्रमुख साहित्यिक आदर्श थे। देखना चाहिए कि ऊपर चर्चित छायावाद की सामान्य विशेषताओं के अतिरिक्त उनके किन प्रमुख गुणों ने उन्हें इतना आकृष्ट किया था और इन दोनों में भी कौन उन्हें पूर्णतर कवि प्रतीत होते थे और क्यों।

पहला गुण है इन दोनों की रचनाओं में व्यक्त पौरुष तत्त्व। प्रसाद में वह अधिक संयत, अधिक अन्तर्मुख किन्तु अधिक शक्ति-सम्पन्न है तो निराला में अधिक उद्दाम, अधिक मुखर, अधिक रोमांटिक। वाजपेयीजी के अनुसार "प्रसादजी अपने युग के सबसे बड़े पौरुषवान् कवि थे···प्रसादजी का काव्य शक्ति और एकमात्र शक्ति की साधना का एक अविरल प्रवाह है। उनके पुरुष और उनकी नारियाँ दोनों ही इसी शक्ति की साधना में तन्मय हैं। इसीलिए मैं प्रसादजी को हिन्दी का सबसे प्रथम और सबसे श्रेष्ठ शक्तिवादी और आनन्दवादी कवि मानता हूँ।"[19] प्रसादजी का पौरुष उनके आनन्दवादी दर्शन में, नीतिवादी युग के आतंक को काटकर चित्रित किये गए नर-नारी के कुंठारहित किन्तु मर्यादायुक्त प्रेम-प्रसंगों में, तप और भोग के समन्वय में, विरोधों के मध्य आत्मविश्वासपूर्ण, अन्तःस्मित सृजन में अभिव्यक्त हुआ है। निराला का काव्य भी 'पुरुषकाव्य' है, उसमें रंगीनी से अधिक प्रकाश है। निराला का पौरुष अद्वैतवादी सिंह-गर्जना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में, साहित्यिक और सामाजिक रूढ़ियों के प्रति प्रखर विद्रोह में, नित नये साहित्यिक प्रयोगों द्वारा नवस्थापित कीर्तिमानों के अनासक्त अतिक्रमण में, अत्यन्त प्रतिकूल क्रूर परिस्थितियों से क्षत-विक्षत हो जाने के बावजूद अप्रतिहत आस्थामूलक सृजन में प्रकट हुआ है। निराला के पौरुष को 'ओजस्विनी शब्दावली' या 'शिवाजी का पत्र' जैसी प्रखर रचनाओं तक ही सीमित मानने को 'एकांगिता' घोषित करते हुए वाजपेयीजी ने ठीक ही कहा है, "किन्तु पौरुष वस्तुगत भी होता है और वह वस्तुतः वस्तुगत ही होता है, यह अभिज्ञता बहुत विलम्ब से हो पाई। निराला के 'बादल राग' में जो स्वतंत्र, अस्खलित उद्दाम और अदम्य भाव-धारा थी, वह सामाजिक क्रान्ति का गम्भीर स्वर उद्घोषित कर रही थी। यह वस्तुगत पौरुष जीवन-दृष्टि का परिणाम था, यह केवल वीर भावना की अभिव्यक्ति नहीं था।···पौरुष शब्दों का गुण नहीं है, न वह कविता का गुण है, वास्तव में कवि की चेतना का प्रतिफलन है, जो सारे काव्य में व्याप्त रहता है।"[२०] इसी पौरुष तत्त्व के कारण ये दोनों कवि जीवन की वास्तविकता को उसकी व्यापकता और गहराई में झेलकर भी न पलायनवादी हुए, न उसके अभिलषित आदर्श रूप के चितेरे-मात्र बने, इन्होंने "मानव-अनुभवों का यथार्थ संस्पर्श कभी नहीं छोड़ा।" वाजपेयीजी का यह मत सही है कि "ये दोनों कवि न तो कोरे भावनावादी हैं, न कल्पनावादी, इनके काव्य में मानव-अनुभूतियों की यथार्थता सन्निविष्ट हुई है।"[२१] यह यथार्थता यदि बहुत उत्तेजक या वीभत्स नहीं हुई है तो उसका कारण यही है कि "इनके काव्य का केन्द्रीय तत्त्व जीवन को ऊपर से न देखकर उसके अन्तरंग में जाकर देखने का है।"[२२]

यह ठीक है कि निराला में व्यापकता अधिक है। उन्होंने अपने साहित्य में जीवन के प्रति अन्तरंग दृष्टि की परिधि को इतना विस्तृत कर लिया है कि उसमें 'वस्तुमुखी और बहिरंग तत्त्व' भी स्पष्टतः समाविष्ट हो गए हैं जिनके कारण एक ओर कुछ विचारक उन्हें प्रगतिवाद का उन्नायक मानते हैं तो दूसरी ओर उनके निरंकुश व्यक्तित्व और प्रयोग-वैविध्य के कारण कुछ विचारक उन्हें प्रयोगवाद का प्रेरक··· अन्तश्चेतनावादी घोषित करते हैं। किन्तु यह अंश को पूर्ण के ऊपर प्रतिष्ठित करने का प्रयास है। परवर्ती काव्य-धाराएँ यदि निराला को गुरु रूप में स्वीकार कर अपना उद्गम उनके काव्य में ढूंढ़ती हैं तो यह निराला के व्यापक प्रभाव की स्वीकृति की दृष्टि से तो ठीक है किन्तु इन्हें मुख्यतः अपने सम्प्रदायानुकूल सिद्ध करना धींगाधींगी भर है, क्योंकि सच्चाई यही है कि "निराला वर्गवादी नहीं हैं, अन्तश्चेतनावादी भी नहीं हैं। वे अन्तर्मुख कलाकार नहीं हैं। वे भारतीय नवजागरण के अन्यतम कवि हैं।"[२३] इन बहुविध विकासोन्मुख प्रवृत्तियों के होते हुए भी निराला काव्य की प्रकृति समरस है। वह प्रकृति स्वच्छन्दतावादी, सांस्कृतिक, मानवतावादी और आस्थामूलक कही जा सकती है।[२४] इसीलिए निराला काव्य का सन्देश 'उत्थानमूलक सन्देश है।'[२५]

प्रसाद के काव्य में गहराई अधिक है। "प्रसाद का काव्य अंतर्द्वन्द्व से सम्बन्धित है और इस अंतर्द्वन्द्व की समस्त मार्मिकता और गम्भीरता उनके काव्य में प्रतिफलित हो सकी है···(उसमें) उनके अंतरंग जीवन पक्ष का अधिक मार्मिक और गहरा समाकलन हो पाया है।"[२६] इसीलिए जीवन के यथार्थ को छूते हुए भी उनका स्वर मुख्यतः सांस्कृतिक रहा है, प्रेमचन्द की तरह सामाजिक नहीं हो पाया है। मानव के आत्मिक संघर्षों की अधिक तीव्र एवं सूक्ष्म अनुभूति के कारण उसमें करुणा की स्वीकृति तो है किन्तु अन्तर्निहित अपराजेय पौरुष तत्त्व के फलस्वरूप दुःखवाद की नहीं। "प्रसादजी की संस्कृति पौरुष गुण सम्पन्न होने के कारण उनके साहित्य में शक्ति और आनन्द का स्रोत प्रधान है, तथा इस युग के लिए यदि उनका कोई सन्देश है तो वह शक्ति और आनन्द की उपासना का, संवर्द्धना का ही सन्देश है। दुखों और सुखों में मनुष्य की सम्पूर्ण वस्तुस्थिति में यह शक्ति का ही प्रभाव बहता रहे, यही उनकी एकान्त साधना थी।"[२७]

उत्थानमूलक शक्ति और आनन्द की उपासना···संवर्द्धना का संदेश देने वाले प्रसाद और निराला के पौरुष की साहित्य में अभिव्यंजना न तो विवेक-संत्रस्त शुष्क आदर्शवादी सिद्धान्त-निरूपण में हो सकती थी, न विवेक-भ्रष्ट पंकिल यथार्थवादी नग्न चित्रण में। उसका विवेक-सम्मत प्रकाश जिस उदात्त रसात्मक स्वच्छन्दतावादी काव्य-सृजन में हुआ, वाजपेयीजी के अनुसार वह "बीसवीं शताब्दी के सम्पूर्ण काव्य के शीर्ष अंश का समाकलन है।"[२८]

इन दोनों कवियों को औरों से वरीयता प्रदान करनेवाला दूसरा बड़ा गुण है 'इनकी काव्य के प्रति अप्रतिम निष्ठा।'[२९] अध्यात्म-दर्शन हो या राजनीतिक-सामाजिक विचारधाराएँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथवा नव्य मनोवैज्ञानिक दृष्टि, इन कवियों ने उनसे अनुप्रेरित होते हुए भी उन्हें काव्यात्मक मूल्यों के ऊपर प्रतिष्ठित नहीं किया, इनके काव्य में उनका संयोजन अनुलोमशः ही हुआ है। यह स्वीकार करते हुए भी कि प्रसाद शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन से एवं निराला विवेकानन्द द्वारा प्रवर्त्तित नव्य वेदान्त से प्रभावित हैं, वाजपेयीजी ने बार-बार यह प्रमाणित करना चाहा है कि ये दोनों दर्शन इन कवियों को न तो सम्प्रदाय-सीमित कर सके, न इनके काव्योत्कर्ष के लिए अवरोध बने। सच तो यह है कि वाजपेयीजी की दृष्टि में, "प्रसादजी की सबसे मुख्य और महत्त्वपूर्ण उद्‌भावना यह है कि काव्य स्वतः आध्यात्मिक है, काव्य से ऊँची अध्यात्म नाम की कोई वस्तु नहीं।"[३०] अतः काव्य के उपकारक के रूप में ही मानव-जीवन के अन्तःप्रेरक दर्शन का और बहिर्विकाससूचक इतिहास का संयोजन उन्होंने किया था, अनुशासक के रूप में नहीं। प्रसादजी ने निवृत्ति पर आश्रित मायावादी शांकर अद्वैत के स्थान पर शैवागम से जिस सर्ववादमूलक आनन्दवाद को ग्रहण किया वह न केवल प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों को आत्मसात् करता है बल्कि विश्व को समन्वयात्मक कर्म का रंगस्थल भी मानता है। शताब्दियों पूर्व के दार्शनिक चिन्तन को उसके साम्प्रदायिक कर्मकांड से अलग कर आधुनिक जीवन के सन्दर्भ में ग्रहण करना वस्तुतः उसकी आत्मा को अक्षुण्ण रखते हुए उसका कायाकल्प करना है, मक्षिका स्थाने मक्षिका की तरह अन्धानुगमन करना नहीं। इतिहास और मानव मनोविज्ञान के दोहरे छन्नों से छनी उनकी शास्त्रीय वस्तु में प्रामाणिकता का पुट इतना प्रगाढ़ है कि सामान्य पाठक ही नहीं आलोचक भी प्रायः यह भूल जाते हैं कि प्रसाद की ये उद्‌भावनाएँ 'अधिकांश एकदम नवीन हैं।' वाजपेयीजी के अनुसार कामायनी का समरसता सिद्धान्त मानव-प्रकृति और जीवनगत द्वन्द्वों के वैज्ञानिक निरूपण एवं श्रद्धा की दार्शनिक कल्याणमयी सत्ता के संयोगस्थल पर प्रतिष्ठित है। "इसे नवीन विज्ञान और चिर नवीन भारतीय दर्शन की संगम-भूमि भी कहा जा सकता है।"[३१] किन्तु यह दार्शनिक अन्तर्धारा "काव्य की स्वाभाविक भावव्यंजना से अभिन्न और तद्रूप होकर आई है"[३२] वाजपेयीजी ने इसे आग्रहपूर्वक प्रमाणित किया है कि प्रसाद की पद्धति "प्रकृत काव्य पद्धति है जिसमें समस्त वस्तु-निरूपण और भाववर्णन स्वाभाविक रूप में रहा करता है और अपना साध्य आप ही होता है।"[३३] वह कबीर की अन्योक्ति पद्धति या जायसी की समासोक्ति पद्धति से भिन्न है जिसमें काव्य पर दार्शनिकता समग्रतः या अंशतः हावी हो जाती है। वाजपेयीजी ने अत्यन्त जागरूकतापूर्वक प्रसाद की आधुनिकता को और दार्शनिकता पर काव्यात्मकता की वरीयता को अपनी आलोचनाओं में स्पष्ट किया है अन्यथा ऐसे आलोचकों की कमी नहीं है जो उन्हें प्राचीनतावादियों, गड़े मुर्दे उखाड़ने वाले पलायनवादियों की कोटि में या दार्शनिकता के रहस्यात्मक विचारकों की कोटि में परिगणित करते रहे हैं।

इसी प्रकार निराला के काव्य में आरम्भ में सशक्त नव्य अद्वैतवादी वेदान्त की, मध्य में आध्यात्मिकता के साथ-साथ मानवतावादी, समाजवादी विचारधाराओं की और अन्त में द्वैतभक्ति और शरणागति की उत्कर्षविधायिनी दार्शनिकता का मंगलमय योग स्वीकारते हुए भी वाजपेयीजी का निष्कर्ष यही है कि "निराला स्वयं एक श्रेष्ठ दार्शनिक हैं परन्तु उनके काव्य में दर्शन का भार कहीं नहीं दिखता।"[३४] उनकी मान्यता है कि कवि का कार्य सौंदर्य-सृष्टि है और उसकी दार्शनिकता का मूल्य उस सौंदर्य को पुष्ट बनाने और आलोकित करने में है...[३५] एवं निस्सन्देह दार्शनिक और भावात्मक चिन्तन और उन्नयन के फलस्वरूप निराला का 'काव्य एक उदात्त भूमिका का काव्य है और ऐसे सौन्दर्य की झाँकियाँ दिखाता है जो सहज प्राकृतिक उच्छ्वास की भूमिका से एकदम ऊपर है।'

दर्शन कविता में परिपचित रूप में, कवि-व्यक्तित्व में समाहित होकर आया है या स्वतंत्र रूप में, इसकी कसौटी यह है कि रचना प्राणवन्त हुई है या नहीं। वाजपेयीजी को 'युगवाणी' एवं 'स्वर्णधूलि', 'स्वर्ण किरण' एवं 'उत्तरा' के कवि पन्त से यही शिकायत थी कि उन कृतियों में वे स्रष्टा कम और दर्शन-विशेष के व्याख्याता अधिक हो गए हैं। फलस्वरूप उनका काव्यगत सौन्दर्य-बोध खण्डित हुआ है। इसीलिए वे रचनाएँ वाजपेयीजी को काव्य की अपेक्षा काव्याभास अधिक लगीं। महादेवीजी की भी कुछ कविताओं में रहस्यवादी रूढ़ियों का अतिरिक्त पालन हुआ है, यह शिकायत उन्होंने कई बार की है। छायावादोत्तर काव्य में व्यक्त विविध विचारधाराओं के उग्र विवादी स्वर भी उन्हें प्रकृत काव्य-पद्धति के अनुकूल नहीं ज्ञात होते थे।

जो हो, "प्रसाद और निराला का काव्य इस युग का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वश्रेष्ठ काव्य है,"[३६] इस सम्बन्ध में वाजपेयीजी सुनिश्चित हैं, किन्तु इन दोनों कवियों में वे किसे अधिक श्रेष्ठ मानते हैं, इस प्रश्न का सीधा उत्तर देने से उन्होंने अपने को बचाया है। प्रसाद और निराला की तुलना के प्रयास को अपने-आपमें असंगत बताते हुए उन्होंने यह मन्तव्य प्रकट किया, "दोनों ही कवि अपनी प्रतिभा में महान् अप्रतिम और अपराजेय हैं।"[३७] फिर भी उनके समस्त लेखन और दृष्टिकोण पर विचार करने पर यही लगता है कि प्रसाद ही उनको अधिक वरेण्य कवि प्रतीत होते थे। वास्तव में निराला के विद्रोही एवं क्रान्तिकारी रूप का वे उस सीमा तक ही समर्थन करते थे जहाँ तक वह स्वच्छन्दतावाद की व्यापक परिधि के अन्तर्भुक्त किया जा सकता है। 'बादलराग' और 'एक बार बस और नाच तू श्यामा' सरीखी कविताओं में प्राकृतिक और आध्यात्मिक प्रतीकों के माध्यम से किया गया क्रान्ति का आवाहन अथवा 'भिक्षुक' एवं 'वह तोड़ती पत्थर' जैसी कविताओं का करुण यथार्थवादी चित्रण उन्हें उत्कृष्ट काव्य के रूप में ग्राह्य है। स्वच्छन्दतावादी कवि शैली के विद्रोही व्यक्तित्व से निराला की तुलना इसी दृष्टि से वे करते हैं। 'कुकुरमुत्ता', 'खजोहरा' जैसी रचनाओं को व्यंग्य-विनोद की कृतियों के रूप में···सर्वत्र व्याप्त कुरूपता की खिन्न प्रतिक्रिया के रूप में वे ग्रहण करते हैं। उनकी दृष्टि में निराला गुलाब के समान ही कुकुरमुत्ता को भी विकृति के रूप में उपस्थित करते हैं और उक्त दोनों विकृतियों के स्थान पर नई अभ्युदयशील संस्कृति की प्रतिष्ठा का रचनात्मक संकेत भी उस कविता में देते हैं। लगता है यह उनकी अपनी सांस्कृतिक मान्यताओं का प्रक्षेपण है, अन्यथा कैपिटलिस्ट गुलाब के मुकाबले में जनवादी कुकुरमुत्ता की महिमा की प्रतिष्ठा उसमें असन्दिग्ध रूप से की गयी है। इसके और एक कदम आगे जाकर लिखी गयी 'ऐ गर्म पकौड़ी' या 'बापू यदि तुम मुर्गी खाते' जैसी उग्र कविताएँ उनके लिए काव्याभास ही हैं। निराला के प्रति अतिशय सहानुभूति रखते हुए भी ऐसी कृतियों के सम्बन्ध में वाजपेयीजी की प्रतिक्रिया का सारांश इन पंक्तियों में उभरा है, "लौकिक जीवन का कुरूप पक्ष उनकी चेतना को बहुत दूर तक क्षुब्ध कर चुका था और वे जीवन-सम्बन्धी कुरूप प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करने लगे थे। हास्य और विनोद के माध्यम से उनका यह तृतीय दार्शनिक चरण अभिव्यक्त हुआ। इसे हम निराला की विघटित दार्शनिकता का चरण कह सकते हैं।"[३८] स्पष्ट है कि वाजपेयीजी की मध्यवर्गीय अभिजात सांस्कृतिक चेतना इस प्रकार के विघटन को अश्रेयस्कर मानती है। उनके प्रतिमानों के अनुसार प्रसाद में इस प्रकार का स्खलन कभी नहीं हुआ, जबकि निराला का काव्य-विकास ऊँची चोटियों और नीची घाटियों के विषम स्तरों पर हुआ है, प्रसाद के काव्य-विकास में निरन्तर अधिरोहण ही नहीं, कामायनी के रूप में छायावाद की सर्वोच्च उपलब्धि भी है। प्रसाद ने भारतेन्दु-द्विवेदी युगों के काव्य-संस्कारों से ऊपर उठकर छायावाद का प्रवर्त्तन, मंडन एवं सर्वाधिक उन्नयन किया था, वे अन्त तक उसी में रमे रहे थे जबकि निराला (और पंतजी भी) छायावाद के प्रमुख सहयोगी स्रष्टा होते हुए भी उसी से बँधे नहीं रहे, इतिहास की गतिशील शक्तियों से उद्भूत नयी काव्य-भूमियों पर उनका संचरण स्वाभाविक ही था। वाजपेयीजी की दृष्टि में इन नयी भूमियों पर इन दोनों महाकवियों का सृजन उनके अपने पूर्ववर्ती सृजन की तुलना में खुरदरा और आयाससिद्ध है। अतः यह अनुमान करना असंगत नहीं है कि जयशंकर 'प्रसाद' की भूमिका में १९३८ में व्यक्त किये गए अपने इस मत का पोषण वे अन्त तक करते रहे, "उसे (कवि को) विवेकवान् और पारदर्शी ही नहीं काव्यशक्ति से भी संपन्न होना चाहिए। प्रसादजी न केवल इन दोनों गुणों से युक्त थे, ऐसी असाधारण क्षमता इनमें रखते थे कि उतनी क्षमता का कोई दूसरा कलाकार हिन्दी साहित्य के इस युग में दिखाई नहीं देता। इस प्रकार वे युग के प्रवर्त्तक ही नहीं, उसकी सर्वश्रेष्ठ विभूति भी सिद्ध होते हैं।"[३९] निराला को उन्होंने 'कवि निराला' ग्रंथ में 'शताब्दी का कवि' कहा है, किन्तु इससे यह ध्वनि निकालना कि वे निराला को शताब्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि मानते थे, ठीक नहीं होगा। इसका अभिप्राय यही ज्ञात होता है कि निराला के काव्य में वे इस शताब्दी को सर्वाधिक प्रतिफलित पाते थे। इसी ग्रन्थ में राष्ट्रकवि पर प्रासंगिक विचार करते हुए उन्होंने लिखा है, "राष्ट्र कवि केवल राजनीतिक कवि नहीं हो सकता। उसे समग्र युगजीवन का प्रतिनिधित्व करना पड़ता है। इस दृष्टि से हमारे असली राष्ट्रकवि तो प्रसाद हैं। असली राष्ट्रकवि निराला हैं। जो युगद्रष्टा नहीं होगा, वह राष्ट्रकवि क्या होगा?"[४०] निराला के बारे में लिखते हुए प्रसाद का राष्ट्रकवि के रूप में अग्र उल्लेख आकस्मिक नहीं, उनकी मान्य-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ताओं के अनुरूप ही है। कुल मिलाकर ऐसा लगता है कि उनके मन में प्रसाद के प्रति अधिक श्रद्धा थी तो निराला के प्रति अधिक प्रेम। फिर भी इन दोनों में से यदि एक को ही सर्वश्रेष्ठ कवि के रूप में उन्हें चुनना पड़ता तो संभवतः वे प्रसाद को ही चुनते।

वाजपेयीजी ने आ० शुक्ल की समीक्षाओं की सीमा का निर्देश करते हुए लिखा था, "शुक्लजी का समीक्षाकार्य पांडित्यपूर्ण होता हुआ भी वैयक्तिक रुचियों का द्योतक है। कदाचित् इसी कारण वह मार्मिक है, किन्तु वस्तुगत और वैज्ञानिक नहीं।"[४१] यही बात स्वयं वाजपेयीजी के लिए भी कही जा सकती है और संभवतः अधिक औचित्य के साथ। प्रेमचन्दजी की कृतियों में कोई स्वतंत्र स्वानुभूत दर्शन न पाकर केवल सामयिकता को उनका आदर्श घोषित करना, पन्तजी के समस्त उत्तरवर्ती काव्य को करीब-करीब नकार देना, महादेवी की रहस्यानुभूति को धार्मिक रूढ़ि के निकट मानकर उनके काव्य में छायावाद युग की विशेषताएँ न देख पाना, आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी को समीक्षक न स्वीकार कर केवल शोधकर्त्ता मानना, प्रयोगवाद को बैठे-ठालों का धन्धा करार देना आदि-आदि उनके बहुत से निर्णयों को वस्तुगत और वैज्ञानिक मानना कठिन है। वाजपेयीजी की वैयक्तिक रुचि केवल मुखर समर्थन या प्रखर विरोध में ही झलकी हो, ऐसा नहीं है, संयत मौन में भी उसका आभास मिलता है। यह सचमुच आश्चर्यजनक तथ्य है कि उन्होंने किसी प्रगतिवादी लेखक या कृति पर जमकर अपने विचार प्रकट नहीं किये, कोई पूरा स्वतंत्र लेख नहीं लिखा। अपनी भूमिकाओं या सर्वेक्षणमूलक लेखों में प्रसंगवश उनकी चलती-सी चर्चा कर देना तो 'आधुनिक साहित्य' के प्रतिनिधि समीक्षक के 'दायित्व' के अनुकूल कार्य नहीं है।

ऐसा लगता है कि छायावादोत्तर हिन्दी साहित्य के साथ वे समरस नहीं हो सके। प्रगतिवादी संकीर्ण मताग्रह एवं साहित्य पर राजनीति के अंकुश से असहमत होते हुए भी वे उसके व्यापक मानव अभ्युदयकामी जीवन-दर्शन के प्रति सहानुभूति-सम्पन्न थे (तभी प्रगतिशील लेखक संघ की काशी शाखा के कई वर्षों तक वे सभापति रहे) किन्तु उसकी साहित्यिक उपलब्धियों से उन्हें सन्तोष नहीं था। उनका सौन्दर्य-प्रेमी मन इन कृतियों के वीभत्स यथार्थ चित्रण एवं कलाहीन अनगढ़पन से क्षुब्ध था। उसी को नया सौन्दर्यबोध मान लेने के लिए भी वह प्रस्तुत नहीं था। अपनी दृष्टि के अनुसार सैद्धान्तिक स्तर पर बहुलांशतः समर्थनीय एवं रचनात्मक स्तर पर असम्माननीय प्रयासों को वे न तो खुलकर सराह सकते थे, न नकार सकते थे। संभवतः वे अन्त तक इस धारा की ऐसी समर्थ कृति की प्रतीक्षा करते रहे, जिसे वे अपना अकुंठ समर्थन दे सकें। यह मनोभाव इस उक्ति से स्पष्ट हो जाता है, "भले ही समाजवादी रचनाएँ अपनी वर्तमान स्थिति में व्यापक संवेदना उत्पन्न न कर रही हों परन्तु उनसे आशा नहीं छोड़ी जा सकती और दिवास्वप्न वाले साहित्यिक आदर्श को नहीं अपनाया जा सकता।"[४२] फिर भी यदि वे उस आन्दोलन के साथ पूरी तरह से होते तो यशपाल, राहुल, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल आदि की कृतियों की त्रुटियों की रचनात्मक समीक्षा कर सकते थे, उनकी विशेषताओं को उभारकर उजागर कर सकते थे किन्तु उन्होंने वैसा नहीं किया।

व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन के विविध रूपों को (चाहे वह गांधीवादी रामनामी ओढ़कर आये, चाहे मनोविश्लेषण की बैसाखी लगाकर, चाहे सामाजिकता का जामा पहनकर) और प्रयोगवादी रचनाओं को अस्वस्थ एवं हानिकर मानने के कारण उन्होंने उसका बहुत प्रबल विरोध किया। 'आधुनिक साहित्य' में संकलित 'प्रयोगवादी रचनाएँ' शीर्षक उनका लेख विवादी लेखन का जितना उत्कृष्ट उदाहरण है, उतना ही उनकी एकांगिता और वैयक्तिक रुचि-शासित लेखन का भी। विरोध की झक में उनके द्वारा सन्तुलन खो देने के कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। हंस के आत्मकथा अंक को लेकर प्रेमचन्द के साथ हुए उनके विवाद में भी यह बात देखी जा सकती है। शुक्लजी के रसवादी मानदण्डों को साहित्यालोचन के लिए अपर्याप्त सिद्ध करने की धुन में वे यहाँ तक कह गये थे कि, "ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर भी यह प्रकट होगा कि संस्कृति के सभी साहित्यिक सम्प्रदायों के मूल में न तो कोई महान् आत्मा है और न कोई आदर्शोन्मुख महती प्रेरणा।"[४३] इसे परिस्थितियों का व्यंग्य ही कहना चाहिए कि 'राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबंध' तक आते-आते वाजपेयीजी भी काव्य की रसात्मकता के सिद्धान्त को मान लेते हैं। अब उनका मत है, "जब हम कहते हैं कि 'रस' काव्य की आत्मा है तब हमारा आशय यह होता है कि प्रत्येक काव्य में, यदि वह वस्तुतः काव्य है, मानव-समाज के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आह्लादकारिणी भावात्मक, नैतिक और बौद्धिक अनुभूतियों का संकलन होगा ही। 'रस' शब्द से आचार्यों का आशय काव्य की इस मानवतावादी सत्ता से ही है।"[४४] चलिये, यही सही, तब तो कम-से-कम रस सम्प्रदाय के मूल में आदर्शवादी महती प्रेरणा भी है, क्योंकि मानवतावादी तत्त्व के कारण उसे इतना श्रेय तो दिया ही जाना चाहिए। इसी ग्रन्थ की भूमिका में उन्होंने यह भी कहा है, 'हमारे प्राचीन सिद्धान्त उच्चतम मनीषा की उपज हैं' और हमें उनकी ऐसी छानबीन करनी होगी जिससे "साहित्य के सार्वजनिक क्षेत्र में···हम उन्हें नये उपयोग में लाने के योग्य बना सकें।" उनसे पूर्णतः सहमत होते हुए भी हम यह नहीं समझ पाते कि आ० शुक्ल इससे भिन्न और क्या कर रहे थे, जब उन्हें वाजपेयीजी का कोप-भाजन बनना पड़ा था।

जो हो, छायावादोत्तर वादग्रस्त रचनाएँ हिन्दी साहित्य को एक ओर अन्तश्चेतनावादी दलदल में और दूसरी ओर बौद्धिकता के अनुर्वर रेतीले मैदान में फँसा रही हैं, एवं 'स्वस्थ, उल्लासपूर्ण और विकासोन्मुख' भावनाओं को जगाने में समर्थ नहीं हो रही हैं, यह शिकायत उन्होंने कई स्थानों पर कई प्रकार से की है। हिन्दी साहित्य के भविष्य के प्रति आश्वस्त रहने का सन्देश अपने वक्तव्यों में देते रहने पर भी वे स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद की उसकी विकास दिशा से—कम-से-कम उसकी उन धाराओं से असन्तुष्ट ही नहीं विक्षुब्ध प्रतीत होते हैं जो भारतीय समाज को वर्गों में बाँटकर साहित्य को किसी मतवाद के प्रचार का माध्यम बताकर अपनी साहित्यिक और सांस्कृतिक दुर्बलता को वर्गों की आड़ में छिपाना चाहती हैं अथवा जो दमित एवं कुंठित कामवासनाओं से उत्पन्न स्वप्न-प्रतीकों को काव्य-प्रतीकों के रूप में परिणत करनेवाली रचनाओं को साहित्य की श्रेष्ठतम रचनाएँ घोषित करना चाहती हैं। राष्ट्रभाषा हिन्दी के साहित्यकारों को अपना उत्तरदायित्व समझना चाहिए और उन्हें सच्चे एवं गम्भीर अर्थों में राष्ट्रीय साहित्य के सृजन में प्रवृत्त होना चाहिए, उनकी इस भावना को समादरणीय एवं उचित मानते हुए भी हम उनके इस अधिनायकवादी आवेश का समर्थन नहीं कर सकते कि, "यदि हमारे लेखक राष्ट्रीय साहित्य की जिम्मेदारियों को नहीं समझते, तो वे किसी वर्ग के हों—अथवा किसी भी वर्ग के न हों—तत्काल हमारी साहित्यिक परम्परा से अलग कर दिये जाने चाहिए। हमारे राष्ट्र को और उसके राष्ट्रीय साहित्य को ऐसे लोगों की आवश्यकता नहीं है, जो किसी भी रूप में हमारी राष्ट्रीय शक्ति और संघटन का विनाश करने पर तुले हों।"[४५] साहित्य के स्तर पर यह असहिष्णुता समीक्षा को रचनात्मक साहित्य की 'प्रिय सखी और शुभैषिणी सेविका' के स्थान पर नियंत्रिका बनाती है जिससे वाजपेयीजी के ही अनुसार 'निर्माणकारी प्रतिभा कुंठित हुए बिना नहीं रहती' एवं राजनीति के स्तर पर राज्य को अधिनायकतंत्र की ओर उन्मुख करती है जिससे वाजपेयीजी का और नवीन भारत का लक्ष्य कल्याणकारी जनतंत्र खंडित होता है।

राष्ट्रीय साहित्य की रचना की उनकी अपील का अभीष्ट प्रभाव साहित्यकारों पर क्यों नहीं पड़ा? क्या सारा दोष साहित्यकारों का ही है? नई कविता का विवेचन करते हुए 'आधुनिक साहित्य' में उन्होंने लिखा था, "वर्तमान काव्य का भविष्य बहुत-कुछ देश के राजनीतिक भविष्य पर अवलम्बित है। यदि देश में राजनीतिक क्रान्ति सफल हो गयी तो वर्तमान काव्य का बहुत-कुछ कायाकल्प हो जाएगा। हिन्दी कविता में प्रगतिवादी पक्ष का प्राबल्य होगा और नवीन कविता वीर गीतों तथा वीर प्रबन्धों की ओर अग्रसर होगी।"[४६] उनका राष्ट्रवादी मन इस बात की कल्पना भी नहीं करना चाहता था कि यदि हमारी राजनीतिक क्रान्ति सफल नहीं हो पायी तो क्या होगा। हिन्दी के नवलेखन में व्याप्त कुंठा, अनास्था, निराशा केवल आयातित या अनुकरण-जन्य ही है, यह कहना सच्चाई पर पर्दा डालना है। हमारी राजनीतिक अदूरदर्शिता तथा अर्थनीतिक अयथार्थवादिता ने देश को जिस दलदल में फँसाया है, हमारा साहित्यिक दलदल बहुत-कुछ उसी की उपज है। सच्चाई के इस कड़वे घूँट को पिये बिना तथा मूल की भूल को सुधारे बिना साहित्यकारों की भर्त्सना कर या उन्हें सदुपदेश देकर अभीष्ट उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती। वाजपेयीजी 'साहित्य की राष्ट्रीय चेतना' का प्रस्ताव करते हुए जिस अतिशय आदर्शवादी दृष्टि का अनुगमन करते हैं उसका वस्तुगत आधार दुर्बल है। उनका मत है, "मैं यह स्वीकार करता हूँ कि पिछले कुछ वर्षों से हमारी साहित्यिक सृष्टि व्यक्तिमुखी हो गयी है और यद्यपि हम साहित्य में यथार्थ का नारा लगाने लगे हैं पर वह यथार्थ वस्तुतः राष्ट्रीय भूमिका का यथार्थ नहीं है, वह हमारा निजी यथार्थ हो सकता है। इस पुस्तक में ऐसे निजी यथार्थों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को वास्तविक यथार्थ मानने से इनकार किया गया है।"[४७] यदि किसी एक कलाकार का निजी यथार्थ राष्ट्रीय भूमिका के यथार्थ के प्रतिकूल है तो एक दृष्टि से उसे वास्तविक यथार्थ नहीं भी माना जा सकता है। किन्तु तब हमें अपने निर्णय के औचित्य के प्रमाणस्वरूप राष्ट्रीय भूमिका के यथार्थ की प्रेरणा से रचित नयी उत्कृष्ट साहित्यिक कृतियाँ प्रस्तुत करनी होंगी क्योंकि सामाजिक यथार्थ का विशेषतः उससे उद्भूत मानवीय प्रतिक्रियाओं का जैसा सच्चा प्रतिफलन साहित्यिक कृतियों में होता है वैसा राजनीतिक नेताओं के भाषणों या आयोगों के प्रतिवेदनों में नहीं होता। क्या वाजपेयीजी ऐसा कर पाये हैं ? क्या हमारी अधिकांश उत्कृष्ट नयी साहित्यिक प्रतिभाएँ ऐसे साहित्य का सृजन कर रही हैं ? यदि नहीं तो अधिकांश साहित्यकारों के निजी यथार्थ को वास्तविक यथार्थ मानने से इनकार करना क्या एक अयथार्थ स्थिति नहीं है ?

एक विरोधाभास यह भी है कि वाजपेयीजी समीक्षा के अपने परवर्ती दौर में जिन रचनाकारों के जीवन-दर्शन को सिद्धान्ततः अस्वस्थ और अस्वीकार्य घोषित करते रहे हैं, छायावादोत्तर साहित्यिक उपलब्धियों के रूप में उन्हीं की कृतियों को उपस्थित करते रहे हैं। यह प्रवृत्ति उपन्यासों से आरम्भ होकर कविता तक आयी है। उपन्यासों पर लिखे सर्वेक्षणमूलक लेखों को छोड़कर उनके विशिष्ट लेख त्यागपत्र, 'शेखर : एक जीवनी' तथा व्यक्तिवादी उपन्यास पर हैं, झूठा-सच, बलचनमा या समाजवादी उपन्यास पर नहीं। नयी कविता को प्रयोगवादियों की सीर मानने से वाजपेयीजी अपने ग्रन्थों में (एवं अपने द्वारा निर्देशित शोधग्रन्थों में भी) बराबर इनकार करते रहे किन्तु उनकी मृत्यु के कुछ पूर्व 'धर्मयुग' के तीन अंकों में 'नयी कविता : एक पुनरीक्षण' शीर्षक से जो निबन्ध प्रकाशित हुआ उसमें नयी कविता के प्रमुख हस्ताक्षरों के रूप में अज्ञेय, भारती, गिरिजाकुमार माथुर, मुक्तिबोध आदि 'सप्तकों' के आठ कवियों के अतिरिक्त जिन दो कवियों को गिनाया गया वे जगदीश गुप्त और दुष्यन्त कुमार हैं, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल या त्रिलोचन नहीं। और इनमें भी (सैद्धांतिक अन्तरों एवं असहमतियों को व्यक्त करते हुए) उन्हें लगा है कि "यदि अज्ञेय में निराला के पौरुष का प्रतिफलन मिलता है तो भारती में निराला की शृंगारिक और कोमल भावनाएँ आभासित होती हैं।"[४८] जबकि 'निराला' की भाँति मुक्तिबोध ने भी अनेक काव्य-रूपों का प्रयोग किया है। परन्तु जहाँ निराला एक सधे हुए कलाकार के रूप में सर्वत्र विद्यमान हैं वहाँ मुक्तिबोध के काव्यप्रयोग चारुतारहित और ऊबड़-खाबड़ हैं। मुक्तिबोध की काव्य-भाषा भी किसी सुनिश्चित प्रतिमान की सृष्टि नहीं करती।··· मुक्तिबोध की काव्य-भाषा में लय और संगीत की अपेक्षा चिल्लाहट का अधिक प्रत्यय मिलता है।"[४९] यह भी स्मरण रहे कि इस 'ऊबड़खाबड़पन' और 'चिल्लाहट' को युग के मिज़ाज के अनुरूप गुण न मानकर वे उनकी त्रुटि ही मानते रहे क्योंकि उनकी धारणा थी कि मुक्तिबोध को संभवतः इन्हें दूर करने का अवसर नहीं मिला। इससे दो निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा। एक तो यह कि साहित्य में 'वस्तु' की प्रधानता को स्वीकारते हुए भी उनकी उत्कृष्टता का विचार समग्र दृष्टि से करते थे और उनकी विचार-प्रक्रिया के अनुसार हिन्दी के प्रगतिवादी साहित्य की तुलना में उसका प्रयोगवादी साहित्य (जिसकी परिणति नवलेखन में, विशेषतः कविता के क्षेत्र में नयी कविता में हुई) साहित्यिक उपलब्धि के रूप में उत्कृष्टतर है। उनका यह निर्णय आकस्मिक नहीं है, यह उनकी 'काव्य के प्रति अप्रतिम निष्ठा' वाली मान्यता के अनुरूप ही है जिसके अनुसार उन्होंने कहा था कि "किसी भी सिद्धान्त के संबंध में कभी मतैक्य नहीं हो सकता, किन्तु (कलाकृति के) सौंदर्य के संबंध में कभी दो रायें नहीं हो सकतीं।"[५०] दूसरा यह कि नयी कविता के मर्म का उद्घाटन करने में उनके काव्य-संबंधी प्रतिमान बहुत सहायक सिद्ध नहीं होते अन्यथा मुख्यतः जिस मुक्तिबोध के काव्य के आधार पर नयी पीढ़ी के प्रतिनिधि आलोचक डॉ० नामवरसिंह 'कविता के नये प्रतिमान' स्थिर कर रहे हैं, उसकी काव्योपलब्धि के बारे में वाजपेयीजी ऐसे अनुदार मत व्यक्त नहीं करते। जो हो, आरंभ में प्रयोगवादी नयी कविता का प्रचंड विरोध करने के बावजूद अपने अन्तिम लेख में उसकी विचारणा से असहमत होते हुए भी उसके साहित्यिक कृतित्व को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का गौरव प्रदान करना (उदाहरण के लिए भारती के 'अन्धायुग' को टी० एस० इलियट के 'मरडर इन कैथेड्रल' की भूमिका का कार्य कहना) एक ओर प्रबल वैयक्तिक रुचि के ऊपर उनकी काव्यनिष्ठा को प्रमाणित करता है, तो दूसरी ओर आचार्य शुक्ल के संबंध में अभिव्यक्त उनके इस मत को उन्हीं के ऊपर घटित कर उन्हें शुक्लजी का 'सच्चा शिष्य' भी सिद्ध करता है। "नयी काव्य-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रगति को 'ब्लैंकचेक' न देकर शुक्लजी ने उसके परिष्कार के कार्य में और उसके बल-संचय में प्रकारान्तर से सहायता ही पहुँचाई। कोई भी व्यक्ति, जिस पर साहित्य का कुछ उत्तर-दायित्व है, प्रत्येक नवागत काव्यधारा में बह जाना पसन्द नहीं कर सकता।"[५१]

आचार्य वाजपेयी की समीक्षा को स्वच्छन्दतावादी कहने के अतिरिक्त छायावादी, सौष्ठववादी, प्रगतिशील स्वच्छन्दता-वादी, रसवादी तथा अध्यात्मवादी भी कहा गया है। स्वयं वाजपेयीजी इन विशेषणों से यह अर्थ निकालकर कि 'मेरी समीक्षा में किसी एक वाद का अधिकार नहीं है' प्रसन्न हैं तथापि उनका कथन है, "यदि विशेषणों को निकालकर केवल साहित्य-समीक्षक कहा जाये तो मुझे सर्वाधिक प्रसन्नता होगी।"[५२] किन्तु विवेचकों को अन्य साहित्य-समीक्षकों से उनकी पृथकता और उनकी स्वकीयता का निर्देश करने के लिए ऐसे किसी विशेषण की आवश्यकता का अनुभव होता ही है। हमारी समझ में उन्हें स्वच्छन्दतावादी समीक्षक कहना ही अधिक समीचीन है। छायावाद आरंभ में तो हिन्दी के क्षेत्र में मुख्यतः स्वच्छन्दतावादी प्रेरणा से रचित साहित्य का परि-हासपरक नाम था, बाद में इससे अभिहित साहित्य की उत्कृष्टता सिद्ध हो जाने पर इस नाम को स्वीकार कर छाया के विशिष्ट अर्थ करने के प्रयास की तुलना पन्तजी ने 'छाया-वाद : पुनर्मूल्यांकन' में 'बुद्धू' को 'बुद्ध' का तद्भव सिद्ध करने के प्रयास से कर, उसकी अयथार्थता भली-भाँति दरसा दी है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास का विवेचन करते समय 'छायावाद' संज्ञा का प्रयोग करना अनुचित नहीं है। किन्तु व्यापक दृष्टि से विचार करते समय साहित्य-सृजन के मूल में निहित तीन प्रधान प्रवृत्तियों को उनके सर्वजन स्वीकृत नामों—श्रेण्यतावाद (क्लासिसिज़्म) स्वच्छन्दतावाद (रोमांटिसिज़्म) तथा यथार्थवाद (रियलिज़्म) से पुकारना ही ठीक है। स्वयं वाजपेयीजी ने हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी (देखिए पृ० १४) से आरंभ कर 'धर्मयुग' में प्रकाशित अपने अन्तिम निबंध तक मौलिक साहित्यिक प्रवृत्तियों का निर्देश करते समय इसी व्यापक नाम 'स्वच्छन्दतावाद' का ही प्रयोग किया है। जो विवेचक उन्हें सौष्ठववादी या प्रगतिशील स्वच्छन्दतावादी कहना चाहते हैं, वे निराला के संदर्भ में कही गयी वाजपेयीजी की इस उक्ति पर विचार करें, "निराला का स्वच्छन्दतावादी काव्य केवल सौंदर्यवादी या कल्पना-प्रधान नहीं है। इसमें सामाजिक और युग-जीवन के तत्त्वों का गंभीर योग हुआ है।"[५३] इसके चलते उन्हें 'प्रगतिशील कवि' कहने को अंशतः संगत मानते हुए भी निराला काव्य के वस्तु और कलापक्ष के सम्पूर्ण निरूपण के लिए उसे अपर्याप्त बताकर वे कहते हैं, "स्वयं स्वच्छन्दतावाद शब्द में इतनी व्याप्ति है कि वह केवल सौंदर्यवादी या कलावादी प्रवृत्तियों को ही नहीं, युग-जीवन, व्यक्ति और समाज की नाना प्रगतियों और आदर्शों को समाहित कर सकता है।" जो बात निराला के संदर्भ में वाजपेयीजी ने कही है, उसी को उनकी समीक्षा-पद्धति पर लागू करने पर हम उनके सौष्ठव-बोध और प्रगति-शीलता दोनों को सहज ही स्वच्छन्दतावाद में अन्तर्भुक्त कर सकते हैं। वाजपेयीजी को परंपरागत अर्थ में 'रसवादी' नहीं कहा जा सकता। रस की जो नयी व्याख्या 'आह्लादकारिणी, भावात्मक, नैतिक और बौद्धिक अनुभूतियों की···मानवता-वादी सत्ता' के रूप में उन्होंने की है, वह उनकी स्वच्छन्दता-वादी दृष्टि का एक और प्रमाण है। जिस अध्यात्मवाद की वे काव्य में उपयोगिता स्वीकार करते हैं, उसे भी वे स्वच्छन्दतावाद के अन्तर्गत ही मानते हैं। न विश्वास हो तो उनके अन्तिम निबंध में प्रदत्त स्वच्छन्दतावाद की भूमिका का विश्लेषण देख लीजिये, "स्वच्छन्दतावादी धारा का मुख्य स्वर मर्यादाओं के विरोध में रहा है—चाहे वे साहित्यिक मर्यादाएँ हों अथवा मानव-जीवन-संबंधी हों। यह धारा सौंदर्य, प्रेम और रहस्य की आध्यात्मिक अनुभूति पर पहुँचने का प्रयत्न करती रही है। इसका विरोध एक ओर प्राचीन क्लासिकल काव्य की सामूहिकता से रहा है और दूसरी ओर वह यथार्थवाद की तथ्यात्मक पद्धति को पर्याप्त नहीं मानती।"[५४] क्या ऐसी ही भूमिका वाजपेयीजी ने भी नहीं निभायी है? उन्होंने न केवल हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी काव्य की मार्मिक समीक्षा ही प्रस्तुत की बल्कि उस जीवन-दृष्टि को सांस्कृतिक, सामाजिक स्तर पर भी अधिमान दिया। अतः हम उनके लिए 'स्वच्छन्दतावादी समीक्षक' की आख्या को सर्वथा उचित समझते हैं।

समीक्षक के रूप में वाजपेयीजी की प्रमुख व्यक्तिगत विशेषताओं का निरूपण किये बिना यह लेख अपूर्ण ही रह जायेगा। पहली ही बात जो उनके पाठक को प्रभावित करती है, वह आलोच्य कृति या कर्ता के समग्र प्रभाव को थोड़े में किन्तु नुकीलेपन के साथ अंकित करने की उनकी अद्भुत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्षमता है। अनावश्यक विस्तार में न जाकर रचना या रचयिता की मौलिक विशिष्टता का उद्‌घाटन करना ही उनकी सारग्राही प्रतिभा को प्रिय रहा है। इसीलिए उनकी समीक्षाएँ छोटे निबन्धों के रूप में सामने आई हैं वृहदाकार क्रमबद्ध ग्रंथों के रूप में नहीं। 'जयशंकर प्रसाद', 'महाकवि सूरदास' और 'कवि निराला' शीर्षक उनके ग्रंथ भी फुटकर निबन्धों के संग्रह ही हैं और इसीलिए 'पुस्तक रूप में' अपूर्णता का आभास देते हैं। 'जयशंकर प्रसाद' की भूमिका में उन्होंने स्वयं लिखा है, "मैं कोई प्रशस्त लेखक नहीं हूँ, जो विषय को विस्तार के साथ समझाते और उसे पूरा-पूरा उद्‌घाटित कर देते हैं···मैं तो साहित्य में रचनाकार की अंतःप्रेरणा का अनुसन्धान करने में ही व्यस्त हूँ। इसीके साथ-साथ संक्षेप में बाह्य स्थितियों का दिग्दर्शन करा देना और उन पर रचनाकार की प्रतिक्रिया दिखा देना तथा अंत में उसकी कलात्मक चेष्टाओं का परिचय दे देना बस समझता हूँ।"[४५] इसीलिए उन्होंने अपनी समीक्षा शैली को 'इंगित शैली' भी कहा है। यह शैली छायावादी प्रगीत मुक्तकों की शैली के अनुरूप ही है जिनमें वस्तुगत वर्णन के स्थान पर किसी मनःस्थिति-विशेष के उत्कट संवेदन को प्रधानता दी जाती रही है। 'आधुनिक साहित्य' तथा 'नया साहित्य' नये प्रश्न की दीर्घ भूमिकाओं को 'प्रलय की छाया में', 'परिवर्तन', 'वनबेला' जैसे दीर्घ प्रगीत मुक्तकों के समशील समझना चाहिए।

उनकी दूसरी विशेषता उनकी दबंग आक्रामकता है। उनकी इस प्रवृत्ति के विकास में वह परिस्थिति भी सहायक हुई जिसमें उन्होंने काम किया। आ० महावीरप्रसाद द्विवेदी और आ० रामचन्द्र शुक्ल के प्रबल विरोध के बावजूद समीक्षा के क्षेत्र में छायावाद के महत्त्व की प्रतिष्ठा उन्हीं के सरीखे योद्धा का कार्य था। इस दृष्टि से वे निराला के योग्य सहयोगी सिद्ध होते हैं। बाद में उन्हें उन लोगों से मोर्चा लेना पड़ा जो छायावाद को पलायनवादी साबित करना चाहते थे और उसके स्थान पर मतवादी उत्साहप्रदीप्त या वैयक्तिक कुण्ठाग्रस्त बौद्धिकता-प्रधान काव्यधाराओं को प्रतिष्ठित करना चाहते थे। यहाँ यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि जहाँ पहले दौर में उनकी आक्रामकता विधायक थी वहाँ दूसरे दौर में वह निषेधक हो गयी थी। बात यह है कि व्यावहारिक समीक्षा विधायकता के लिए रचना के साथ सामरस्य की माँग करती है। छायावादोत्तर साहित्य से वाजपेयीजी समरस नहीं हो सकते थे, अतः उनकी परवर्ती समीक्षाएँ मुख्यतः निषेधक होने के लिए बाध्य थीं।

वाजपेयीजी की आक्रामकता की प्रभविष्णुता उनके चुटीले व्यंग्यों और पैने प्रश्नों के कारण बहुत बढ़ जाती है। आलोचना-समर में उतरने पर अपने गुरुजनों के प्रति सम्मान रखते हुए भी उन्हें वे बख्शते नहीं थे, फिर समवयस्कों की तो बात ही जाने दीजिए। आ० रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द, जैनेन्द्र कुमार, अज्ञेय आदि की कतिपय मान्यताओं का विरोध करते हुए उन पर तीखे व्यंग्य-बाणों की वर्षा करने में वे कुण्ठित नहीं हुए। इसी तरह उनकी आक्रामक कला का एक खास कौशल प्रश्न-पर-प्रश्न पूछते चले जाना था। ये प्रश्न इस क्रम से उभारे जाते थे कि अन्त तक आते-आते प्रतिपक्षी स्वतः निग्रह स्थान में पहुँच जाता था।

उनकी तीसरी विशेषता सतत आत्मपरीक्षण की उनकी अनुकरणीय प्रवृत्ति है। इसका प्रतिफलन पूर्ववर्ती अनुदार एवं अतिशय उदार दोनों प्रकार के निर्णयों को सन्तुलित करने में हुआ है। जहाँ एक ओर आ० रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द एवं प्रयोगवादी कविता के प्रति अपने विरोधमूलक अतिरेकों को उन्होंने बाद में संयमित किया एवं उनके प्रदेयों के महत्त्व को स्वीकारा नहीं, दूसरी ओर छायावादी काव्य की सीमाओं का भी उल्लेख किया, उदाहरण के लिए उन्होंने बाद में माना कि "आज जब मैं प्रसाद के 'आँसू' काव्य को देखता हूँ तो उसमें अंग-संघटन की बड़ी कमी दिखाई देती है।"[४६] अथवा "कामायनी की उक्ति के अनुसार यह रचना कोमलता में बल खाती" हुई है···महाकाव्य का गम्भीर स्वर भी इसमें पूरे वेग से नहीं उतरा।[४७] अपने पूर्वनिष्कर्षों में इस प्रकार संशोधन करना निस्सन्देह बहुत बड़े कलेजे का काम है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास को समझने के लिए वाजपेयीजी की समीक्षाओं का अध्ययन अनिवार्य है। छायावाद की विशेषताओं का उद्‌घाटन करने में वे अद्वितीय हैं। राष्ट्रीय साहित्य सम्बन्धी उनकी स्थापनाएँ भावी पीढ़ी के कृती साहित्यकारों के लिए उनकी वसीयत हैं। परवर्ती हिन्दी समीक्षा पर उनकी गहरी छाप सहज ही देखी जा सकती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि आचार्य वाजपेयी की अतिशय पौरुषयुक्त, स्वतंत्रचेता, रजोगुणी समीक्षाओं ने भारतीय साहित्य-समीक्षा को महिम्नतर बनाया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाद-टिप्पणियाँ

१. महाकवि सूरदास, पृ० ५ ।
२. वही, पृ० ५ ।
३. वही, पृ० ८७ ।
४. नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० २२१ ।
५. आधुनिक साहित्य, पृ० ४०२ ।
६. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ० ११ ।
७. वही, पृ० ३२ ।
८. जयशंकर प्रसाद, पृ० ११ ।
९. वही, पृ० १२ ।
१०. हि० सा० बी० श०, पृ० ८७ ।
११. आधुनिक साहित्य, पृ० २८४-८५ ।
१२. नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० २ ।
१३. वही, पृ० ४-५ ।
१४. आधुनिक साहित्य, पृ० ६ ।
१५. हि० सा० बी० श०, पृ० १६२ ।
१६. वही, पृ० १७० ।
१७. नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० २७ ।
१८. राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध, पृ० अ ।
१९. जयशंकर प्रसाद, पृ० १९ ।
२०. कवि निराला, पृ० २०१ ।
२१. ,, ,, पृ० १७६ ।
२२. ,, ,, पृ० १७६ ।
२३. ,, ,, पृ० १९० ।
२४. ,, ,, पृ० १०१ ।
२५. ,, ,, पृ० १९० ।
२६. ,, ,, पृ० १८० ।
२७. जयशंकर प्रसाद, पृ० २६-२७ ।
२८. कवि निराला, पृ० १७८ ।
२९. वही, पृ० १७९ ।
३०. जयशंकर प्रसाद, पृ० २९ ।
३१. वही, पृ० १०५ ।
३२. वही, पृ० ११४ ।
३३. वही, पृ० ११४ ।
३४. कवि निराला, पृ० १८५ ।
३५. वही, पृ० १६२ ।
३६. वही, पृ० १७६ ।
३७. वही, पृ० १८५ ।
३८. वही, पृ० १६२ ।
३९. जयशंकर प्रसाद, पृ० १६ ।
४०. कवि निराला, पृ० १९२ ।
४१. आधुनिक साहित्य, पृ० २७९ ।
४२. नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० ३० ।
४३. हि० सा० बी० श०, पृ० ७० ।
४४. राष्ट्रीय सा० त० अ० नि०, पृ० ३३ ।
४५. आधुनिक साहित्य की भूमिका, पृ० ५० ।
४६. आ० सा०, पृ० ११ ।
४७. रा० सा० त० अ० नि०, पृ० ११ ।
४८. धर्मयुग (६ अगस्त १९६७), पृष्ठ १६ ।
४९. वही, पृष्ठ ३८ ।
५०. हि० सा० बी० श०, पृष्ठ ८३ ।
५१. वही, पृष्ठ ८२ ।
५२. रा० सा० त० अ० नि०, पृष्ठ १३१ ।
५३. कवि निराला, पृष्ठ ९९ ।
५४. धर्मयुग (६ अगस्त १९६७), पृ० १८ ।
५५. जयशंकर प्रसाद, पृ० १ ।
५६. नया साहित्य : नये प्रश्न, निकष, पृ० ७ ।
५७. आधुनिक साहित्य, भूमिका, पृ० ३८ ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहचान

(लीलाधर जगूड़ी के लिए)

नीलाभ

वह अकस्मात नहीं होगा ।
वह ख़ुशनुमा या ख़तरनाक परिवर्तन ।
अकस्मात नहीं होगा ।
सहसा तुम्हें चकित और डरा हुआ और ख़ुश बनाकर छोड़ता हुआ ।
वह जब भी होगा ।
ख़ून के फ़व्वारों के बीच आग के शोले लपकेंगे
और अपने बदले हुए चेहरे तुम्हें एकदम और सचमुच
निराश और अजनबी बनाकर छोड़ जायेंगे ।

कितना मुश्किल हो गया है ।
कितना मुश्किल हो गया है तुम्हारे लिए ।
अपने अन्दर एक टूटे हुए तालमेल को लिये हुए जीना ।
लगातार और निराश ।
जबकि अब भी वही हवा है । वही मौसम ।
दिमाग़ को अपनी कोहरीली और विषधर धुंध से
जकड़ता हुआ ।

बहुत-सी चीज़ों की पहचान धीरे-धीरे शुरू होती है
जलते हुए तेज़ ज़हर की तरह नस-नस में रचती हुई
और एक ऐसी थकान में बदल जाती है
जिसका कोई अन्त नहीं । तुम्हारे अन्दर और बाहर ।
लेकिन तुम पूछ नहीं सकते कि :
क्यों नहीं है इस मौसम में
किसी ख़ुशनुमा सच की तलाश ।

कितना मुश्किल है तुम्हारे लिए
यह सब लिखना, जानना, और अपने आपको
दण्डरहित बनाये रख पाना
जबकि तुम्हारे अन्दर से आती हुई
वे मुतवातिर आवाज़ें
तुम्हें निरपराध नहीं रहने देतीं ।

अपने आपको लगातार छलते रहने की मजबूरी
यह सिर्फ़ तुम्हारी नहीं है
अपने क़द से लगातार बड़े नज़र आते रहने की मजबूरी ।
वह कौन-सी हवा थी ? कौन-सा मौसम ?
जिसमें एकाएक सब-कुछ बदल गया ।
तुम्हारे अन्दर और बाहर ।

अपने एहसास को सँभाल कर रखो ।
दिमाग़ की कोहरीली और विषधर धुंध
की पहचान के बावजूद ।
क्योंकि वही । सिर्फ़ वही ।
तुम्हें अब भी दे सकता है जंगल की ख़ुशबू

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और हवा की महक। जादू से नहीं।
अपनी नसों में दौड़ते हुए ज़हर को बरदाश्त करने के लगातार दर्द से।

लेकिन तुम कोई भी हो। तुम्हारे हाथों पर भी खून है।
और कन्धों पर लाशों का एक बदबूदार, सड़ता हुआ जंगल।
एक और गहरी और घातक दुरभिसन्धि की शुरुआत।
शुरुआत और अन्त। सब-कुछ इसी तरह होता है।
कमज़ोर हाथों की साज़िश से निकल कर
फिर से उसी में डूबता हुआ।
और तुम इससे इनकार नहीं कर सकते।

आज भी वही बदसूरत, चिरपरिचित फीके रंगीन चिथड़े
तुम्हें दूर से शहर के ऊपर लहराते हुए दिखते हैं।
वही अर्थहीन, उकता देने वाली, समरस धुन
घरों में लगातार बजती रहती है।
लेकिन तुम कुछ नहीं कर सकते।
क्योंकि इस सबसे अलग
अगर कोई दुनिया सचमुच तुम्हारी है
तो तुमने उसे अभी तक खोजा नहीं है।
आज़ादी एक ऐसा तवील खून-खराबा है
जिसका तुम्हारे एहसास में ज़रा-सा भी दखल नहीं।
तुमने पाया है इस अँधेरे, सील भरे और बदबूदार तहखाने में
इक्कीस वर्ष काटने के बाद भी तुम वयस्क नहीं हुए हो। और
समय। ऐसा समय कि सब-कुछ
अपने आप व्यवस्थित हो जाय
नहीं आया है।
अगर कोई खुशी है इस आज़ादी में—
खुद अपने-आपको नष्ट करने की खुशी के इलावा—
तो उसे तुम पा नहीं सके हो।

एक बहुत गहरी और निर्मम दलदल में फँस गये हैं।
तुम्हारे पाँव। और तुम कुछ नहीं कर सकते।
तुम भटक गये हो। लेकिन तुम कुछ नहीं कर सकते।
तुमने अपने एहसास को लगातार मरते हुए देखा है
तुमने सुनी है सहसा जगकर। नींद के कोहरे को भेद कर
अब तक आती हुई। वह आवाज़ या चीख़-नुमा कचोट। लगातार।
लेकिन तुम कुछ नहीं कर सकते।

तुम प्रार्थना नहीं कर सकते।
क्योंकि तुम्हारे पास वह आदिम भय नहीं है
जिससे सब प्रार्थनाएँ निकलती हैं।
तुम लड़ नहीं सकते
क्योंकि तुम्हारे पास हथियार नहीं हैं।
वे तुम्हें बोलने भी नहीं देंगे।
तुम्हारे बचपन के सपनों की दूसरी तरफ़
बसा हुआ तुम्हारा असली देश
एक बहुत लम्बी अन्धी गली है
जिसके पार तुम कभी जा सकते थे।

तुम असंतुष्ट हो सकते थे।
इसके बावजूद कि तुम्हें हमेशा
सन्तोष और त्याग का पाठ पढ़ाया गया था।
तुम अपने-आपको रोक सकते थे
अपने अन्तर के ज़हर से लगातार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुलाम और बीमार और अपंग बच्चे पैदा
करने से
लेकिन तुम्हारे पास उद्धरित करने के लिए
वंश-रक्षा का एक लम्बा और कामयाब
इतिहास था।

तुम एक बार
तुम सिर्फ़ एक बार पूरी साँस से चीख
सकते थे।

अपनी आवाज़ की बुलन्दी से
आकाश को अन्तहीन खण्डों में
विभाजित करते हुए।
लेकिन तुम्हें हमेशा शान्त और सभ्य रहने
और भविष्य में आशा बनाये रखने का
सबक दिया जाता रहा है।
और देश। धीरे-धीरे यह शब्द तुम्हारे लिए
कितना बेमानी और व्यर्थ हो गया है।
तुम्हारे अन्तर के शान्त गहरे निस्तब्ध मौन
पर उगते रहे हैं मदार के जंगल पर जंगल।
तुम्हारे दिमाग़ की परती पर लपटों के अन्तहीन
पेड़।

और अब तुम सिर्फ़ खड़े हो।
तुम एक लम्बे अर्से से अपने साफ़ और सफ़ेद
कपड़ों को बचाते हुए
एक बहुत गन्दे और बदबूदार नाले के किनारे
खड़े हो।

और उसे अपना देश कह रहे हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए

गौन
ल।
न्तहीन
पेड़।

सफ़ेद
ाते हुए
किनारे
ड़े हो।

परिवेश : संस्कार और संवेदना

(हिन्दी कहानी के सन्दर्भ में)

रमेशचन्द्र शाह

हर सार्थक कथाकार का अपना एक संसार—एक निजी मानसिक परिवेश—होता है जो कि उसके अतीत से ताल्लुक रखता है और चेतना-प्रवाह में जिसके जीवित स्पन्दन की सुलभता उसे कथा-रचना में प्रवृत्त करने वाले कारणों में से एक हो सकती है। यह कहना कि कोई रचनाकार संस्कार के स्तर पर अपने एक खास निजी परिवेश में स्थापित है, एक प्रकार से देखा जाय तो, यह कहने के बराबर है कि उसकी संवेदना भी एक खास मायने में 'स्थापित' है। इस दृष्टि से विश्लेषण की सुविधा के लिए हम कह सकते हैं कि कमलेश्वर की तुलना में मोहन राकेश की संवेदना (सेंसबिलिटी) कम स्थापित है, लगभग उसी प्रकार, जैसे कि प्रेमचन्द के मुकाबले अज्ञेय की संवेदना।

कई कहानियों का अध्ययनानुभव हमें यही सोचने को बाध्य करता है कि कहानी में व्यक्त परिवेश जितना मूर्त्त और स्वतःस्फूर्त्त (यह शब्द सार्थक है) होगा, उससे उभरा हुआ व्यक्ति (चरित्र) भी उतना ही सजीव और प्रत्यक्षसंवेद्य होगा। जो वस्तु को देख सकता है, उसका जीवन्त अनुभव करा सकता है, वह व्यक्ति को, पात्र को 'रियलाइज़' कर सकता है, ऐसा मानना स्वाभाविक लगता है। अन्ततः परिवेश भी तो बहुत सारे व्यक्तियों की—समूहगत मानव की—निर्मिति है। हम अपनी प्राथमिक संवेदनाएँ परिवेश से ही ग्रहण करते हैं, व्यक्तियों से नहीं। हमारे अस्तित्व की प्रथम संवेदनाएँ, प्रथम बोध ही परिवेश के होते हैं। अलग से उनको देखना-समझना—हम बहुत बाद से शुरू करते हैं। व्यक्ति और परिवेश की विभक्ति को हमारी संवेदना धीरे-धीरे ही स्वीकार कर पाती है। एक प्रकार से देखा जाय तो हमारी कहानी और कविता की प्राथमिक जड़ें वहीं हैं—उसी मानसिकता में निहित रहती हैं।

जिनकी संवेदना इस अर्थ में स्थापित है अर्थात् उसका संस्कार लम्बे अरसे तक एक ही विशिष्ट परिवेश में होने की सुविधा जिन्हें मिली है, वे बाद में चाहे उससे बिलकुल कट जाएँ—विशुद्ध आर्थिक कारणों से, याकि आत्मिक मनोवैज्ञानिक कारणों से (जैसे हेनरी जेम्स और जेम्स ज्वाइस), इसका कोई अनिष्टकारी परिणाम उसके लेखन पर नहीं पड़ता। बल्कि विपरीत ही प्रभाव देखने में आता है। भौगोलिक दूरी स्मृति-प्रक्रिया को अधिक उत्प्रेरित करके संवेदनात्मक निकटता को जन्म देती है: जो पहले सीधी सरल राग-संवेदनाएँ थीं, वे अब रचनाकार की विशिष्ट जीवनानुभूति का पैटर्न बनकर रचना में परिणमित होने लगती हैं। रचनाकार की हैसियत से जिसका कोई अतीत नहीं, व्यक्तिगत संस्कार और परिवेश का कोई ऐसा ठोस अनुभव नहीं, जिसके साथ उसका एक सुनिश्चित और जटिल रागात्मक सम्बन्ध हो (चाहे आकर्षण का, चाहे विकर्षण का, क्योंकि दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं), उसकी वर्तमान पर पकड़ भी अस्थिर और अनिश्चित होगी—ऐसी आशंका सहज ही हमें होती है। वर्तमान की पकड़ के लिए अतीत की पकड़ आवश्यक लग उठती है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक रचनाकार में गहरे कहीं एक विद्रोह, एक सूक्ष्म प्रतिशोधभाव होता है—उस संसार के प्रति, जिसने उसके अस्तित्व की बुनियादी 'इनोसेन्स' को खण्डित किया—उस 'इनोसेन्स' को, जिसके बल पर वह कभी अपने समूचे परिवेश के साथ आत्मीय और एकतान अनुभव करता था, जबकि तत्कथित अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् के बीच कोई फाँक नहीं दिखाई पड़ती थी। दार्शनिक जिस भेद और विच्छेद को अपनी तर्कबुद्धि से पाटने की ओर प्रवृत्त होता है और सामान्य औसत आदमी जिसे अपनी स्वार्थमूढ़ता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

या सांसारिक सफलता या अज्ञान और अन्धविश्वास से पाट लेता है (याकि पाटने की जरूरत ही नहीं महसूस करता क्योंकि अपनी जीवन-प्रक्रिया की बुनियादी असंगतियों के प्रति वह सचमुच सचेत होता ही नहीं) उसको रचनाकार दूसरे ढंग से पाटता है। अपनी रचनाशीलता से। रचना के द्वारा वह परिवेश और व्यक्ति को पुनः करीब लाता है: दोनों को एक-दूसरे के 'टर्म्स' में परिभाषित कर देता है, एक-दूसरे में अनूदित करता और घुलाता है।

जिसने एक खास परिवेश के माध्यम से अपने व्यक्तित्व की पहचान पाई है, परिवेश और व्यक्तित्व की पारस्परिकता को गहरे राग-बोध के स्तर पर जिया है वह दूसरे विपरीत और अनात्मीय परिवेश से बिंधे हुए व्यक्ति की विडम्बना को भी रचनात्मक अभिव्यक्ति दे सकता है। जो आदमी 'देवा की माँ', 'मुर्दों की बस्ती' और 'कस्बे का आदमी' जैसी कहानियाँ लिख सकता है, वही अगर 'दिल्ली में एक मौत' और 'खोई हुई दिशाएँ' जैसी रचनाएँ भी दे जाता है तो इसमें अचरज की कोई बात नहीं होती। वह नितान्त स्वाभाविक विकास लगता है कथाकार का। मनुष्य और उसके परिवेश के जीवित अन्तःसम्बन्धों का वही बुनियादी विवेक उसे वहाँ भी काम देता है। काल और स्थान आदमी के अस्तित्व के मूल घटक हैं। काल और भूगोल का यह प्रारम्भिक मौलिक आस्वाद रचनाकार के व्यक्तिगत विकास-क्रम से सम्बद्ध प्रत्येक कालान्तर और स्थानान्तर की जीवनानुभूतियों के आस्वाद और अर्थ को प्रभावित करता है। जो एक निश्चित आत्मानुभूत परिवेश को अपने राग-बोध में ज़िन्दा और सक्रिय स्फूर्त्त रख सकता है, वह दूसरे परिवेश की मानवीयता को भी मजबूती से पकड़ सकता है। उस परिवेश को भी, जो कि उसे अनात्मीयता का दंश देती है। विरोध के न्याय से। कमलेश्वर की कहानियों का दृष्टान्त लें तो वहाँ हमें यह पकड़, यह आत्मविश्वास भरपूर दिखाई देता है। यह भी एक कारण—और प्रमुख कारण है कि वे हमें न केवल तथाकथित सामाजिक यथार्थ की, बल्कि तथाकथित व्यक्ति-चेतना के यथार्थ की माँगों को भी पूरी करती जान पड़ती हैं। यह आत्म-विश्वास प्रेमचन्द्र में है और कौशिक में भी। प्रसाद और अज्ञेय में वह अपेक्षाकृत कम है। वे इस कमी को दूसरे ढंग से पूरा करने का यत्न करते हैं। और आगे बढ़ें तो, एक आत्मीय परिवेश—जिससे रचनाकार का अन्तरात्मिक लगाव है—और वयस्क जीवन के अनात्मीय परिवेश के बीच का तनाव कमलेश्वर की तरह प्रयाग शुक्ल में भी मिलता है। निश्चय ही इस तनाव की अभिव्यक्ति भिन्न है: अधिक एकालापी, अन्तराभिमुख तथा मनःस्थित्यात्मक···। किन्तु वह है अचूक।···और व्यक्ति तथा उसका परिवेश उनकी कहानियों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से एक-दूसरे को संप्रेषित करते प्रतीत होते हैं। स्मृति-प्रवाह का नैरन्तर्य एक परिवेश में दूसरे परिवेश की, एक बिम्ब में दूसरे बिम्ब की घुलावट और टकराहट को संप्रेषित करता है और मनःस्थितियों का तटस्थ चित्रण—वास्तविक अनुभव संभव बनाता है और उनके माध्यम से आत्म-स्थितियों के अन्वेषण की—अनात्म यथार्थता के बीच, उसके ऊपर ही, व्यक्ति की सार्थकता को, उसके अस्तित्व को, सिद्ध और प्रमाणित करने की—भूमिका प्रस्तुत करता है। केवल भूमिका।···इस वैशिष्ट्य को समझने और अलगाने के लिए हम रामकुमार की कहानियों का तुलनात्मक अध्ययन कर सकते हैं। मोटे तौर पर प्रयाग शुक्ल और रामकुमार के बीच कुछ वैसा ही अन्तर दिखाई पड़ता है, संवेदना के गुणधर्म और स्वभाव का, जैसा कि कमलेश्वर और मोहन राकेश के बीच दिखाई देता है। इतना अवश्य है कि प्रयाग शुक्ल अभी उस भूमिका से आगे बढ़ते नहीं दिखाई देते।

परिवेश और व्यक्ति के इस अन्तरावलम्बन को, सामंजस्य और तनाव की इस सर्जनात्मक प्रेरणा को एक-दूसरे स्तर पर रचनाकार के संस्कारों और संवेदना के बीच की कशमश के 'टर्म्स' में भी समझा जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कोई कलाकार उसी अनुपात में सार्थक और महत्त्वपूर्ण होता है जिस अनुपात में कि यह कशमकश संस्कार-जगत् की अधिकतम गहराई और संवेदन (यानी भावबोध) की अधिकतम जटिलता के बीच सक्रिय रहकर रचना में परिणमित होती है। आधुनिक रचना का इतिहास इस कशमकश की अनिवार्यता को रेखांकित करता है। यहाँ तक कि विद्रोह की 'क्वालिटी' और उसकी रचनागत सार्थकता के बारे में भी आलोचक तभी आश्वस्त हो सकता है जबकि जिससे विद्रोह किया जा रहा है, उसके साथ रचनाकार के सम्पूर्ण वैयक्तिक उलझाव का प्रमाण रचनाओं से मिले। और यह भी ध्यातव्य है कि सम्पूर्ण वैयक्तिक उलझाव का अर्थ मात्र संवेदना के एक विशेषीकृत उलझाव से नहीं है, जैसा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि अक्सर अपने यहाँ समझ लिया जाता है।

कमलेश्वर की संवेदना और भावबोध अपेक्षाकृत सरल-अजटिल है। किन्तु संस्कारगत जीवन और परिवेश की पकड़ गहरी है। संवेदना की सरलता (और किंचित् सरलता) के कारण बौद्धिकता के आग्रह के वशीभूत होकर मोहवश कई कमज़ोर और चमत्कारपूर्ण कहानियाँ भी उन्होंने लिख मारी हैं। कुछ रचनाकार होते हैं जिनकी विशिष्ट संवेदनशीलता का, जटिल राग-बोध का ही अनिवार्य तकाज़ा होता है कि वे बौद्धिकता और स्वचेतना का आग्रह रखें, जैसे अज्ञेय, रघुवीरसहाय और श्रीकान्त वर्मा जैसे कथाकार। उनकी यह स्वचेतना उनकी संवेदना का ही अंग याकि कवच हो जाती है। आवश्यक हो जाती है। किन्तु कमलेश्वर के साथ ऐसा नहीं है। अतः जब कभी उन्होंने अपनी कथाओं को सायास किसी बौद्धिक आशय से, किसी मनस्तात्त्विक विश्लेषणवृत्ति से बुनना चाहा है, वे असफल हुए हैं; जैसे एक 'अश्लील कहानी' और 'पीला गुलाब' जैसी कहानियों में। यों कमलेश्वर की भावुकता बहुधा उनके नियंत्रण में रहती है; पर ऐसी जगहों में वह रिसने लगती है। इसी तरह उनकी व्यंग्य रचनाओं को भी देखा जा सकता है। क्या कारण है कि 'जार्ज पंचम की नाक' एक सचोट कहानी है और 'प्रेमिका' एक घटिया चीज़? इसका कारण शायद यही है कि वे परिवेश पर चोट कर सकते हैं; व्यक्ति पर नहीं। व्यक्ति को व्यंग्य का विषय बनाने के लिए चेखोव जैसी निर्मम तटस्थता और जटिल वेदन-तंत्र चाहिए। या श्रीकान्त वर्मा जैसी विश्लेषण-वृत्ति। कमलेश्वर की व्यंग्यवृत्ति और 'विट' भी प्रेमचन्दीय है। जो काम प्रेमचन्द ने 'शतरंज के खिलाड़ी' में किया है, कुछ-कुछ वैसा ही काम कमलेश्वर ने 'जार्ज पंचम की नाक' में किया है। व्यक्ति की संवेदन-क्षमता और मानवीय जागरूकता को ही कुंठित करने वाले परिवेश पर चोट···। (मैं केवल निहित उद्देश्य और प्रेरणा की समानता दर्शाना चाहता हूँ) जो कथाकार 'मुर्दों की दुनिया' और 'दुःखभरी दुनिया' लिख सकता है, वह 'जार्ज पंचम की नाक' भी लिख सकता है। जिसे वह 'मुर्दों की दुनिया' कह सकता है; उससे घृणा भी कर सकता है क्योंकि वह उससे प्यार कर सकता है—पूरी सजीवता के साथ उसे प्रत्यक्ष करा सकता है एक-एक ब्यौरा···। इसलिए वह उस यांत्रिक परिवेश पर तगड़ा प्रहार कर सकने में सक्षम होता है जो 'मुर्दों की दुनिया' से भी ज्यादा जड़ और अमानवीय है। किन्तु 'प्रेमिका' का व्यंग्य सपाट है। गहरे संस्कार और सरल-सीधी संवेदना का कथाकार यदि व्यक्ति को छीलकर नंगा करना चाहेगा तो यही परिणाम होगा, क्योंकि उसकी दृष्टि विश्लेषणात्मक—तटस्थ न हो सकेगी इसलिए अधूरी और विकलांग भी होगी। परिवेश में गहरी डुबकी लगाकर सत्य को (और व्यक्ति-सत्य) को उभारना एक बात है और व्यक्ति में डुबकी लगाकर और सत्य को (और परिवेश को) उवारना बिलकुल दूसरी बात है। 'पानी की तस्वीर' का रचयिता 'एक थी विमला' लिख सकता है, सहज लाघव के साथ, क्योंकि वहाँ वह अपनी ज़मीन पर है; क्योंकि वहाँ वह परिवेश के माध्यम से मनुष्य को पकड़ रहा है। इसके विपरीत 'प्रेमिका' में वह अनधिकार चेष्टा करता प्रतीत होता है। वैसी वस्तु को उजागर करने के लिए 'आयरनी' के सूक्ष्म औज़ार की अपेक्षा होती है, हल्की-फुल्की विनोद-वृत्ति या शरारत की नहीं। किन्तु 'आयरनी' एक ऐसा अस्त्र है जिसका उपयोग जटिल-भाव-बोध-संवेदना की अपेक्षा रखता है, सरलता की नहीं। आयरनी का उपयोग देखना हो तो चेखोव की 'द डार्लिंग' या 'द किस' को पढ़ा जा सकता है। या मोहन राकेश की 'मिस पाल' को।

'राजा निरबंसिया' एक सार्थक प्रयोग है, जबकि 'देवा की माँ' एक शक्तिशाली रचना है: पूरी कथास्थिति मानो रचनाकार के अपने आत्मसंघर्ष का प्रतीक है।···गहरे संस्कारगत अस्तित्व के भीतर से, परिवेश के पूरे लगाव और जुड़ाव के भीतर से निर्मित व्यक्तित्व···, जो उसी संस्कार और उसी परिवेश को आत्म-चेतना के एक ही विस्फोट में अपने से अलग झटक दे सकता है···उसके ऊपर स्वयं की स्वतन्त्र मर्यादा को स्थापित कर दे सकता है।

जहाँ परिवेश रचनाकार के अस्तित्व-बोध का एक बुनियादी घटक हो, वहाँ रचने वाली संवेदना के किसी विशेषीकृत उलझाव (involvement) के साथ या उसके बगैर भी कलात्मक उत्कर्ष सम्भव हो जाता है। रचनात्मक वैशिष्ट्य इस विशेषीकरण का मोहताज ही रहे, यह ज़रूरी नहीं है। हाँ, रचनाकार जटिल संवेदना का धनी होना चाहिए। डी० एच० लॉरेंस की अनेक कहानियों का, जेम्स ज्वाइस का और स्वयं कैथरीन मैन्सफील्ड का उदाहरण हमारे सामने है। आत्मान्वेषण, आध्यात्मिक सार्थकता के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए छटपटाहट, अवचेतना की गोताखोरी, सन्देश, जीवन-दृष्टि—यह सब विकसित होते जाते हैं समय के साथ-साथ, किन्तु परिवेश की वह पकड़, वह बुनियादी सम्पृक्ति और संगति शुरू से आखीर तक कायम रहती है। मानो अस्तित्व और व्यक्तित्व के सर्जनात्मक संघर्ष की वह शाश्वत पीठिका ही हो। परिवेशगत अस्तित्व की वह पहचान, वह संस्मृति मानवीय तत्त्व के साक्षात्कार के हर सोपान पर सक्रिय रूप से उपस्थित रहती है। और उसे विशिष्ट रंग और ढलन भी देती है। यहाँ तक कि वह एक स्वतंत्र सर्जनात्मक सत्ता की तरह बार-बार रचनाकार के भीतर पुनः-पुनः सृष्ट होती रहती है। व्यक्तित्व के विकास का प्रत्येक सोपान मानो अपनी प्रामाणिकता के लिए उसी सन्दर्भ-पीठिका को—जो कि एक तरह से उसके अस्तित्व की ही सन्दर्भ-पीठिका है—टटोलता है। जॉयस का डबलिन बार-बार जन्म लेता है—उसकी रचना-प्रक्रिया की क्रमशः बढ़ती हुई जटिलता में से। सर्जनात्मक दृष्टि से सच्चे निर्वाचन और विच्छेद की पूर्व प्रतिज्ञा ही सच्चा जुड़ाव और उलझाव है। वह परिवेश उनकी संवेदना में बार-बार जन्म लेता है और नया रूप, नया अर्थ ग्रहण करता है।

एक दूसरे प्रकार के रचनाकार भी होते हैं जिनमें अस्तित्व-बोध का संघर्ष पूर्णतः या मुख्यतः उनकी संवेदना—अत्यधिक परिष्कृत और जटिल संवेदना—का ही संघर्ष होता है। संघर्ष का दूसरा आयाम अर्थात् मिले हुए संस्कार का दबाव—एक विशिष्ट काल और स्थान में संपोषित अस्तित्व का दबाव—उनकी सर्जनात्मकता के लिए मूलभूत चुनौती नहीं बन पाता। फलतः संवेदना और संस्कार के रचनात्मक द्वन्द्व की समस्या उनके लिए दूसरे छोर पर सरल हो जाती है। एक सरलता तो वह है जहाँ संवेदना (भाव-बोध) अपेक्षित जटिलता को प्राप्त नहीं हो पाती है जैसा कि कमलेश्वर के यहाँ है। दूसरे प्रकार का सरलीकरण निर्मल वर्मा और रामकुमार के यहाँ दीखता है। इसलिए बहुत बड़े तनावों और तत्त्वों को रचनात्मक उन्मोचन देनेवाली कला की सम्भावनाएं यहाँ भी स्थगित ही रही आती हैं। अज्ञेय का नाम भी लिया जा सकता है : जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है उनके यहाँ भी परिवेश की—संस्कारगत गहराइयों की—वैसी स्वतःस्फूर्त सर्जनात्मक सत्ता नहीं है। कम-से-कम जहाँ तक उनके कथा-कृतित्व का सम्बन्ध है, एक विशिष्ट काल एवं भूगोल का अस्तित्व-सिद्ध उलझाव उनकी रचनात्मकता का मूल घटक नहीं है, संस्कारगत मनुष्यता के इस अन्तराल को वे एक ओर अपनी सांस्कृतिक रुचि-दृष्टि से, और दूसरी ओर अपनी विशेषीकृत संवेदना से पाटते हैं। संस्कार की प्रकृति सामान्य होती है; अतः अधिक निकट और प्रत्यक्ष-संवेद्य भी, आम पाठकों के लिए, जबकि संस्कृति में एक दूरी होती है। संस्कार के सर्जनात्मक कार्य को संस्कृति भी पूरा कर सकती है। पर इसके लिए रचनाकार की संवेदना को (सेंसिबिलिटी को) दोहरा-तिहरा बोझ वहन करना पड़ता है। उसे अपने विशेषीकृत उलझाव का निर्वाह भी करना पड़ता है और उसके वज़न के परिवेश की प्रकल्पना भी। 'रोज' को पढ़िए और फिर 'देवा की माँ' को। दोनों अत्यन्त मार्मिक रचनाएँ हैं। किन्तु 'देवा की माँ' की मार्मिकता का स्रोत हमारे संस्कारगत अस्तित्व की हमारी गहरी पहचान में निहित है, जबकि मालती से पूर्णतः संवेदित हो सकने के लिए उसमें व्यक्त-चित्रित परिवेश पर्याप्त नहीं पड़ता। हमें स्वयं रचनाकार की उपस्थिति की आवश्यकता पड़ती है। कथानायक के रूप में एक अतिरिक्त संवेदनशीलता के तीखे काव्य-गुण का सहारा लेना पड़ता है। पहली कहानी में परिवेश स्वयं परिस्थिति है कथाकार की संवेदना सिर्फ उसका आकलन करती है। किन्तु 'रोज़' में कथाकार की संवेदना को दोहरा श्रम करना पड़ता है। वहाँ परिवेश की बजाय 'वातावरण' की रचना है। वह यथार्थ लगता है तो इसलिए नहीं कि उसमें संस्कारगत सम्पृक्ति की पूर्णता है, बल्कि इसलिए, कि उसमें रचनेवाली मनीषा का संवेदनात्मक उलझाव पूरा है। वहाँ परिवेश ही संवेदना है। यहाँ संवेदना ही परिवेश है। यह महत्त्वपूर्ण अन्तर है—दो भिन्न कथा-प्रतिभाओं को परिभाषित करनेवाला।

प्रसाद के 'आकाशदीप' में भी परिवेश क्षीण है; वातावरण ही प्रधान है। रामकुमार की 'डेक' में परिवेश के दबाव की अनुमति है; संस्कार और संवेदना के द्वन्द्व की स्थिति है किन्तु वह सब कहानी की पृष्ठभूमि जान पड़ती है; अग्रभूमि नहीं। महानाविक बुद्धगुप्त की तरह 'डेक' का नायक भी अकेला ही स्वदेश को लौटता है। प्रेयसी पीछे ही छूट जाती है क्योंकि 'अतीत' (संस्कार) दोनों का भिन्न है। हो चुके को अनहुआ करने की सामर्थ्य किसी में नहीं है। दोनों कहानियों में आत्म-निर्णय नायिकाओं ने लिया है जोकि स्वाभाविक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, क्योंकि संस्कारगत अस्तित्व की गहराई का बोध और संपृक्त रचाव पुरुष की अपेक्षा स्त्री में अधिक होता है। यह बल्कि कहना चाहिए कि उसके प्रति स्त्री की दृष्टि ज्यादा यथार्थ-वादी होती है। 'डेक' का नायक अपने भीतर के जिस यथार्थ को सरलीकृत भावुकता में घुलाना चाहता है उसकी असल ताकत को नायिका अपनी सहज 'इन्स्टिंक्ट' से समझ लेती है। चम्पा भी सारी कशिश के बावजूद जानती है कि स्वदेश खाली एक भावुक भावना भर नहीं है; वह स्व-देश इसलिए (और तभी तक है) कि उसमें हमारे संस्कारगत अस्तित्व की गहराइयों की पहचान उपलब्ध है, सुरक्षित है। वैसी किसी पहचान का आश्वासन चम्पा के लिए सम्भव नहीं रह गया है। पिता की हत्या के साथ जो चला गया उसे बुद्धगुप्त नहीं लौटा सकता; उल्टे उसकी उपस्थिति बार-बार उसे उसी अतीत में प्रत्यावर्तित करेगी जिसकी कोई पहचान अब स्वदेश में भी शेष नहीं है। अगर शेष है कहीं तो उन्हीं समुद्रों में···। स्वदेश बुद्धगुप्त के लिए है; चम्पा के लिए नहीं, क्योंकि उसके अस्तित्व की परिस्थितियाँ—परिवेश भिन्न रहे हैं। उसके संस्कारगत अस्तित्व की गहराइयों और उसकी संवेदना की बीच की अखण्डता को ही मानों पिता की हत्या ने खण्डित कर दिया है। अतः बुद्धगुप्त का प्यार उसकी संवेदना को ही शेयर कर पाता है; उसे अपने विभाजित व्यक्तित्व का ही तीव्र अहसास कराता है। ऐसी स्थिति में और विकल्प ही क्या रह जाता है! सिवा इसके कि वह उस परिवेश को ही अंगीकार करे—उसी को अपनी संवेदना भी अविभक्त सौंप दे, जहाँ कि उसके संस्कारगत अस्तित्व की गहराइयों के आच्छादित-आक्रान्त होने की गुंजाइश न हो। बुद्धगुप्त के प्रति समर्पित हो जाने में और उसके साथ स्वदेश लौट जाने में उन गहराइयों के ही विच्छिन्न हो जाने का खतरा निहित है। समर्पण इसलिए सम्पूर्ण भी नहीं हो सकता जिसके बिना व्यक्तिगत प्रेम की सार्थकता सन्दिग्ध है। अतः निर्वैयक्तिक प्यार ही एकमात्र विकल्प है; वही उस अकेलेपन को भर सकता है। वही संस्कार और संवेदना के क्रूर विभाजन को नियति से उबार सकता है। कम-से-कम सह्य तो बना ही सकता है उसे।

प्रसादजी और बाद में रामकुमार जैसे कथाकारों में परिवेश एक धुँधले मनोवैज्ञानिक यथार्थ के रूप में संकेतित होता है···। व्यक्ति मानस के साथ उसके सम्बन्धों को उनकी वास्तविकता में—समूचे जटिल सन्दर्भ के साथ—मूर्त्त करने का उत्साह वैसा नहीं मिलता। हम देखते हैं कि रामकुमार की कथा-स्थितियों और पात्रों में अकेलेपन का यह पैटर्न रूढ़-सा होता जाता है···। परिवेश···और उससे छूटकर स्वतंत्र होना चाहती संवेदना के बीच अधर में झूलती व्यक्ति-चेतना का अकेलापन···। मुश्किल यही है कि परिवेश की···संस्कारगत अस्तित्व (या अनस्तित्व) की बुनियादी चुनौतियों के साहसिक साक्षात्कार की प्रेरणा और शक्ति वहाँ बहुत क्षीण है। अवगति है, तनाव भी है; पर जड़ें कमजोर होने के कारण तनाव ढीला हो जाता है,—और वही—वही संवेदना का—अतिरिक्त संवेदना का धुँधलका—पुनः-पुनः घिर आता है। कलाकारिता की विजय इसीलिए बहुत बड़ी और कन्विन्सिंग नहीं हो पाती, क्योंकि कहीं उसमें हमें कलाकार की थकान भी अन्तर्निहित प्रतीत होती है। यह स्थिति और भी तीखे रूप में हमें निर्मल वर्मा की कहानियों में अनुभव होती है। संस्कारगत अस्तित्व की सारी चुनौतियाँ वहाँ जैसे कलात्मक संवेदना के एक खास विशेषीकरण में रूपान्तरित होने को छटपटाती जान पड़ती हैं और इस वैशिष्ट्य का महँगा मोल चुकाना पड़ा है। परिवेश रूपान्तरित होते-होते लुप्त हो गया है और उसका पूरा भार सवेदना पर आ गया है। मोहन राकेश के साथ ऐसी चरमता तो नहीं है। फिर भी उनकी संवेदना और संस्कार काफी विस्थापित हैं। परिवेश एक स्वतंत्र सर्जनात्मक सत्ता की चुनौती के रूप में कम सक्रिय है।

स्थिति-स्थापकता का यह पैटर्न जो प्रसाद और प्रेमचन्द, अज्ञेय और जैनेन्द्र, मोहन राकेश और कमलेश्वर, रामकुमार और प्रयाग शुक्ल इत्यादि के बीच सक्रिय दिखाई देता है, कुछ-कुछ लगभग वही पैटर्न बाद की पीढ़ी में दूधनाथसिंह और ज्ञानरंजन जैसे कथाकारों के बीच झलकता है। संवेदना का विशेषीकृत उलझाव यदि दूधनाथसिंह में अधिक प्रगट है तो परिवेश की आत्मीयता-अनात्मता के अवगाहन की चेष्टा ज्ञानरंजन में···। 'फेंस' के इधर-उधर' और 'पिता' जैसी कहानियों में यह रुझान स्पष्ट है। उधर आत्मस्थितियों की अतिसंवेदना को कथास्थितियों की अतिरंजना से संतुलित और सघन करने की जिस कला का सूत्रपात 'रोज' द्वारा हुआ था, कुछ-कुछ उसी प्रकार का पैटर्न दूधनाथसिंह की 'रक्तपात' और 'आइसबर्ग' जैसी कहानियों में देखा जा सकता है। यह बात दूसरी है कि इन रचनाओं के संतुलन की अपेक्षा अति-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रंजना का अनुभव अधिक होता है। दूसरी ओर दूधनाथसिंह ने 'दुःस्वप्न' और 'प्रतिशोध' जैसी कहानियाँ भी लिखी हैं जिनमें व्यक्त यथार्थ अधिक वास्तविक, गत्वर तथा परिवेश की सामान्य लय-गति से अपेक्षाकृत अधिक प्रभावित है। संवेदना का विशेषीकृत उलझाव वहाँ उस तरह आड़े नहीं आता क्योंकि परिवेश की सत्ता वहाँ काफी कुछ प्रत्यक्षसंवेद्य है और उसकी प्रत्यक्ष उपस्थिति-चुनौती के समकक्ष ही स्नायविक उत्तेजना भी प्रतीत होती है। थोड़ी अतिरिक्तता है भी, तो वह उस तरह खलती नहीं।

इसे एक विडम्बना ही कहें कि अपने यहाँ अनेक कहानियों को पढ़ते हुए ऐसा प्रतीत होता है जैसे परिवेश का प्रश्न संस्कार और संवेदना के जटिल अन्तःसम्बन्धों का प्रश्न न होकर मात्र शिल्प-सज्जा का, याकि तथाकथित नग्न यथार्थवाद का प्रश्न हो। यह एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है। यदि परिवेश-कृत संवेदना आपकी रचनात्मकता की बुनियादी घटक नहीं बन सकी तो न सही ; आप अपनी विशेषीकृत संवेदना की जटिलताओं को ही ईमानदारी से निबाहिए। पिछली पीढ़ियों में यह ईमानदारी थी। वे अपनी सीमाओं से परिचित थे और अनधिकृत अतिक्रमण का लोभ संवरण कर ले जाते थे। मगर ठेठ वर्तमान का जहाँ तक सवाल है कुछेक अपवादों को छोड़कर हिन्दी कहानी का विकास एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति का शिकार होता जान पड़ता है। यहाँ न तो विशेषीकृत संवेदना की वैसी एकाग्र-संकेन्द्रित संरचनाएँ दीखती हैं, न परिवेश-संस्कारगत अस्तित्व की गहराइयों का—वैसा मन्थन ही जबकि परिवेश की चर्चा जितनी आज होती है उतनी शायद ही पहले कभी हुई हो। संस्कारगत अस्तित्व की गहरी संघर्षशीलता के अभाव में परिवेश-चित्रण मात्र अलंकरण रह जाता है : निरी संवेदना का विलास, याकि हराम की, अनर्जित अनधिकृत कड़वाहट—जिसके पीछे संस्कार और संवेदना के जीवनव्यापी संघर्ष की कोई सन्दर्भ-पीठिका नहीं है। जिसके पीछे रचनाकार का कोई निजी और विशिष्ट अन्तर्जगत् भी नहीं होता।

परिवेश की आत्मीय अनुभूति तो भारतीय प्रतिभा के सन्दर्भ में सहज स्वभाव-सिद्ध-सी लगती है। होनी चाहिए किन्तु उसके निकट निरीक्षण और ऐन्द्रिक पकड़ की प्रवृत्ति अपने यहाँ के साहित्य में उतनी परिलक्षित नहीं होती। किसी-न-किसी आदर्श, दार्शनिक कल्पना, नैतिक आग्रह के आक्रान्ति के फलस्वरूप ही मानवीय चित्रण धुँधला और सुदूर-सा हो जाता है। इस धुँधलेपन और सुदूरता की विस्तृत चर्चा बाद में···। अभी तो सिर्फ इतना ही संकेत पर्याप्त होगा कि इस धुँधलके में मानवीय उपस्थिति की सजीव तात्कालिकता क्षीण हो जाती है और रचना की संभावनाएँ, उसका उत्साह भी क्षीण होते जाते हैं। सदियों के बाद भारतीय रचनाशीलता (और हिन्दी कहानी) जिस कुण्ठा से उबरी है अभूतपूर्व और स्पृहणीय विकास, गति के बावजूद उपर्युक्त खतरे के प्रति जागरूक रहना आवश्यक है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रासंगिकी

युवा-कविता की भाषा

प्रभातकुमार त्रिपाठी

कविता की प्रामाणिकता या उसकी रचनात्मकता पर सोचते हुए मैंने यह बात शिद्दत से महसूस की है कि शायद 'भाषा' ही वह रास्ता है जिससे गुज़रकर या जिसे पहचानकर हम कविता पा सकते हैं। यह भी जान सकते हैं कि शब्दों के भीतर छिपे हुए कवि-चेहरे को, शब्दों ने गढ़ा है या अनुभव की रचनाकुलता ने। इसलिए मुझे यह भी लगा है कि कविता का महत्त्वपूर्ण होना विषय या कथ्य पर नहीं, बल्कि भाषा पर है। कवि की अनुभूति की सार्थक-अद्वितीयता और उसकी प्राण-भरी पीड़ा की पहचान उसकी भाषा ही कराती है और इसलिए यह शायद ज़रूरी है कि कविता की भाषा के वास्तविक मूल्य को पहचानने की कोशिश की जाए।

इस कोशिश की शुरुआत के पहले, इससे जन्म ले सकने वाली, एक संभाव्य ग़लतफ़हमी की चर्चा भी ज़रूरी है। गलतफ़हमी यह पैदा हो सकती है कि भाषा को इस प्रकार के 'उच्च-आसन' पर बिठाकर मैं शिल्पचेतना को अतिरिक्त महत्त्व देना चाहता हूँ। दरअसल भाषा को महत्त्वपूर्ण मानने के पीछे मेरा आशय, भाषा के द्वारा कविता के भीतरी रचाव को पकड़ने से है। यह पकड़, सिर्फ़ शिल्प-संचेतना की पहचान नहीं है बल्कि कवि के होने और न होने की पहचान है। अगर ऐसी कोशिश के द्वारा यह पहचान संभव नहीं हो पा रही हो, तो जाहिर है कि इस कोशिश का—भाषा पर सोचने की इस कोशिश का—नतीजा एक ऊब-भरा शास्त्रीय व्यायाम ही हो सकता है। पिछले दिनों हिन्दी की युवा-कविता की चर्चा में, यह कई बार हुआ भी है कि कविता की भाषा का मतलब, शब्दों का एक खास और स्थिर समूह ही मान लिया गया है।

कविता की भाषा कहाँ पैदा होती है—यह कह सकना कठिन है, पर इस बात को अस्वीकार कर सकना कठिन भी है, कि वह शब्दावली में पैदा नहीं होती। कवि शब्दों के सहारे कविता नहीं, बल्कि कविता के सहारे (सहारे क्यों—कविता के मारक दबाव के कारण) कुछ शब्द तलाशता है और पारस्परिक-विनिमय की सामान्य भाषा को निजी बनाने की कोशिश करता है। यह कोशिश ही कवि का वास्तविक धर्म है, इस योग के साथ कि इसमें हमेशा एक गतिशील अधूरापन है।

कवि के द्वारा शब्दों की तलाश की मूल-प्रेरणा, उसका भीतरी संसार है। अपनी तड़प, अपनी यातना और अपनी लड़ाई को कहने के लिये वह इसलिए विवश है क्योंकि वह एक 'भाषा-भरे' संसार का निवासी है। यही कारण है कि उसके भीतरी संसार की तमाम रीतियाँ 'वैयक्तिक भूमि पर सामयिक संबंधों की निर्भरताओं' (श्याम परमार) के कारण पैदा हुई हैं। कविता की भाषा के संबंध में इन 'निर्भरताओं' का महत्त्व सर्वाधिक है, पर युवा-कविता की भाषा—इन निर्भरताओं की भाषा नहीं है। अपने अधिकांश में युवा-कविता का मुहावरा एक नये किस्म की सजावट का मुहावरा है, जो सामयिक-संबंधों से विद्रूप होते जा रहे व्यक्ति जीवन की यातना को सिर्फ़ 'शब्द' बना देता है।

ऐसा क्यों हुआ है ? क्या कारण है कि भाषा और भीतरी ईमानदारी के संबंध में इतनी घोषणाएँ करते रहने के बावजूद कविताएँ भोथरी और शब्द-गर्विता हो गई हैं। मैंने पहले भी कहा है कि कविता की भाषा शब्दों से नहीं प्राप्त होती, बल्कि काव्यानुभव से शब्द प्राप्त होते हैं। अगर युवा-कविता के चेहरे में आदमी की परेशानी की सलवटें उभरी हुई नहीं हैं बल्कि सलवटों के उभरे होने के भाषण हैं तो सिर्फ़ इसलिए कि अधिकांश युवा-कविता, निजी-अनुभवों की सामान्यता से प्रतिबद्ध न होकर, एक स्थिर विषय-समूह से प्रतिबद्ध है। यही कारण है कि युवालेखन की चर्चा के दौरान, संकट, अनास्था, आक्रोश, विद्रोह, अकेलापन जैसे विषय-सूचक शब्दों का प्रयोग बार-बार किया गया है। इसलिए कवि जब अपनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यातना को कहता है :

बेहद टूटते जिस्म पर गीली पट्टियों का
कोई असर नहीं होता
चेहरे के नीचे एक उस्तरा निरन्तर काटता रहता है
नाज़ुक हड्डियों को
अब तक किये गए आभिजात्य कर्म मात्र
चेहरे के पीले बुखार को बढ़ाते हैं
(जगदीश चतुर्वेदी)

या फिर :

मेरे भीतर उग आया है अघोरी प्यार
और बैताल का शव कंधों पर लटक गया है
एक तिलिस्मी सुरंग पर
बहती हुई नदी में मैंने छोड़ दिया है
शताब्दी का कुहराम
(मोना गुलाटी)

—तब लगता है कि कवि की तकलीफ भाषण बन गई है। सामयिक संसार की व्यर्थता से पैदा हुई भीतरी रिक्तता की पीड़ा अपनी अभिव्यक्ति के लिए इसी संसार की भाषा की माँग करती है। ऊपर की पंक्तियाँ आदमी की तकलीफ को अद्वितीयता की एक नकली भाषा में कहती हुई लगती हैं और यह भी लगता है कि उनकी भाषा में अतिरंजना का स्वर भीतरी दुनिया की अनुभवहीनता के कारण है।

ध्यान से देखा जाये तो यह बात स्पष्ट हो सकेगी कि भाषा की यह हालत कवि-प्रतिभा के नितान्त अभाव के कारण नहीं हुई है। अगर ऐसा होता तो, इस तरह की बहस की कोई जरूरत नहीं थी। इसलिए मुझे लगता है कि कविता की भाषा की समझ के अभाव से और 'विषयबद्धता' के 'दलीय-अनुशासन' के कारण ज्यादा कवि झूठ और अतिरंजना की भाषा के शिकार होते गये हैं।

आधुनिक-संवेदना आदमी के भीतरी संसार को पहचानने और कहने की प्रतिज्ञा और चुनौती को वहन करती है। आदमी का भीतरी संसार न सिर्फ़ प्यार और सुकुमारता से भरा हुआ है और न केवल उग्रता, आक्रामकता और आक्रोश से। दरअसल यह एक चालाक साधारणीकरण है कि दुनिया में तकलीफ, संत्रास, मौत और हिंसा-ही-हिंसा भरी हुई है। और अगर व्यक्तिगत अनुभव की दुनिया में इन स्थितियों को सच मान लिया जाये तो भी रचना की दुनिया इन्हें पहेली और वक्तव्य की भाषा में नहीं स्वीकारेगी। आधुनिकता की चर्चा के बहुत पहले भी जब भारतीय काव्यशास्त्री इसके सम्बन्ध में स्थायीभाव की चर्चा कर रहे थे तो उन्होंने संचारी भावों की और भावों की आंगिक-वाचिक प्रतिक्रियाओं की कल्पना भी की थी। यह तब की बात है जबकि जीवन में आज की अपेक्षा कम जटिलताएँ थीं। आज के जटिल जीवन में कविता के मुहावरे को स्थायीभाव की कैद में डाल देना सचमुच एक दुर्घटना है।

कविता अगर इस स्थायी भाव की कैद से छूटकर मानवीय और सहज होने की कोशिश करती है तो हम पाते हैं ढेर सारे साधारण शब्दों के भीतर आदमी की वह दुनिया है, जहाँ भाषा चौंकभरी और सलवटों वाली नहीं है। केवल अभिधार्थों के ऊष्म-प्रयोग से समृद्ध और जीवन्त हो गई है।

ट्रैफिक सिगनल पर रुकी हुई भीड़ में
कहीं नहीं था
मेरे शरीर के लिए कोई अर्थ
कहीं नहीं थी वह शान्त निजी गरमी
जिसे मैं अपना प्रेम कह सकता।
(अशोक वाजपेयी)

या फिर :

अँधेरे और बारिश और हवा की तेज़ धार में
तुम्हारी देह उग आती है
चरम सान्त्वना में भीगती हुई आँखें
सुबह से ही ठहर जाती हैं
एक नन्हें चेहरे का सपना लिए
तुम्हारे स्तन काँपते हैं
चारों ओर फूलों की ढेर में तुम्हारा सुख
तूफान की तरह बेचैन हो उठता है
(दूधनाथसिंह)

अगर हम 'स्थायी-भाव' के चश्मे उतारकर ये पंक्तियाँ पढ़ें तो सिर्फ़ यह कहकर इन्हें टाल सकना कठिन होगा कि ये प्रेम-सम्बन्धी रोमेण्टिक-अवधारणाओं की कविताएँ हैं। सही तो यह है कि ये 'मान्यताओं' की नहीं बल्कि अनुभव के दबाव की कविताएँ हैं। इसलिए उस संसार के व्यक्तिगत साक्षात्कार की भी कविताएँ हैं कि जिस संसार में निजी गरमी पाने का अवकाश नहीं और फिर भी जहाँ प्रेम की, मानवीयता की संभावनाएँ विद्यमान हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस तरह की कविताओं की भाषा, कविता की भाषा के एक नितान्त महत्त्वपूर्ण पक्ष की ओर संकेत करती है। वह यह कि इस भाषा के द्वारा कवि अनुभव की उपस्थिति को एक ऐन्द्रिक-सांद्रता मिलती है। कवि के निकट दुख या प्रेम अगर एक सामान्यीकृत अनुभव या निष्कर्ष है तो ज़ाहिर है कि उसकी कविता 'ऐन्द्रिक-ऊष्मा' से रहित ही होगी। इस ऐन्द्रिक-ऊष्मा या व्यक्तिगत-अनुभव के अभाव में एक दूसरा नुकसान यह भी होता है कि कविताएँ 'प्रोज़ेइक' हो जाती हैं। हिन्दी की युवा कविता में इस 'प्रोज़ेइक-भंगिमा' के अनेक उदाहरण देखने को मिल सकते हैं। स्पष्टीकरण के लिए एक बात और कह दूँ कि 'वर्स' का अभाव ही प्रोज़ होना नहीं है—बल्कि 'पोयट्री' के अभाव के कारण ऐसा होता है।

कविता की भाषा की यह गद्य-परकता, कवि के लिए सबसे बड़ी चुनौती है। यह इसलिए एक कठिन चुनौती है कि मानवीय-अनुभव और चिन्तन के प्रत्येक क्षेत्र में 'गद्य' के इस अपरिहार्य-प्रभाव को देखा जा सकता है। इससे भागने और भागकर 'शब्दों' की शरण में जाने का रास्ता—कवि का रास्ता नहीं है—नहीं होना चाहिए। इसलिए 'गद्य' से लड़ने के लिए कुसुम रागिनी चाँदनी जैसे 'छायावादी' शब्दों की दुनिया में लौटना लड़ाई से इनकार करना है और इनके स्थानापन्न वाचाल-शब्दों की राह लेना भी क्या वही करना नहीं है? वस्तुतः भाषा को, विज्ञान या प्रविधि की गद्यमय-दुनिया से मुक्त करने के लिए—मैं दुहराना चाहूँगा—शब्द-साधना का रास्ता ही ग़लत है।

भाषा के लगातार गद्य होते जाने की इस नियति को झेलने के लिए कवि-दृष्टि और कवि-संवेदना के हथियार का ही इस्तेमाल किया जा सकता है। संभवतः भीतरी तड़प और रचनाकुशलता के द्वारा शब्दों का ऐसा सांद्र-घोल तैयार किया जा सकता है कि गद्य की उपस्थिति भी उसकी अनुपस्थिति का पर्याय हो सकती है। समर्थ कवियों ने ऐसा किया भी है। हिन्दी में मुक्तिबोध की कविताएँ—जन-कविताएँ—इसका प्रमाण है। मुक्तिबोध की काव्य-भाषा में अंतर्निहित-संवेदना शब्दों के महसूस किए जा सकने वाले गद्यपन को शोधती है। कुछ इस तरह कि मुक्तिबोध की व्याख्यात्मक-पंक्तियों की 'आलोचनात्मक-शब्दावली' तक कविताएँ हो जाती हैं। एक सोंधे महकते देशज शब्द के बिलकुल पास—एक संस्कृतनिष्ठ (या तत्सम) का शब्द बेझिझक खड़ा रहता है और भाषा की एकतानता नहीं टूटती।

कहना न होगा कि कविता की भाषा तमाम बाह्य-उपस्थितियों का—दृश्यों और वस्तुओं का—आन्तरिकीकरण करती है। इसके उदाहरण मुक्तिबोध से लेकर, कमलेश जैसे कवियों तक में देखे जा सकते हैं जिनकी कविताओं में आधुनिक-संकट की शब्दावली भले ही न हो, आधुनिक-पीड़ा की रचना ज़रूर है।

कहा जा सकता है और कई बार कहा भी गया है कि आज के आदमी की जटिल दुनिया को, सहज और सामान्य शब्दों की सपाटता में कह सकना सम्भव नहीं है। सौमित्र मोहन ने अपनी लम्बी कविता 'लुकमान-अली' के पश्चात् वक्तव्य में यह कहा भी है कि आज की दुनिया की भयावह विसंगतियों को कहने के लिए फंतासी का शिल्प ही एकमात्र रास्ता है। फंतासी के प्रयोग के औचित्य को स्वीकारना एक बात है किन्तु यह कहना कि यह एकमात्र रास्ता है, फतवा है। पर शब्दों के चौंकभरे-प्रयोगों का औचित्य सिद्ध करने के लिए अवसर ही यह तर्क दिया गया है और पुष्टि के लिए मुक्तिबोध का नाम तो है ही।

पर क्या यह बात सच है कि शब्दों के सहज और साधारण-प्रयोगों के द्वारा आज की दुनिया की विसंगतियाँ नहीं कही जा सकतीं? शायद ऐसा नहीं है। कामू के उपन्यास 'आउट-साइडर' की भाषा इस तथ्य को प्रमाणित करती है। कामू के उपन्यास की सफलता का मुख्य कारण ही यही है कि इसमें 'कविता' का सार्थक उपयोग सम्भव हो सका है। ब्रेख्त के नाटकों के संबंध में भी यह बात कही जा सकती है गो कि ब्रेख्त में 'फंतासीनुमा' कौशल का ऊष्म-उपयोग भी है।

हिन्दी में रघुवीरसहाय और श्रीकांत वर्मा की कविताएँ भी भाषा के रचनात्मक प्रयोग को प्रमाणित करती हैं।

लौट आओ फिर उसी खाते-पीते स्वर्ग में
पिटे हुए नेता, पिटे अनुचर बुलाते हैं
मार फड़फड़ाते हैं पंख साल-दो-साल गले बँधी घंटियाँ
पढ़ी-लिखी गरदनें बजाती हैं, फिर उड़ जाता है विचार
हम रह जाते हैं अधेड़
कुछ होगा, कुछ होगा अगर मैं बोलूँगा
न टूटे न टूटे तिलिस्म सत्ता का, मेरे भीतर एक कायर
टूटेगा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टूट, मेरे मन टूट एक बार सही तरह अच्छी तरह टूट
मत झूठमूठ ऊब, मत रूठ

(रघुवीरसहाय)

कई बार एक अँधेरे से निकलकर
दूसरे अँधेरे में जाने की कोशिश की
लेकिन प्रत्येक बार रुका, मुड़ा
और नहीं जानता हूँ क्यों
अपने ही बनाये हुए रास्तों को पीठ पर लाद
फिर वहाँ लौट आया
जहाँ वह निढाल पड़ी हुई थी

(श्रीकांत वर्मा)

ऊपर की पंक्तियाँ--दोनों ही कवियों की—अनुभव के दो भिन्न छोरों का बोध कराती हैं लेकिन एक बिंदु पर आकर वे एक हो जाती हैं। यह बिंदु है भाषा के भीतर अनुभव का नाटकीय-विन्यास। मैं दोहराना चाहता हूँ कि यह सिर्फ़ कौशल नहीं है, बल्कि सीधा साक्षात्कार है। यह आकस्मिक नहीं है कि ये कविताएँ अतिरंजना-धर्मी शब्दों की कविताएँ नहीं हैं बल्कि भीतरी छटपटाहट को एक्शन में—भाषा के एक्शन में पकड़ सकने वाली ऊष्म-कवि-पंक्तियाँ हैं।

युवा-कविता में कवि की सार्थक उपस्थिति को पाने के लिए, भाषा में विन्यस्त कवि-संवेदना की पहचान और पकड़ ज़रूरी है। अगर इस तरह की कोशिश की जाए तो लगेगा कि मुक्तिबोध की फंतासी से लेकर रघुवीरसहाय की 'अखबारनवीसी' और श्रीकांत वर्मा की नाटकीय-विदग्ध-उक्तियों से लेकर अशोक वाजपेयी के 'फूल' से शब्दों तक में खरी संवेदना का प्रवाह है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नयी कविता : शोधक, बोधक, अवरोधक ?

प्रेमकान्त टण्डन

पिछले लगभग दो दशकों के बीच हिन्दी काव्य में जो नयी प्रवृत्तियाँ विकसित होती रही हैं उनके सम्बन्ध में सोचने और लिखने वालों में डॉ० जगदीश गुप्त का प्रमुख स्थान है। 'नयी कविता' के विविध अंकों के सम्पादकीय आदि के माध्यम से डॉ० गुप्त ने इस विषय पर जितना लिखा है उतना संभवतः किसी अन्य लेखक-विचारक ने नहीं लिखा। 'नयी कविता : स्वरूप और समस्याएँ'[1] नामक सद्यःप्रकाशित उनका ग्रन्थ उनके इसी चिंतन एवं लेखन का परिणाम है। विवेच्य कृति में लेखक के ३२ फुटकर निबंध संकलित हैं, जो जहाँ तक हम समझते हैं, 'नयी कविता' के प्रथम अंक के प्रकाशन वर्ष (सन् १९५४) से सन् १९६७ के बीच समय-समय पर लिखे गए हैं। संकलित प्रायः सभी निबंध किसी-न-किसी पत्रिका में पहले ही प्रकाशित हो चुके हैं, अतः इस दृष्टि से पुस्तक में नया कुछ नहीं है। इतना अवश्य है कि संभवतः भारतीय ज्ञानपीठ के अन्य प्रकाशनों, जैसे 'विवेक के रंग', 'साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य' आदि से प्रेरणा ग्रहण करके इस पुस्तक में भी निबंधों को 'जीवन दृष्टि', 'तात्त्विक आधार', 'प्रतिवाद', 'प्रस्थापना', 'मूल्यांकन' और 'पूर्वापर'—इन छः प्रधान शीर्षकों के अंतर्गत वर्गीकृत करके प्रस्तुत किया गया है।

इसके पूर्व कि निबंधों पर किसी प्रकार की चर्चा की जाय, ग्रंथ के प्रारम्भ में 'पुरोवाक्' स्वरूप 'नयी कविता और मैं' शीर्षक दस पृष्ठीय वक्तव्य में लेखक के द्वारा कही गई कुछ बातें विचारणीय हैं। उदाहरण के लिए :

"'नयी कविता' अपने प्रकाशन-वर्ष १९५४ ई० से वर्तमान समय तक यानी लगभग दो-ढाई दशक में···।"

—इस वाक्यांश में सन् १९५४ से अब तक के कालखण्ड को 'दो-ढाई दशक' कहा गया है। प्रस्तुत कालखण्ड 'दो-ढाई दशक' का नहीं, सिर्फ डेढ़-दशक का है। व्यवहार में इसे डेढ़-दो दशक कहा जा सकता है। 'नयी कविता' की प्राचीनता सिद्ध करने का यह प्रयास किस उद्देश्य से प्रेरित है, यह स्पष्ट नहीं हो सका।

आगे डॉ० गुप्त का कथन है : "···मेरे कुछ निकटतम मित्र···मन-ही-मन शंकित हो उठे कि इस भक्ति-काव्य के शोधक और रीति-काव्य के बोधक द्वारा नयी कविता के इतने बड़े काव्यान्दोलन की बागडोर सँभलेगी भी। यह 'कपट-मुनि' तो नहीं है। ताकुला में जो साहित्यिक शिविर·· आयोजित किया गया था···, नयी कविता की चर्चा से आपूरित था।··· 'नयी कविता' का सम्पादन मैं करूँ यह प्रस्ताव भारती का था।"

इस विषय में जानकार लोगों (जो ताकुला के उक्त शिविर में सम्मिलित हुए थे) का कहना है कि शिविर में नयी कविता का प्रसंग कभी-कभार आनुषंगिक रूप से भले ही आ गया हो, आयोजन के अंग के रूप में नयी कविता की कोई चर्चा वहाँ नहीं हुई। शिविर यदि वस्तुतः किसी विशिष्ट प्रसंग में उस अर्थ में आपूरित कहा जा सकता है तो वह था मामा वरेरकर से सम्बद्ध प्रसंग जो निरन्तर किसी-न-किसी रूप में चर्चा का विषय बना रहा। जहाँ तक डॉ० गुप्त को 'नयी कविता' के सम्पादन का दायित्व दिये जाने का प्रश्न है, यहाँ यह उल्लेख करना प्रासंगिक है कि 'राजकमल' से 'नयी कविता' के प्रकाशन की योजना मूलतः 'आलोचना' के तत्कालीन सम्पादक-मण्डल की एक बैठक में बनी थी जो उस बार भारतीजी के निवास-स्थान पर आयोजित थी और जिसमें 'आलोचना' के प्रकाशक श्री ओमप्रकाश भी उपस्थित थे। 'आलोचना' के सम्पादकों के अतिरिक्त 'परिमल' के अन्य सक्रिय सदस्य उस समय किसी-न-किसी 'प्रायोजना' अथवा पत्रिका के संपादन में व्यस्त थे जबकि डॉ० गुप्त के

१. नयी कविता : स्वरूप और समस्याएँ : लेखक—डा० जगदीश गुप्त, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, पृ० संख्या ४०८, मूल्य दस रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पास संयोगवश कुछ अवकाश था, इसलिए 'नयी कविता' के संपादन का कार्य उन्हें ही दे दिया गया था। लेकिन 'कपट-मुनि' पर लोगों को वस्तुतः संदेह था इसलिए 'परिमल' के सदस्य एक ओर तो 'नयी कविता' की समस्त गतिविधियों का पार्श्व-संचालन करते रहे और दूसरी ओर 'नयी कविता' के संपादक के रूप में किसी एक अन्य सदस्य को भी डॉ० गुप्त के साथ निरन्तर रखते रहे। वस्तुस्थिति के स्पष्टीकरण के लिए इतना लिखना पर्याप्त है।

अब आइये निबंधों पर।

'जीवन दृष्टि' के अन्तर्गत संकलित 'मानव-मूल्य और साहित्य' शीर्षक निबंध पुस्तक का पहला निबंध है और कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इसमें मानव मूल्य विषयक भारतीय और पाश्चात्य अवधारणाओं का संक्षिप्त किन्तु सारगभित विवेचन करने के अनंतर डॉ० गुप्त ने मानव-मूल्य की जो सटीक तात्त्विक परिभाषा प्रस्तुत की है उसे डॉ० गुप्त के समग्र चिन्तन की एक उपलब्धि के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। साहित्यिक मूल्य और मानव-मूल्य तत्त्वतः अभिन्न हैं, अतः साहित्यकार के निकट समादरणीय हैं—उनका यह निष्कर्ष भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

'नयी कविता : नये मनुष्य की प्रतिष्ठा' शीर्षक निबंध में नयी कविता के उद्देश्य और नये मनुष्य की कतिपय विशिष्टताओं का निदर्शन है। लेखक का कथन है : "अगर कवि के आत्मरंजन, भावाभिव्यक्ति एवं संवेदन-संप्रेषण के अतिरिक्त कविता का कोई इतर उद्देश्य हो सकता है, और मैं समझता हूँ कि हो सकता है तो कहना होगा कि ऐसे मनुष्य की प्रतिष्ठा करना ही नयी कविता का उद्देश्य है।"

(पृ० ३६)

परन्तु 'मानव-मूल्य और साहित्य' के अन्तर्गत कलाकृति के उद्देश्य के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए लेखक यह कह आए हैं कि 'कलाकृति की सार्थकता मुख्यतया इसमें है कि वह अपने जीवन्त सम्पर्क में अनुभूतशील व्यक्ति की सुप्त अथवा अव्यक्त संवेदनाओं को जागृत और व्यक्त होने की स्थिति उत्पन्न कर दे।" (पृष्ठ २२)

कविता अथवा कलाकृति के उद्देश्य के विषय में डॉ० गुप्त की चाहे जो मान्यता हो, यहाँ जो कथन नयी कविता और कलाकृति के विषय में किये गए हैं उनमें संगति बैठाना कठिन है। या तो नयी कविता कलाकृति नहीं है, या भावाभिव्यक्ति और अव्यक्त संवेदनाओं को जागृत करने के अतिरिक्त उसका कोई उद्देश्य नहीं है।

यह सुविदित है कि किसी नवीन काव्यधारा की प्रतिष्ठा अथवा किसी नये काव्य-सिद्धान्त के प्रतिपादन के निमित्त उसके तात्त्विक आधारों, परम्परागत सिद्धान्तों के प्रतिवाद और नई दृष्टि की प्रस्थापना का महत्त्व सर्वाधिक हुआ करता है। विवेच्य कृति में क्रमशः 'तात्त्विक आधार', 'प्रतिवाद' और 'प्रस्थापना' शीर्षक वर्गों के अन्तर्गत संकलित निबन्धों का इस दृष्टि से अपना महत्त्व है।

'तात्त्विक आधार' के अन्तर्गत सर्वप्रथम काव्य-बिम्ब पर चर्चा की गई है। संस्कृत काव्यशास्त्र में बिम्ब विषयक खोज करते हुए डॉ० गुप्त इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि भारतीय काव्यशास्त्र में 'बिम्ब' का निकटवर्ती शब्द 'अर्थचित्र' है। थोड़ा आश्चर्य होता है कि 'रस-पाश' से मुक्ति के लिए सतत् प्रयत्नशील डॉ० गुप्त को यह चिन्ता क्यों सताने लगी है कि "यदि 'बिम्ब' कविता के सन्दर्भ में इतनी महत्ता रखता है, तो काव्य का सूक्ष्म तात्त्विक विश्लेषण करनेवाले इस देश के प्राचीन आचार्यों की दृष्टि से वह ओझल कैसे हो गया…।" डॉ० गुप्त की इस चिन्ता को संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रति अतिरिक्त आसक्ति ही कहा जाएगा। ज्ञातव्य है कि 'बिम्ब' एक आधुनिक पाश्चात्य अवधारणा है; इसके लिए प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र में कोई समानार्थी शब्द ढूँढ निकालने का आग्रह बिल्कुल असंगत है। और यदि किसी को काव्यशास्त्र और काव्यशास्त्रीय शब्दावली में आसक्ति है ही तो 'अर्थचित्र' को ही 'बिम्ब' का एकमात्र निकटवर्ती शब्द क्यों माना जाए? 'शब्दचित्र' उसका निकटवर्ती क्यों नहीं हो सकता, विशेषकर तब जबकि ल्युइस ने भी अपनी पुस्तक 'द पोइटिक इमेज' में बिम्ब के लिए 'शब्दचित्र' पद का प्रयोग किया है और डॉ० गुप्त ने ल्युइस की बिम्ब-विषयक मान्यताओं का समर्थनपरक विवेचन भी प्रस्तुत निबन्ध में किया है? वास्तव में बिम्ब के लिए काव्यशास्त्र में कोई निकटवर्ती शब्द ढूँढ़ना निरर्थक है; मूल वस्तु है अन्तर्निहित दृष्टि और बिम्ब की अवधारणा में अन्तर्निहित दृष्टि भारतीय काव्यशास्त्र में व्यापक स्तर पर लक्षित की जा सकती है। 'सादृश्य' बिम्ब का मूल तत्त्व है; इस विशिष्ट तत्त्व को किसी काव्य-कोटि विशेष में सीमित कर देना उचित नहीं है। अनवरत अर्थानुरणन में सक्षम अनुभूत वस्तु का 'विविड' प्रत्यक्षीकरण—हमारी समझ में यही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिम्ब है, और इसकी व्याप्ति अलंकार से लेकर ध्वनि तक लक्षित की जा सकती है। रूप और अर्थ के तत्त्व भी इसमें समाविष्ट हो जाते हैं।

निबन्ध के दूसरे अंश में लेखक ने पाश्चात्य बिम्ब-आन्दोलन का सिंहावलोकन करते हुए ल्युइस की बिम्ब विषयक मान्यताओं का स्पष्ट और सरल निदर्शन किया है। अगला निबन्ध है 'अर्थ की लय'। इस निबन्ध के कुछ प्रमुख निष्कर्ष इस प्रकार हैं :

१. " 'अर्थ की लय' का प्रश्न नई कविता के रूप-विधान से सम्बन्ध रखता है।"

२. "शब्दार्थमयी कविता का इस लय तत्त्व से जन्मजात सम्बन्ध है जो मूलतः इतना घनीभूत एवं व्यापक है कि लय को कविता का एक अनिवार्य अंग स्वीकार किए बिना उसके स्वरूप की व्याख्या करना कठिन होता है।"

३. "कविता में…भावनाओं की लय प्रकारान्तर से अभिव्यक्त होकर 'अर्थ की लय' का रूप धारण कर लेती है।"

निबन्ध में 'अर्थ की लय' विषयक विवेचन का प्रारम्भ इस प्रकार होता है :

" 'शब्द' और 'अर्थ' तत्त्वतः पृथक सत्ता रखते हैं। संगीत में शुद्ध 'शब्द' ध्वनि एवं नाद रूप में ग्रहीत होता है—अर्थ से असृम्पक्त, निरपेक्ष। इसी प्रकार लिपि में तथा अन्य संकेत-विधियों में 'अर्थ' शब्द-निरपेक्ष होकर अवतरित होता है। शब्द श्रवणीय है; अर्थ बुद्धि-ग्राह्य। वाणी एवं साहित्य में ही आकर शब्द और अर्थ दोनों अन्योन्याश्रित, असम्पृक्त तथा अभिन्न अवस्था प्राप्त करते हैं।" (पृ० ८५)

अन्तिम से ऊपर वाक्यों में जो मान्यता प्रस्तुत की गई है, बिलकुल निराधार है, क्योंकि शब्द और अर्थ का वही सम्बन्ध नहीं है जो शब्द और लिपि का है। शब्द लिपि के बिना भी सम्पूर्ण, समग्र और स्वायत्त है, पर अर्थ के अभाव में शब्द, शब्द नहीं रह जाएगा, ध्वनि हो तो हो। अर्थ के बिना शब्द की कल्पना ही असंगत है। इसी प्रकार, संगीत के संदर्भ में 'शब्द' का प्रयोग उचित नहीं है। संगीत का उपकरण 'स्वर' है, 'स्वर' ही उसमें नाद रूप में गृहीत होता है, शब्द नहीं। और, 'शुद्ध शब्द' से लेखक का क्या आशय है, यह भी स्पष्ट नहीं है। वास्तव में, प्रस्तुत उद्धरण में शब्द, लिपि और अर्थ को लेकर जो विभ्रम की स्थिति है, वह व्याकरण, भाषा-विज्ञान और एक माने में भाषा की प्रक्रिया मात्र से लेखक के अपरिचय की द्योतक है।

उद्धरण के अन्तिम वाक्य के विषय में क्या कहा जाए!—हमारे निकट तो वह एक रहस्य बना हुआ है। हमें इसमें अनुभव की किसी विलक्षण स्थिति की झलक मिल रही है। आचार्य गुप्त ही कभी इसका स्पष्टीकरण कर हमें अनुगृहीत करें कि जीवनानुभव की वह कौन-सी स्थिति है जो अन्योन्याश्रित होते हुए भी असम्पृक्त है; साधना की वह कौन-सी विलक्षण भावभूमि है जो असम्पृक्त होते हुए भी अभिन्न है?

वाणी और साहित्य में शब्द और अर्थ की अन्योन्याश्रित, अभिन्न स्थिति लेखक को भी मान्य है। इसका तात्पर्य यह है कि कविता में भी वे शब्द और अर्थ की अभिन्न स्थिति स्वीकार करते हैं। परन्तु जब एक बार शब्द और अर्थ की अभिन्न स्थिति स्वीकार कर ली गई है, तब शब्द से असम्पृक्त, उससे सर्वथा स्वतंत्र 'अर्थ की लय' का क्या अर्थ है? लय तत्त्व काव्य का अन्तर्निहित अनिवार्य तत्त्व है, इस अर्थ में कि लय कवि-मानस में भावावेग के रूप में स्वतःस्फूर्त होती है और कवि उसके माध्यम से जीवनानुभव की पुनः सर्जना करता है। यह एक सहज स्वीकृत लक्ष्य है और इसके लिए दुनिया भर के प्रमाण जुटाने की आवश्यकता नहीं है। और, काव्य क्या, भाषा मात्र में लय-तत्त्व सुलभ है; पर उसका निर्धारण और विवेचन शब्दार्थ समवेत के आधार पर किया जाता है। भावों के अनुरूप विशिष्ट छन्दों के प्रयोग की मान्यता काफी पुरानी है। ऐसी स्थिति में 'शब्दार्थमयी कविता' में अन्तर्निहित लय-तत्त्व को यदि कोई सार्थक और समुचित संज्ञा दी जा सकती है तो वह संज्ञा 'काव्य की लय' हो सकती है, 'अर्थ की लय' नहीं, क्योंकि काव्य में लय-तत्त्व केवल अर्थाश्रित नहीं है, वह शब्दार्थ समवेत की लय है; और इस दृष्टि से लय-तत्त्व का सम्बन्ध कविता के रूप-विधान मात्र से नहीं, कविता की शब्दार्थ संयुक्त सम्पूर्ण रचना-प्रक्रिया से है। 'अर्थ की लय' की कल्पना बिल्कुल असंगत, निराधार और भ्रामक है।

निबन्ध के अन्त में विद्वान लेखक ने 'अर्थ की लय' का बोध कराने के लिए कुछ उद्धरण यह कहकर दिए हैं कि "बहुत-से कुशाग्र-बुद्धि व्यक्तियों के आगे बात तब तक स्पष्ट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं होती जब तक उन्हें उदाहरण देकर न समझाया जाय।" उद्धरणों में से दो, सुधी पाठकों के अवलोकनार्थ नीचे दिए जा रहे हैं :

१. अर्थ की लय से हीन **पद्य**

बंजर बुन्देली धरती पर केन किनारे,
कालिंजर का दुर्ग नहीं है दूर जहाँ से,
कोसल जन-संस्कृति के अंचल की सीमा पर
चित्रकूट की छाया में यह नगर बसा है।

२. अर्थ की लय से युक्त **पद्य**

रात का बन्द नीलम किवाड़ा डुला,
लो क्षितिज छोर पर देव मन्दिर खुला,
हर नगर झिलमिला, हर डगर को खिला,
हर बटोही जिला, ज्योति प्लावन चला;

यहाँ पर लेखक द्वारा 'पद्य' शब्द का प्रयोग कविता और पद्य के मान्य अन्तर को भी अकारण विभ्रमित कर देता है जो एक आचार्य विश्लेषक की शैली में निश्चय ही खटकने वाली बात है, पर यह दूसरा प्रसंग है। 'अर्थ की लय' का बोध कराने के निमित्त लेखक के सतत् सात्त्विक प्रयत्नों के बावजूद भी हम यह समझने में बिलकुल असमर्थ रहे हैं कि उक्त दोनों उद्धरणों में लय की दृष्टि से क्या अन्तर है? अब हम इसका निर्णय सुधी पाठकों पर ही छोड़ते हैं कि यदि उद्धरणों का क्रम उलट दिया जाए तो क्या कोई अन्तर पड़ेगा? स्मरणीय है कि डॉ॰ गुप्त ने इन उद्धरणों का विश्लेषण करके यह बताने का कष्ट नहीं उठाया कि एक में 'अर्थ की लय' क्यों और कहाँ नहीं है और दूसरे में क्यों और कहाँ है!

'रसानुभूति और सह-अनुभूति' शीर्षक अगले निबंध के अंतर्गत परिवर्तित युगीन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में 'रसानुभूति' के समकक्ष 'सह-अनुभूति' की प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में लेखक का कथन है : "नयी कविता भी ऐसी ही विधा में विश्वास रखती है जो प्रज्ञा को विचलित किये बिना विवेक की जागृत अवस्था में भावक को यथार्थ अनुभूति के तल तक पहुँचा देने की क्षमता रखती हो। यही विधा काव्यशास्त्रोक्त 'रसानुभूति' से नयी कविता की भावानुभूति को मूलतः पृथक् कर देती है। 'रसानुभूति' के समकक्ष इसे 'सह-अनुभूति' की संज्ञा दी जा सकती है क्योंकि इसमें रसानुभूति की तरह व्यक्तित्व और विवेक का परिहार होना आवश्यक नहीं है।" (पृ० ६५)

प्रसंगवश यहाँ यह उल्लेख कर देना चाहिए कि [illegible] नगेन्द्र 'रस-सिद्धान्त' नामक अपने विषय की प्रसिद्ध [illegible] प्रामाणिक कृति में लेखक के उक्त कथन तथा अन्य सम[illegible] कथनों की निस्सारता का निर्भ्रान्त निदर्शन अपने ढंग से [illegible] चुके हैं। (द्रष्टव्य, 'रस-सिद्धान्त', पृ० ३४६-४८)

इस सम्बन्ध में दो बातें विशेष रूप से ध्यान देने की [illegible] एक तो यह कि रसमय काव्य व्यक्ति (भावक) को शिथि[illegible] निष्क्रिय अथवा अकर्मण्य नहीं बनाता। व्यक्ति सत्ता के [illegible] और विवेक के परिहार की स्थिति काव्यानुभूति के परिपा[illegible] के क्षण-विशेष—रसानुभूति की स्थिति—में ही आती है, [illegible] उसके पहले, न उसके बाद। काव्य के माध्यम से व्यक्ति [illegible] समाज के विविध संदर्भों के प्रति भावक की जागरूकता [illegible] सक्रियता की सिद्धि अपरोक्ष रूप से बराबर होती रही है, [illegible] वह काव्य तुलसी का रामचरितमानस रहा हो चाहे रघु[illegible] सहाय की कविता। यदि ऐसा न होता तो रससिद्ध कवी[illegible] बिहारी के रसमय दोहे ने मिर्ज़ा राजा जयसिंह को अ[illegible] कर्त्तव्य के प्रति सचेत न किया होता। दूसरी बात यह है [illegible] रसानुभूति और सह-अनूभूति परस्पर विरोधी अनुभूतियाँ न[illegible] हैं। वस्तुतः ये एक ही अनुभूति की दो सरणियाँ मात्र हैं : इति[illegible] प्रत्यय रसानुभूति परिपाक की स्थिति है और सह-अनुभू[illegible] उसके पहले की, किन्तु अनिवार्य स्थिति है। सह-अनुभू[illegible] तीव्र और गहन होकर रसानुभूति में परिणत हो जाती है [illegible] अनिवार्यतः आनन्दलक्षणीय है। अतः सह-अनुभूति रसानुभू[illegible] की प्रक्रिया में अंतर्भुक्त है। बल्कि रसानुभूति तो इस बात [illegible] निश्चित प्रमाण है कि सह-अनुभूति की स्थिति पूरी गहराई [illegible] के साथ घटित हुई और उसने भावक को यथार्थ अनुभूति [illegible] तल तक पहुँचा दिया है। इलियट ने अपने प्रसिद्ध निबंध [illegible] म्यूज़िक ऑव पोइट्री' में लिखा है : "If we are mov[illegible] by a poem, it has meant something, perh[illegible] something important, to us; if we are [illegible] moved, then it is, as poetry, meaningless."

'नयी कविता में रस और बौद्धिकता' शीर्षक निबंध [illegible] लेखक का कथन है : "नयी कविता बौद्धिकता की छाया [illegible] विकस रही है, अतः उसमें एक अंतर्निहित आलोचनात्मक [illegible] मिलती है : यथार्थ चित्रण का आग्रह, सूक्ष्म व्यंग्य तथा शै[illegible] गत वैचित्र्य एवं नये-नये अर्थों को ध्वनित करने वाला अभि[illegible] प्रतीक-विधान आदि जिन्हें नयी कविता की प्रमुख विशेषता [illegible]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहा जा सकता है, सभी के पीछे प्रेरणा का बुद्धिगत रूप स्पष्ट झलकता है।" (पृ० १०२)

यह देखकर आश्चर्य होता है कि 'सह-अनुभूति का बार-बार उद्घोष करने वाले डॉ० गुप्त नयी कविता के संदर्भ में बौद्धिकता की वकालत कर रहे हैं। यही नहीं, विवेच्य कृति में संकलित निबंधों में उन्होंने कविता के विषय में यत्र-तत्र जो कथन किये हैं, वे भी इस दृष्टि से रोचक हैं। कुछ उद्धरण इस प्रकार हैं—

(१) वह (कविता) मनुष्य के भावसंवलित, संवेदना-पूर्ण एवं आवेगयुक्त विशिष्ट क्षणों में ही बीज रूप से जन्म लेती है। (पृ० ८६)

(२) कविता मानव-हृदय की गहराई और भाव-संवेगों की, विशिष्ट क्षणों में आन्तरिक रूप से परिचालित, गति का प्रतिफलन है। (पृष्ठ ८६)

(३) नयी कविता ने···भावाभिव्यक्ति के अनेक द्वार खोल दिए। (पृ० १०६)

(४) नयी कविता भावना को बिना किसी आडम्बर के सीधे शुद्ध रूप में व्यक्त करने पर आग्रह करती है। (पृ० १६०)

डॉ० गुप्त ने 'कविता क्या है' जैसे मूलभूत प्रश्न को एक बार पुनः उठाकर कविता की परिभाषा इस प्रकार दी है :

"कविता सहज आन्तरिक अनुशासन से युक्त वह अनुभूतिजन्य सघन लयात्मक शब्द है, जिसमें सह-अनुभूति उत्पन्न करने की यथेष्ट क्षमता निहित रहती है।" (पृष्ठ ११६)

इस सम्बन्ध में हम अपनी ओर से कुछ न कहकर समर्थ आलोचक डॉ० नामवरसिंह के कुछ सम्बद्ध वाक्य उद्धृत कर रहे हैं जिनसे हमारे मन्तव्य की पुष्टि होती है :

(१) "ध्यान देने की बात है कि यह परिभाषा 'नयी कविता' के संदर्भ में प्रस्तुत की गई है और परिभाषाकार 'नयी कविता' के एक प्रवक्ता ही नहीं, बल्कि स्वयं नये कवि भी हैं। ···इसमें ऐसी कौन-सी नयी बात है जो किसी पूर्ववर्ती परिभाषा में सुलभ नहीं है? ···ऊपर-ऊपर से नया भाव-बोध ओढ़े रहने वाले जब 'कविता क्या है' जैसा बुनियादी सवाल उठाते हैं तो अपने उत्तर में अनजाने ही पुरानी बात दोहराते पाए जाते हैं।" (कविता के नये प्रतिमान, पृ० १८)

(२) "डॉ० जगदीश गुप्त और डॉ० नगेन्द्र दोनों ने कविता के एक ही मूल तत्त्व का सहारा लिया और वह तत्त्व है 'अनुभूति' जिसे काव्य-चर्चा में प्रचलित करने का श्रेय छायावाद को है।" (वही, पृ० २०)

विवेच्य कृति में इस प्रकार की चिंतन-विसंगतियाँ अनेक स्थलों पर सुलभ हैं, पर हमें दुख इस बात का है कि लेखक ने जिन मुन्शी लक्ष्मीकान्त वर्मा को विवेच्य कृति समर्पित की है और जिन्हें वे "नयी कविता की प्रमुख संवेदना के एक विशेष रूप का प्रतिनिधि कवि" मानते हैं, उनके भी एतद्विषयक मत की उपेक्षा कर दी है। लक्ष्मीकान्तजी का निर्भ्रान्त मत है—

१. "काव्यानुभूति की पहली शर्त उसकी रागात्मकता है।" (क ख ग, अंक १३, पृ० ५०)

२. "कविता आत्मपरक अनुभूति की रागात्मक अभिव्यक्ति है।" (नई कविता के प्रतिमान, पृ० १६४)

अब आइये 'प्रतिवाद' वर्ग के निबन्धों पर। पहले दो निबन्ध 'रससिद्धान्त अथवा सिद्धरस का अन्त' और 'साधारणीकरण और कवि की अनुभूति', डॉ० नगेन्द्र की 'रस-सिद्धान्त' नामक कृति की समीक्षा के रूप में लिखे गए थे। लेखक को डॉ० नगेन्द्र द्वारा किए गए 'काव्य में कवि की अनुभूति से स्वतंत्र वस्तु-तत्त्व के आत्यन्तिक निषेध' पर आपत्ति है। डॉ० गुप्त काव्य में वस्तु-तत्त्व की सत्ता की स्वीकृति के पक्षपाती हैं और अपने इस पक्षाग्रह से प्रेरित होकर उन्होंने एक बात और कही है : "मेरे विचार से रस के प्रसंग में 'कवि की अनुभूति का साधारणीकरण' के स्थान पर 'काव्यानुभूति का साधारणीकरण' कहना अधिक उपयुक्त है।" (पृ० १६५)

हम अपने एक निबन्ध ('साधारणीकरण सिद्धान्त और डॉ० नगेन्द्र का दृष्टिकोण', हिन्दी अनुशीलन, वर्ष १६ : अंक १) में डॉ० गुप्त की उपर्युक्त मान्यताओं की निस्सारता का निदर्शन कर चुके हैं। यहाँ उक्त निबन्ध के सम्बद्ध अंश को पुनः उद्धृत कर रहे हैं : "डॉ० नगेन्द्र का मत है कि एक ही विषय से संबंधित, एक ही काव्य-प्रसंग में जहाँ वही विभावादि परस्पर भिन्न और विरोधी रूपों में उपस्थित होते हैं, वहाँ उनकी विषयगतता का क्या महत्त्व हो सकता है। उदाहरण के लिए, रामचरित से सम्बन्धित काव्य अथवा नाटकों में सीता कहीं राम की पत्नी के रूप में प्रस्तुत की गई हैं, कहीं उनकी भगिनी के रूप में और कहीं रावण की भगिनी या पुत्री के रूप में। इसके अतिरिक्त, जनकवाटिका आदि के प्रसंग कहीं हैं, और कहीं वे प्रसंग ही नहीं हैं; तुलसी यदि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राम के प्रति श्रद्धाभाव रखते हैं और रावण के प्रति घृणा-भाव तो माइकेल को रावण से सहानुभूति है···। इन परस्पर विषम या नितान्त प्रतिकूल परिस्थितियों में क्या साधारणीकरण-व्यापार सम्पन्न नहीं होता ?—यदि सम्पन्न होता है तो वस्तु की वस्तुगतता अथवा विषय की विषयगतता का क्या अर्थ रह जाता है ? इसलिए काव्य में कवि की अनुभूति से स्वतंत्र, वस्तु के लिए कोई स्थान नहीं है। सम्पूर्ण काव्य-प्रसंग वस्तुतः कवि की सर्जनात्मक अनुभूति का ही बिम्ब मात्र है। काव्य-प्रसंग तो अपने-आपमें 'जड़-वस्तु' है, उसका चैतन्य अंश है 'अर्थ' और यह कवि के संवेद्य से इतर कुछ नहीं है।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि कवि की अनुभूति से स्वतंत्र, वस्तु-तत्त्व की सत्ता का पूर्ण निषेध सिद्ध हो जाने पर काव्यानुभूति के साधारणीकरण का विकल्प स्वतः असिद्ध हो जाता है।

डॉ० गुप्त ने डॉ० नगेन्द्र द्वारा स्वीकृत सौन्दर्य-चेतना के 'प्रीति' अथवा 'आनन्द' और 'विस्मय' नामक योजक तत्त्वों के अतिरिक्त 'विश्रान्ति' नामक एक अन्य तत्त्व भी प्रस्तावित किया है : "'विश्रान्ति' भी उसका एक योजक-तत्त्व हो सकती है इस ओर उन्होंने दृष्टिपात नहीं किया···। 'विश्रान्ति' और 'आनन्द में' में इतना भेद है कि शैवकला दृष्टि ने एक स्तर पर विश्रान्ति उत्पन्न करने वाली कला को कला ही नहीं माना, केवल उसी को परा कला बताया जो आत्मा को परमानन्द में लीन कर दे।" (पृ० १४०)

जिस प्रसिद्ध संस्कृत श्लोक के आधार पर यहाँ 'विश्रान्ति' की प्रतिष्ठा की जा रही है, वह यह है—

विश्रान्तिर्यस्याः सम्भोगे सा कला न कला मता।
लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला ।।

किसी कला-मर्मज्ञ के द्वारा प्रस्तुत श्लोक का इतना अनर्गल अर्थ किया जाना वास्तव में उसके लिए लज्जा का विषय है। श्लोक में 'विश्रान्ति' शब्द 'रिपोज़' के अर्थ में प्रयुक्त नहीं है, उसका आशय 'ध्येय' अथवा 'डेस्टिनेशन' है, जिसके अनुसार श्लोक की प्रथम पंक्ति का सीधा अर्थ होगा : जिस कला का ध्येय संभोग (अर्थात् भोग-विलास) है, वह कला, कला नहीं है।

और, 'रिपोज़' के अर्थ में 'विश्रान्ति' के विषय में तो प्रख्यात मनीषी नोली का स्पष्ट मत है : "In aesthetic language, VISRANTI denotes...the fact [of] being absorbed in the aesthetic object a[nd] the sensation of pleasure sui generis whic[h] accompanies that state of consciousness." (एस्थेटिक् एक्सपीरिएंस एकार्डिंग टु अभिनव गुप्त, पृ० ५[...])

इस प्रकार, दोनों दृष्टियों से डॉ० गुप्त का 'विश्रान्ति' विषयक प्रस्ताव भ्रामक सिद्ध हो जाता है।

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि 'नये सौन्दर्यबोध' के तथ[ा]कथित प्रस्तावक और पोषक डॉ० गुप्त 'आनन्द' औ[र] 'विस्मय' के अतिरिक्त और कोई प्रामाणिक तत्त्व सौन्द[र्य] चेतना के योजक-तत्त्व के रूप में प्रस्तुत नहीं कर सके। [ह]म यह बलपूर्वक कह सकने की स्थिति में हैं कि जब तक ये दोनों तत्त्व सौन्दर्य-चेतना के योजक-तत्त्वों के रूप में गृ[हीत] किये जाते हैं तब तक सौन्दर्य-बोध मात्र को अनिवार्[य]तः आनन्द लक्षणीय ही मानना पड़ेगा।

'प्रतिवाद' वर्ग के शेष दो निबन्ध तथा अगले 'प्रस्थापना' के अंतिम निबन्ध को छोड़कर सभी निब[न्ध] सामान्य कोटि के हैं। इनके अंतर्गत नई कविता के विवि[ध] पक्षों के सम्बन्ध में प्रायः वे ही बातें एक प्रकार से दोहरा[ई] गई हैं जो नयी कविता के विषय में सामान्यतः कही जाती है। 'प्रस्थापना' वर्ग का अन्तिम निबन्ध 'नयी कविता : किसि[म] किसिम की कविता' उल्लेखनीय है, विशेषकर इस दृष्टि [से] कि इसमें लेखक नयी कविता को विकसनशील काव्य प्रवृत्तियों से जोड़ने के लिए आतुर दिखाई देता है।

प्रस्तुत निबन्ध ६५ पृष्ठों का एक लम्बा निबन्ध है। लेखक ने इसमें कविता के उन लगभग चार दर्जन नामों [को] सूचीबद्ध करने की चेष्टा की है जो "पिछले तीन-चार द[शकों] में बहुधा समानान्तर प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं एवं सं[ग्रह] संकलनों में इधर-उधर नुमायाँ हुए हैं।" नयी कविता के [स]कक्ष समकालीन काव्य का इन अनेक नाम-रूपों में उपस्थि[त] होना डॉ० गुप्त को सम्भवतः सहन नहीं हो सका। इसलि[ए] डॉ० गुप्त ने यथासम्भव प्रत्येक नाम और उसके प्रस्ता[व] पर वज्रप्रहार करते हुए एक ओर तो उसकी घोर भर्त्सना [की] है और दूसरी ओर प्रत्येक इतर प्रवृत्ति को नयी कविता का [ही] एक रूप मानकर उसे नयी कविता के साथ जोड़ने की भ[र]पूर चेष्टा भी की है। डॉ० गुप्त का यह प्रयास सोद्देश्य है, [ऐ]सा लगता है। हमारा अनुमान है कि जिस 'नवीनता'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधार पर कविता को परम्परा से काटकर नई कविता की प्रतिष्ठा की गई थी, उसका आकर्षण अब धुँधला पड़ गया है, नयी कविता के स्वघोषित आचार्य अब उससे काफ़ी ऊब चुके हैं जिसके परिणामस्वरूप डॉ० गुप्त, जिनका आचार्यत्व नयी कविता-आन्दोलन के पहले चरण के साथ अब समाप्त हो रहा है, एक ओर यह कहकर कि "उसने (नयी कविता ने) अपनी उदार बाँहें फैलाकर प्रगतिवाद और प्रयोगवाद दोनों की यथार्थोन्मुखी चेतना को उन्मुक्त हृदय से अपने में समाहित कर लिया।" (पृष्ठ ४२) और नयी कविता के नाम पर 'हिमविद्ध' की छायावादी कविताएँ लिखकर नयी कविता को परम्परा से जोड़ने के लिए व्यग्र हैं और दूसरी ओर प्रत्येक नवोदित काव्य-प्रवृत्ति को नयी कविता में अन्तर्भुक्त कर नयी कविता को सामान्य से भी जोड़ने के लिए आकुल हैं।

सुधी आलोचक डॉ० माहेश्वर ने डॉ० गुप्त के प्रस्तुत निबंध की उपलब्धियों का बहुत ही समुचित आकलन 'प्रेम लपेटे' वचनों में किया है। (द्रष्टव्य, 'युयुत्सा', जुलाई '६८)। उसका एक अंश यहाँ उद्धृत किया जा रहा है: "साठोत्तरी काव्य-प्रवृत्तियों अर्थात् 'समकालीन कविता-संबंधी विचार-धारा का परिदृश्यात्मक अवलोकन' करने वाले नयी कविता के ठेकेदार आलोचक जगदीश गुप्त ने 'नयी कविता : किसिम-किसिम की कविता' में जिस आलोचना-कौशल का प्रदर्शन किया है, वह समकालीन काव्यान्दोलनों की समीक्षा कम, भँड़ैती ही अधिक मालूम होती है।......समकालीन काव्यान्दोलनों...का कोई गहरा विश्लेषण न प्रस्तुत करके गुप्तजी ने केवल लफ्फाजी का आश्रय लेकर जो मसखरापन प्रदर्शित किया है, वह समकालीन कविता के आक्रोश और नयी कविता-विरोध के विश्लेषणात्मक अध्ययन में बाधक ही सिद्ध हो सकता है।"

डॉ० गुप्त ने विशेषण-वक्रता की ओट में अपने को 'भक्ति-काव्य का शोधक और रीति-काव्य का बोधक' घोषित किया है। डॉ० माहेश्वर के उपयुक्त कथन के आधार पर मूल लेखक की शैली में क्यों न उनको 'नयी कविता का अवरोधक' भी कह दिया जाए? क्योंकि अब तो यही एक अच्छा तुक बैठता है।

समकालीन काव्य-प्रवृत्तियों से नयी कविता को जोड़ने के उपक्रम में डॉ० गुप्त ने प्रस्तुत निबन्ध में यह भी बताया है कि नयी कविता कहने से किन अर्थों का बोध होता है। उनमें से एक अर्थ इस प्रकार है:

"वह कविता, जिसमें पूर्ववर्ती स्थिति के निषेध के साथ अभिव्यंजना की अपरिचित प्रणालियाँ, कथन की विचित्र एवं अप्रचलित भंगिमाएँ और अद्यतन प्रभावों को ग्रहण करने तथा नये-नये नामों से अपने को व्यक्त करने की प्रवृत्ति हो।" (पृ० २८२)

नयी कविता का 'साधारणीकरण' करने के लिए अतिशय व्यग्र लेखक ने यहाँ जो शब्द-जाल फैलाया है, उसके विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। पर एक बात हम अवश्य कहना चाहेंगे कि किसी भी भाषा की किसी भी काव्यधारा में 'नये-नये नामों से अपने को व्यक्त करने की प्रवृत्ति' नहीं रही है; इस विलक्षण प्रवृत्ति का श्रेय डॉ० गुप्त ने सिर्फ नयी कविता को ही प्रदान किया है। काश, नाम को महत्त्व-हीन मानने वाले शेक्सपीयर आज जीवित होते!

आचार्य गुप्त ने इन निबंधों में जिस शैली का प्रयोग किया है, उसके कुछ रमणीय उदाहरण द्रष्टव्य हैं:

(१) उगती हुई हर अरुणाभ किरन को मरोड़ते हुए जो सूरज को (पान की तरह) मुँह में दबा रखने के लिए कटिबद्ध हो रहे हैं, उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि अब यह सूरज प्रभात का नहीं रहा, इसके ललाट से मध्याह्न का तेज फूटने लगा है और अब इसको छूने-मिटाने का साहस 'संकट-मोचन' पवन-पुत्र ही नहीं बनायेगा, वह वर्षों तक गुफावास करने के लिए झुलसे पंखों वाला क्षुधाजीर्ण संकटग्रस्त सम्पाती भी बनाकर छोड़ सकता है। (पृ० ८२-८३)

(२) 'नूतन कविता' में फिर किसी ने कटौती नहीं की, पर वह अपने आप 'न कविता' सिद्ध हो गयी और सारा सनातन सूर्योदयी आन्दोलन अस्त-व्यस्त हो गया तथा उसका घोषणा-पत्र 'घोषित राम' की तरह उत्खनन की वस्तु बन गया। (पृ० २२३)

(३) 'क ख ग' के जुलाई १९६५ के अंक में अकेले 'मुन्शीजी' शहीद होकर रह गये। इक्का-दुक्का पत्रिकाओं और गोष्ठियों में 'ताज़ी' या 'ताज़ा' विशेषण की गूँज-भर सुनाई दी अन्यथा, बिना किसी शोर-गुल के, 'ताज़ी कविता' के ताजिये अपने-आप दफ़न हो गये। (पृ० २४७)

रोचक यह है कि लेखक ने अपने निबंध 'नयी कविता : नया संतुलन' में आचार्य पद्मसिंह शर्मा को छायावाद के विरोधी के रूप में स्मरण किया है और इतिहास का उदाहरण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देते हुए यह सिद्ध करना चाहा है कि जैसे शर्माजी के विरोध के बावजूद छायावाद आगे विकसित हुआ, उसी तरह समकालीन समीक्षकों के विरोध के बावजूद नई कविता विकसित हो रही है। पर यह इतिहास का व्यंग्य ही है कि उसी आचार्य पद्मसिंह शर्मा शैली का अनुकरण कर आचार्य जगदीश गुप्त ने भी नयी कविता के परवर्ती आन्दोलनों का व्यंग्य-विद्रूप-शैली में ज़िक्र किया है। नयी के नाम पर एक ही साँस में नयी कविता का समर्थन और परवर्ती आन्दोलनों का विरोध डॉ० गुप्त के विराट् व्यक्तित्व में ही समा सकता है।

हिन्दुस्तान की कहानी : शवयात्रा

विष्णुचन्द्र शर्मा

'टोपी शुक्ला' **कार्टून की भाषा** में लिखा हुआ एक साम्प्रदायिक तनाव का खाका है। कई घुमाव और मोड़ के बावजूद इसका कथानक एक शवयात्रा में परिणत हो जाता है, जिसमें शवयात्रा का आँखोंदेखा नैरेटर (वाचक) खुद एक मुसलमान लेखक है। लेखक की हैसियत से खुद को नैरेटर (वाचक) के दर्जे पर बैठाने की वजह, शायद यह हो सकती है कि लेखक एक नागरिक की आँखों से उन चेहरों को बहुत करीब से जानता रहा है—और अब स्वाधीनता के बाद वह नागरिक की आँखों से उन चेहरों-मोहरों से तंग आ चुका है। उसे शायद स्वाधीनता के बाद के हिन्दू और मुसलमान चेहरों में एक-सी दहशत, एक-सा खोखलापन, एक-सी मायूसी और एक-सी दकियानूसी हरकतें छेड़ती, छकझोरती और एक हद तक तोड़ती रही हैं। वह नागरिक के दायरे से बाहर आकर, एक नैरेटर (वाचक) की आँखों से, देश के ज्यादातर चेहरों में रेंगती घिनौनी कोशिश की 'शल्य क्रिया' करने में जुट जाता है। और यहीं यह उपन्यास कार्टून की भाषा में, बोलता है, जाने-माने चेहरों को बकोटकर, जानी-मानी सच्चाई के भीतर का गुद्दा निकाल देता है, और भारत के भविष्य की चिन्ता में 'मद्दू के बच्चों, गड्डू और बबलू' से अपनी समझ, प्रयत्न और उलझनें कहने लगता है। और

टोपी शुक्ला, लेखक राही मासूम रज़ा, प्रकाशक राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-६, मूल्य ५.००, पृष्ठ १७३।

महसूस करता है कि एक हिन्दुस्तान १९४७ के समय फ[...] था, और एक हिन्दुस्तान, भारत-पाक युद्ध के दरम्यान जी[...] कर हारा था, और अब एक हिन्दुस्तान है, जिसकी शवया[...] का वह महज़ एक नैरेटर (कथक या वाचक) है और जिस[...] दर्शक महज़ अभी तक नाबालिग हैं। सडीबू, मुन्नी औ[...] सुर्रो, अनिला, मद्दू के बच्चे, गड्डू और बबलू सभी अप[...] 'हिन्दुस्तान' के अभी पूरे या अधूरे नागरिक भी नहीं, मह[...] शवयात्रा के दर्शक हैं, डरे हुए, हारे हुए, भौंचक-से।

'टोपी शुक्ला' इन्हीं डरे हुए, हारे हुए और भौंचक[...] खड़े हुए लोगों के पास रखा हुआ एक कार्टून—एलबम है[...] सकीना, इफ़्फ़न और टोपी की समस्याओं को सम[...] और सुलझाने का प्रयत्न। सकीना हँसती है क्यों[...] 'अधूरापन और तनहाई शायद इस युग की तकदीर है[...] इफ़्फ़न महसूस करता है कि नफ़रत, शक और डर का[...] नहीं है। और टोपी 'रात के सन्नाटे में उल्लुओं की त[...] बोलता है। और अन्त तक तीनों जन अपने हिन्दुस्तान[...] तरह कबूल करते हैं—"हमसे तो कुछ न हो सका। हम[...] हार गये शायद।"

हिन्दुस्तान की यह कहानी—या शवयात्रा—हि[...] और मुसलमानों को अभी तक जुदा रखने की घिनौनी कोशि[...] के बावजूद चल रही है। हिन्दू अपनी 'संसकीरत', अपने ख[...] पान और अपनी परम्परा की लाश ढो रहा है और मुसल[...] अपनी जहालत की लाज ढक रहे हैं। दोनों अपने-अ[...] संस्कारों में, अलग बने रहने की कोशिश कर रहे हैं।[...] 'टोपी के सामने कोई और रास्ता नहीं' रह जाता है।[...] किसी-न-किसी अवसर पर 'दोनों' के बीच की दूरी को प[...] का मौका तलाश करता है। हारकर अपने लेखक के[...] नैरेटर (कथक) यह फलसफा कबूल कर लेता है कि 'आ[...] हत्या सभ्यता की हार है।' और आखिरी वक्त में टो[...] एक हिन्दुस्तान ने 'आत्महत्या कर ली।'—पर 'शव[...] चलती रही।

टोपी मर जाता है और लेखक 'टोपी शुक्ला' की[...] यात्रा के नैरेटर (वाचक) के नाते आँखोंदेखी कहानी[...] लगता है। इसके पहले 'आधा-गाँव' उपन्यास में लेखक[...] अधूरे संस्कारों के तनाव या समग्र की अधूरी पहचान[...] आशा से रच रहा था। अब समय वही है, कहानी का[...] भी वही है—केवल नैरेटर, लेखक और नागरि[...]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूरी बढ़ गयी है। अब लेखक और नागरिक की खीझ का, संदेशवाहक नैरेटर बन गया है।—

'भूमिका' में दो बातें एक साथ, खास उद्देश्य से लेखक ने लिखी हैं—

एक : "टोपी कोई देवता या पैग़म्बर नहीं था। किन्तु उसने 'कम्प्रोमाइज़' नहीं किया। और इसीलिए उसने आत्म-हत्या कर ली। परन्तु 'आधा-गाँव' की तरह यह किसी एक आदमी या कई आदमियों की कहानी नहीं है। यह कहानी भी समय की है।···**समय के सिवा कोई इस लायक़ नहीं होता कि उसे किसी कहानी का हीरो बनाया जाए।**"

दो : " 'आधा गाँव' में बेशुमार गालियाँ थीं। मौलाना 'टोपी शुक्ला' में एक गाली भी नहीं है।—परन्तु शायद यह पूरा उपन्यास एक गन्दी गाली है। और मैं गाली डंके की चोट बक रहा हूँ। **यह उपन्यास अश्लील है—जीवन की तरह।**"

सच पूछिए तो आज की 'हर कहानी और हर जीवनी शुरू' यहीं से होती है। "टोपी बेनाम पैदा हुआ था। पैदा होते ही टोपी ने अपनी छोटी-छोटी आँखों से दुनिया को देखा। उसे जो चीज़ दिखाई दी वह बड़ी भयानक थी। वह डरकर रोने लगा और उस **अंधकार को ढूंढने लगा जिसमें वह अब तक कुलबुलाया** करता था।" यह भयानक चीज़, मुक्तिबोध को 'अँधेरे में' दीखी थी और यहाँ नैरेटर (कथक) ने 'जीवन की तरह' महसूस की है। 'टोपी एक ही है।' जैसे समय एक ही होता है। केवल 'अँधेरे में ढूंढने की कुल-बुलाहट, समय में सबकी आँखों में अलग-अलग रूपों में पैदा होती है। 'सफ़ेद हो तो आदमी कांग्रेसी दिखाई देता है, लाल हो तो प्रजा सोशलिस्ट और केसरी हो तो जनसंघी।'

सच पूछिए तो यह समय की अश्लील कहानी—एक राजनीतिक पहचान की कहानी है। टोपी, देश की राजनीतिक निराशा या असफलता के लड़ाई-दंगों से 'चीर-चीर' हो जाता है। और यह पहचान बनाये रखता है कि उसने अँधेरे में जो महसूस किया है—वह समय की अधूरी सच्चाई है—समय का एक अवसरवादी हिन्दू-मुस्लिम, भयानक दर्द है—जिसे वह और केवल उसकी जगह से खड़े हुए लोग ही महसूस कर रहे हैं—। गरज़ की, समय की और टोपी की निगाहों में सब बराबर है। 'जीवनी केवल टोपी की नहीं है। यह कहानी इस देश, बल्कि इस संसार की कहानी का एक स्लाइस है।

शवयात्रा या जीवनी या हिन्दुस्तान में, एक 'मुस्लिम लीग, कांग्रेस और जनसंघ से' बड़ा सम्बन्ध भी था, जिसे टोपी के घर वालों की तरह ज्यादातर राजनीतिक अपने अवसरवादी चश्मे की वजह से देखकर भी नहीं देख या समझ सके। और वह **बड़ा सम्बन्ध** इस अलगाव के बावजूद, टोपी और इफ़्फ़न में, टोपी और सकीना के सीने में मुलगता रहा। यह 'बड़ा सम्बन्ध' ही समय का बड़ा भयानक दर्द था—जिसे दादी और टोपी या दोनों तबके के आदमी बड़ी सिद्दत से महसूस करते रहे। 'दोनों अलग-अलग अधूरे थे। दोनों ने एक-दूसरे का अकेलापन मिटा दिया था। एक बहत्तर बरस की थी और दूसरा आठ साल का।'

"तोरी दादी की जगह हमरी दादी मर गई होती न ठीक भया होता।" टोपी ने इफ़्फ़न को पुरसा दिया।

इफ़्फ़न ने कोई जवाब नहीं दिया। उसे इस बात का जवाब आता ही नहीं था। दोनों दोस्त चुपचाप रोने लगे।"

यह कहानी, कहीं वहीं जाकर समाप्त हो जाती है जहाँ देश के पास इस डर, दहशत और नफ़रत की दुनिया का कोई जवाब नहीं है। राजनीति में इस डर का जवाब नफ़रत था, दंगे, खून-खराबी, आगज़नी। और हिन्दू अवसरवाद के हाथ में युवक जनसंघी हो जाता है और मुसलमान मौलवी के हाथ में युवक 'इसलामी छाप'। और आखिर तक 'हिन्दुस्तानी नेशनलिज़्म की धारा की राह में रुकावट' बनी रहती है।

और इफ़्फ़न सोचता रह जाता है कि 'इन लड़कों को यह कैसे बतलाया जाए कि इतिहास अलग-अलग बरसों या क्षणों का नाम नहीं है बल्कि इतिहास नाम है **समय की आत्मकथा** का।'

वह सोचता है—'पता नहीं **हिन्दुस्तानी हिस्ट्री** कब लिखी जायेगी।'

समय का नैरेटर (कथक) सोचता है—'क्या यह शब्द यूँही पीछा करता रहेगा? टोपी, तुम हिन्दू क्यों हो—या फिर मैं मुसलमान क्यों हूँ? क्यों? यह भी कितना अजीब शब्द है। मनुष्य को जवाब देने पर मजबूर कर देता है। परन्तु अगर किसी के पास जवाब ही न हो तो? तो वह क्या करे आखिर?"

जवाब न मिलने के बावजूद 'नफ़रत की दीवार पर चढ़कर पुरानी दोस्ती झांकना शुरू' करती है और पाती है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि दोनों एक-दूसरे के बिना अधूरे और उदास हो गये हैं। इफ़्फ़न का इस्तीफा अलीगढ़ मुस्लिम युनिवर्सिटी से मान लिया गया। 'उसका इस्तीफा नहीं माना तो टोपी ने।' वह कहता है—"जिस देश की यूनिवर्सिटियों में यह सोचा जा रहा हो कि ग़ालिब सुन्नी थे या शीआ और रसखान हिन्दू थे या मुसलमान, उस देश में पढ़ाने का काम नहीं करूँगा।"

'पाकिस्तान एक बेनाम डर का नाम है।' और नैरेटर (कथक) इस 'बेनाम' डर की पहचान करने के लिए 'समय की आत्मकथा' या टोपी की कहानी सुना रहा है। इस 'समय की आत्मकथा' में लेखक ने डाक्यूमेंट्री न्यूज़ रील की टैकनीक से कथा को कई टुकड़ों में जोड़कर तैयार किया है। वह कथानक में 'जोड़' जानकर कायम रखना चाहता है, ताकि यह बात आसानी से पाठक के दिल में उतर जाए और वह इस कहानी के अन्तरालों में, एक-एक क्षण रुककर सोच सके। सोचने और देखने की यह टैकनीक, महज़ रोचकता बनाये रखने के लिए नहीं चुनी गई है, बल्कि अपनी और समय की 'यातना' को महसूस करने के लिए इस्तेमाल की गई है। फक्कड़ साधु अपनी ही देह पर कोड़े बरसाकर यातना का अनुभव ही नहीं करते हैं, देखने वालों की आँखों में यातना का असर भी उतार देते हैं। यह एक स्तर पर 'आत्म-हनन का तमाशा' भी है, और दूसरे स्तर पर यह उन यौन कुंठाओं, असफल शिक्षा-व्यवस्था गन्दी अफ़वाहों, दमघोटू गुण्डागर्दी और न खत्म होने वाले दो सम्प्रदायों के तनाव की शल्य-क्रिया है। मैं मानता हूँ—राही मासूम रज़ा ने अपनी 'न्यूज़ डाक्यूमेंट्री' में मानव-सम्बन्धों की कुछ मानवी मर्म की गम्भीर तस्वीरें उभारी हैं। और 'शवयात्रा' के अपने देश को वहाँ लाकर खड़ा कर दिया है, जहाँ से पीछे लौटना असम्भव है।···

देह की ढाल : 'रेडीमेड' माल

विष्णुचन्द्र शर्मा

जाँ-पाल-सार्त्र ने अपने नाटक In Camera में तीन चरित्रों को एक गुप्त कक्ष में, अपने-अपने भीतर की आहत मनःस्थितियों की खोज के लिए, एक-दूसरे के आमने-सामने बैठा दिया है। आहत मनःस्थितियों के तीनों ही चरित्र बुरी तरह महसूस करते हैं कि उनके भीतर का नरक किसी दूसरे में है। नरक यातना के तीनों 'डाँडी यात्री' अपनी-अपनी उत्तेजनाओं में मायावी रहते हैं। और यह अजनबीपन की नरक यात्रा, तीनों को भरे-पूरे जीवन से हटाकर अपनी-अपनी आध्यात्मिक गिरावट के 'खोखले शून्य' में भटका देती है। यह खोखला शून्य संशय, यातना, भय और उत्तेजनाओं की आधुनिक जगत् की पगडंडियाँ हैं। तीनों चरित्रों को दूसरों में स्थित अपने-अपने नरक का प्रतिरूप इस खोखली शून्य की यात्रा में दिखता है और अंत तक तीनों अपने ही भीतर के संशय, यातना, भय और उत्तेजनाओं से अजनबी बने रहते हैं।

यही मायावी बुद्धिजीवियों की यात्रा है। वे मानसिक यात्रा से अपने-अपने नरक से साक्षात्कार करने को एक नाटकीय प्रयास करते हैं। उत्तेजनाओं में अक्सर मायावी बुद्धिजीवी औरों का जीवन जीते हैं और अपनी 'कंथा' उधेड़ते रहते हैं।

एक स्तर पर '६० के बाद की कहानी' की रचनाप्रक्रिया 'खोखले शून्य' की खोज का 'नाटक' था और काफी हद तक वह नाटक, मायावी बुद्धिवाद का भी नाटक कहा जा सकता है। यह अपने-अपने नरक के मायावी बुद्धिजीवियों की **अंधी पहचान का नाटक**—हिंदी की '६० के बाद की कहानी' आंदोलन की 'शुरुआत' का नाटक भी कहा जा सकता है।

इस नाटक के तीन अंक हैं—(१) नई कहानी की, नई शुरुआत से, 'नई' कहानी की सांघातिक मौत, (२) सांघातिक मौत के भय का सवाक-चिंतन : नई कहानी की शव-परीक्षा के बाद संबंधों के परिवर्तन का सवाल! और (३) मौत, सवाक-चिंतन के बीच से 'आत्मीयों को शत्रु में बदलने' का सचेत तरीका!

'६० के बाद की हिंदी कहानी' की शुरुआत के पहले से कथा-आंदोलन में ही दो 'खतरे' भी उभर आये थे। एक **खतरे** की नींव में 'अश्क' की मध्यमवर्ग की कुण्ठित प्रवृत्ति थी जो आत्मीयों को शत्रु में बदलने का सचेत कथा-प्रयोग कही जा सकती है। 'पलंग' से 'अजगर' (विकल्प) तक की यह कथा-यात्रा निजी बदले की भावना की लसदार खीझ की प्रक्रिया है और उसमें घिनौने कथा-प्रयोग का खतरा है। इस

१. रिश्ता और अन्य कहानियाँ—गिरिराज किशोर, प्रकाशक, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ संख्या, १६२, मूल्य ४·५०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खतरे का एक दूसरा प्रतिरूप मध्यवृत्त की आत्महीनता की प्रवृत्ति है। यह अपने-अपने 'बचाव' का तरीका है। इस खतरे को एक पंगु और ठण्डी-कथा के दायरे में 'अटका हुआ प्रयास' भी कहा जा सकता है। राजेन्द्र यादव के संग्रह **'अपने पार'** में एक ऐसा ही निजी हिदायतों और रुकावटों का ठण्डा कथा-प्रयोग है।

'६० के बाद की कहानी'—आंदोलन ने बड़ी खूबी से इन खतरों को लाँघने या पछाड़ने का प्रयास किया था।

'फेंस के इधर-उधर' के लेखक ज्ञानरंजन ने एक खोखले शून्य या मायावी वातावरण की रचना की थी। यह नया वातावरण पुराने सम्बन्धों से छुटकारा पानेवाले या नये संबंधों में बेहद उत्तेजित रहने वाले युवक की आध्यात्मिक गिरावट का 'खोखला शून्य' था। ज्ञानरंजन ने अपनी कहानियों में अजनबीपन के संस्कारों के युवक की यातना, तनाव, कुण्ठा, विवशता और खीझ को रेखांकित किया। अपनी कहानियों की नयी नाट्य-स्थितियों में ज्ञानरंजन ने एक नये संबंध के तनाव को जन्म दिया।

यह बता देना आवश्यक है कि यह 'संबंधों के तनाव' का नाटक, एक बारीक सूत की बुनाई का, 'मौन तनाव का नाटक' है, जिसमें कुछ भी परिवर्तित नहीं होता है, केवल 'खोखले शून्य' की यातना को महसूस करने की हद तक बर्दाश्त किया जाता है। ज्ञानरंजन के (या उसकी 'काट' की 'रेडीमेड' कहानियों में भी) सभी चरित्र अपने-अपने नरक की यात्रा की तैयारी करते हैं। और खोखले शून्य में अपने 'निजी' अनुभव के 'संबंधों का तनाव' बनाये रखते हैं या उत्तेजनाओं के दौरे को कायम रखते हैं। कहानी की संरचना में, इस सिलसिले को कायम रखने की हरचंद कोशिश की जाती है। दूधनाथसिंह की 'रीछ' कहानी उसी 'यात्रा' के सिलसिले की एक फैंटेसी है। 'रीछ' की प्रतीक-रचना के पीछे एक-एक चरित्र अपनी-अपनी असफल या नपुंसक उत्तेजना को 'छिपाकर मौजूद' रहते हैं।

यह 'छिपाकर मौजूद' रहने का नाटक—सार्त्र के० नाटक का 'रेडीमेड' परिणाम है, जिसमें एक बारीक 'साफ-सुथरे कोण' को बनाने का काम 'ऊब' की मनःस्थिति को सौंपा गया है। साठोत्तर कहानी में ऊब 'साफ सुथरे कोण' का संचालन-सूत्र है—और वह "औरत के पैर से बढ़नी शुरू होती है और मर्द के दिमाग तक पहुँचती है।"

यही ऊब, काशीनाथ सिंह की कहानियों का जायका बदलती है। रवीन्द्र कालिया की 'नौ साल छोटी पत्नी' की कहानियों में ताज़गी लाती है और नये संबंधों के सम्भावित प्रश्नों पर एक खुशहाल 'हेला हवाली' का माहौल रचती है। विजय मोहन सिंह की कहानियों में, यही ऊब नई संवेदना के उदासीन बौद्धिक प्रेतों की जबान बन जाती है। महेन्द्र भल्ला और श्रीकान्त वर्मा, ऊब के एक ही स्तर पर रहते हैं, और अपने-अपने निजी अनुभव के मौनाचार को दुहकर, ऊबते हैं, और एक ही स्थिति में ऊभ-चूभ करते हुए, अपने-अपने नरक या 'आत्मप्रेम' की व्याख्या करते हैं।

साठोत्तरी हिंदी कहानी में 'ऊब' का यह अन्वेषण दिलचस्प और सपाट है। एक ही स्तर पर किसी भी कहानी में यह दुहरा रूप मिल जाता है। कहीं शिल्प में दिलचस्प प्रवाह है और कहीं पिटी-पिटाई सपाट संवेदना—'औरत के पैर से बढ़नी शुरू होती है और मर्द के दिमाग तक पहुँचती है।'

हिंदी की साठोत्तर कहानी का एक पर्याय आत्मप्रेम है, और दूसरा आत्मभर्त्सना!

'आत्मप्रेम' लेखक की आंतरिक यात्रा से शुरू होकर आंतरिक खोखले शून्य की महत भूलभुलैया में राह भूल जाता है। आत्म-भर्त्सना, बाहरी जगत् के संबंधों से शुरू होती है और सतही नोक-झोंक में उलझ जाती है। दोनों कथा-यात्री आत्म-यात्राओं के एक बिंदु पर मिलते हैं—वह बिंदु 'आत्म-निचोड़' का होता है जहाँ वे एक साथ अपनी पहचान और दूसरों के नरक की तलाश करते हैं। 'आत्म-निचोड़' की उपलब्धि के बाद औरत के पैर से कहानी शुरू होती है और अपने-अपने नरक के दिमाग तक कहानी को पहुँचा देते हैं।

आत्म-प्रेम आत्म-भर्त्सना और ऊब पर खड़ा हिंदी के '६० के बाद की कहानी' का आंदोलन अब एक संचालन-सूत्र का अन्वेषण कर चुका है। वह मूल संचालन-सूत्र, गिरिराज किशोर की 'रिश्ता और अन्य कहानियाँ' संग्रह का भी आधार है। वह सूत्र है—'रेप का मजा लेंगे और निचोड़ पेश करेंगे।'

अपने-अपने नरक की यातना में 'छिपाकर मौजूद रहने' का सार्त्र का सूत्र नाटक में उसकी समझ को, 'बंद दिमाग की तिजोरी' से बाहर लाने की एक साधना है! लेकिन हिंदी की '६० के बाद की कहानी' की समझ का नाटक, तिजोरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में दिमाग को बंद रखने का एक पुरज़ोर कार्य है। दिमाग तिजोरी में बंद रहता है, और तनाव भरे नाटक के चरित्र, 'छोटे घर' से बाहर आते हैं, और फिर खुद में उलझकर घर के छोटे दायरे में, मानसिक 'रेप' करते हैं और अपनी आध्यात्मिक गिरावट का निचोड़ पेश कर देते हैं। इस तरह नाटक 'खाली-शून्य' से चलकर 'खाली-शून्य' में 'जीते-जागते आदमी' को छोड़ आता है।

कहानी की 'संरचना' में 'चुपचाप' कुछ घट जाता है। और लेखक अपने भीतर के नरक को, 'दूसरों में चलता या रेंगता हुआ' महसूस करता है। और देखते-देखते दिमागहीन, प्रेतात्मक खोज की यह यात्रा—अचानक 'इन्टेलेकच्युअल डिसकशन' का विषय बन जाती है।

'नई कहानी' की 'नई शुरुआत', 'उसके सांघातिक परिणाम', 'आदमी के भय का सवाक् चिंतन', 'आंतरिक आघात या विकास यात्रा की शव-परीक्षाओं के बाद 'महाशून्य' में एक 'शव' रह जाता है—और तीन अंकों के हिंदी कथा-आंदोलन की यात्रा समाप्त हो जाती है। योरप में महायुद्ध के बाद संकट तथा वैज्ञानिक और तकनीकी विकास की खुली होड़ शुरू होती है। रंगभेद का युद्ध फैलता है। नये गृहयुद्ध में, नये 'यातना शिविर' बनते हैं। और आदमी अपनी मानसिक विकास की यात्रा में हताश हो जाता है। विश्व-सभ्यता का यह संकट—हिंदी कहानी में 'बावन के तीन डग' की यात्रा रह जाती है। और 'पुराण-गाथा' में वापस लौट आने वाली अज्ञेय-जैनेन्द्र-यशपाल की पीढ़ी के समानान्तर एक तीसरी पीढ़ी जन्म लेते ही 'मायालोक' की 'यौन गाथा' लिखने लगती है। ज़ोरदार बौद्धिक आज़माइश में लगी एक बीच की मोहन राकेश-यादव-कमलेश्वर की पीढ़ी 'पुराण-गाथा' से 'मांस के दरिया' में हेल कर 'यौन गाथा' में मर-खप जाती है। और तीन डगों या अंकों का यह नाटक—यह हर बार यही स्वीकार करता है कि 'नये जीवन की शुरुआत' हो गई है। फिर से चौथी पीढ़ी '६० के बाद की पीढ़ी'—'जीवन की शुरुआत में' अपने 'संवाद' और मायावी बुद्धि-वाद कोपसार रही है।

गिरिराज किशोर की दस कहानियां, इसी संदर्भ में नये रिश्ते के तनाव की कहानियां हैं। वे पिछली तीन पीढ़ियों की कहानियों से अधिक अपनी आन्तरिक बुनावट में बहुरंगी कहानियां हैं। इन कहानियों का बौद्धिक पाट, हिंदी 'मायालोक' का बौद्धिक पाट है। और हिंदी यात्रा के विका[स] में, यह पाट चौड़ा भी है। कहानी में बौद्धिक पाट [है] बारीकी—नोकदार व्यंग्य या कुटावों में—उभरती है। लेकि[न] गिरिराज किशोर की कहानियां भी तनाव या उत्तेजना[ओं] की 'बाहरी' यात्राओं से शुरू होती हैं। दरअसल उन[के] नैतिक सवाल 'औरत की देह की गठन' और उसके उपयो[ग] के नैतिक बोध के सवाल हैं। गिरिराज का नैतिक बोध—ज्ञानरंजन की कहानियों की तरह संदर्भों के टूटने का आधा[र] नहीं देते हैं। बुनियादी तौर पर गिरिराज किशोर 'राजनीति के सेक्स' के समानांतर 'देह की बेपर्दगी' को खास अहमिय[त] नहीं देते हैं। इसके बावजूद उनकी कहानियों में 'घुटने औ[र] टाँग के बीच एक साफ-सुथरे कोण' की बेपर्दगी ब[नी] रहती है।

दो कहानी 'समीकरण' और 'क्लर्क' के अलगाव [के] बावजूद यह साफ-सुथरा कोण ही गिरिराज की कहानी[यों का] मूल कोण है। 'समीकरण' कहानी की 'बीबी साहिबा' [का] हिपोक्रेट व्यक्तित्व कहीं अपनी सभ्यता के चौड़े पाट में पू[रे] देश को लपेटे लेता है। इस कहानी का सामाजिक व्यं[ग्य] काफी ठण्डा है और शिल्प के गठन में भी बुनियादी 'ठण्डा-पन' है।

हिंदी का नया पाठक जितेन्द्र, अमरकांत, राजकम[ल] चौधरी, ज्ञानरंजन, विजय मोहन सिंह, विजय चौहान, दूधनाथसिंह और रवीन्द्र कालिया की कहानियों को पढ़[ते] समय एक 'ठण्डेपन' और ऊब की मनःस्थिति से गुज़रता है और यह महसूस करता है कि 'ऊब और ठण्डापन' ज़िंद[गी] का हिस्सा है और ज़िंदगी, 'जीते-जागते आदमी' के अप[ने] अपने नरक में होती है। गिरिराज किशोर की कहानि[याँ] पाठक के इस अनुभव में, इतना और जोड़ देती हैं कि 'ऊ[ब] मज़ेदार भी होती है क्योंकि वह ठण्ड में देह की गरमाई बना[ए] रखती है।'

गिरिराज किशोर अपनी आंतरिक या बाहरी यात्रा [के] अन्वेषण में निर्मम नहीं हैं और न ही उनकी कहानि[याँ] निर्ममता के साथ ज़िंदगी की चीड़-फाड़ करती हैं। का[फी] संजीदगी के साथ गिरिराज किशोर कहानी को उठाते हैं [और] पाठक महसूस करता है कि 'वास्तविकता और गहराई' [को] बहुत देर तक इन चरित्रों ने बर्दाश्त किया है। और लो[गों] का हिस्सा लोगों के हाथों में सौंपने की लेखक में बेताबी है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'शीर्षकहीन' कहानी के क्लर्क की पत्नी और उसके पिता के संस्कारों से तिलमिलाहट होती है। और तिलमिलाहट या रोबवाद के भीतर से एक हिस्सा और खुलता है जिसमें 'संयुक्त पत्नी वाले दर्शन' का रेशा-रेशा उलझा हुआ है। और 'औरत की देह से शुरू होकर कहानी आदमी के दिमाग तक पहुँच जाती है।' मित्र-पत्नी से काफी प्यार हासिल करने का यह 'दर्शन' कहानी के परिदृश्य-बोध में रँगता है। और इस प्रक्रिया में पाठक को चरित्र की तरह 'गर्वमिश्रित सन्तोष मिलता' है। दिमाग को तिजोरी में बन्द करने के बावजूद कहानियाँ यह घोषित करती हैं कि 'दिमाग खराब करने में सफल' हुई हैं। जैसे बच्चे अक्सर कच्छा खराब करने के बाद चीखते हैं—गिरिराज किशोर की कहानियाँ—अपने-अपने नैतिक बोध के अन्तर के बावजूद—'राजनीति के सेक्स' के सवाल पर अपने चरित्रों को लिथड़ती या मैला करती हैं। एक फजीहत भरी क्लर्क या पिछड़े तबके की ज़िन्दगी पर—रंग-बिरंगी पत्तियों की तरह 'एक और ज़िन्दगी' चिपकाकर लेखक प्रगतिवाद के शस्त्रागार का एक 'शस्त्र' चमका देता है और काफी 'कान्फ़ीडेन्स' के साथ अपनी 'साइकोलॉजी' का असर डालता है।

'रेप' कहानी में 'राजनीति का सेक्स' थोड़ा बदलता है और वह 'बुद्धिजीवी की आवाज़' बन जाता है। कहानी के चरित्र 'रेप' का मज़ा लेते हैं—और दिमाग पर चढ़ी हुई कहानी मानसिक मैथुन में ढल जाती है। विजय चौहान की कहानी 'माँ' में जो संबंधों के प्रश्न अचानक 'सीधे, निश्चित और प्रगाढ़ सम्बन्ध' को 'डरावनी बात' में बदल देते हैं—'हत्या' कहानी में वही सवाल, गिरिराज किशोर के उतावलेपन में महज़ एक शैतानी-भरा खेल रह जाता है। इस शैतानी-भरे खेल में अकारण 'हत्या' कहानी के सम्बन्धों के परिवर्तन की प्रक्रिया—शरीर के दबाव की तरह 'घट-बढ़कर' एक पैंडुलम की तरह जगह-जगह अटक जाती है। यही अटकी हुई 'प्रश्नात्मक दृष्टि' गिरिराज किशोर की कहानियों का 'साफ-सुथरा कोण' है। 'रिश्ता' कहानी के अन्दर 'झाँकने' पर निरी शरीर की 'थरथराहट' नज़र आती है। एक के नंगेपन और दूसरे के नंगेपन के बीच की 'भिन्नता' ही कहानी का 'निचोड़' है।

अक्सर लेखक या चौथी पीढ़ी के आम लेखक 'घुटन के सच्चे प्रवक्ता कहलाने' के जोश में—कहानी में 'फ्री शो' दिखाते हैं। 'फ्री शो' दिखाने के साथ ही—'फ्री-स्टाइल' से 'नायक' कहानी चलती है। 'दरअसल औरतों के प्रति आदमी का दृष्टिकोण ही उसके और दृष्टिकोण को बनाता है।' और जब लेखक का दृष्टिकोण ही औरत को 'चापाकल' और 'पुरुष' को 'नायक' मानने का हो तो उससे आगे बहस पाई ही नहीं जा सकती है। 'रिश्ता', 'नायक', 'वी० आई० पी०', 'हत्या', 'शीर्षकहीन', 'रेप' और 'गाउन' कहानियाँ अपनी 'समझ' में मध्ययुग की कहानियाँ हैं और अपने मायालोक के सन्दर्भ में आधुनिक फैशन की झलकियाँ देती हैं।

'६० के बाद की कहानी' जहाँ अपने सम्बन्धों के परिवर्तन की प्रक्रिया में लिखी गई—वहाँ गिरिराज किशोर की कहानियाँ मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित विश्लेषण के 'खूझे' पेश करती हैं। साठोत्तर कहानी आंदोलन के बाद 'रिश्ता और अन्य कहानियाँ' संग्रह के आने से हिंदी-जगत् में थोड़ी-सी उत्तेजना के अलावा और कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। साठोत्तर आंदोलन से जुड़ी रहने पर कहानी की बुनावट में जो सलवटें नज़र आती हैं वे विचारों या संवेदना के स्तर की सलवटें हैं।

कथा फैला देने की वजह से काफी बातें खटकती रहती हैं। 'गाउन' कहानी में वही फैली-पसरी सलवटें—भारतीय और जर्मन महिला—सुनीताजी और कार्ली की—'फ्री स्टाइल' की देशी-विदेशी नोंक-झोंक में बदल जाती है—और अद्भुत सामर्थ्य के बावजूद—कार्ली नामर्जाद नंगी—फ्री शो में सारा मज़ा ठण्डा पड़ जाता है। लेखक के बौद्धिक परिवेश का भारतीय और विदेशी संस्कारों का यही प्रतिवाद है।

'क्लर्क' कहानी में—साहब, चपरासी, क्लर्क के 'तिकोने दाँवपेंच में' वास्तविक ज़मीन उभरती भी है—एक अधिकार के बिंदु पर—और मि० सिंह दफ्तर के आघात में महसूस करते हैं कि 'शायद वे नंगे थे।' यह नंगे हो जाने का अहसास—'गाउन' की सुनीताजी को कार्ली से टकराता है और 'क्लर्क' का संस्कार अपने अधिकार के झपट लिए जाने से आहत होता है। इसी एक बिंदु पर 'समीकरण' कहानी की 'बीवी साहिबा' और उनके 'तालुकात' का किस्सा आता है जहाँ लेखक की मूल सूक्ष्मता 'गड्डमड्ड' हो जाती है—और एक माध्यम से लेखक एक 'भारतीयता' के 'संदर्भ' की हिपोक्रेसी को 'चीरफाड़' कर एकाएक किस्से-दर-किस्से की पर्त को खोलने का मज़ा लेता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'लोग तो अफवाहजीवी होते हैं।' और अफवाहजीवी लोग जब 'राजनीति के सेक्स' की सूक्ष्मता से हटकर 'क्लर्क', 'समीकरण' जैसी कहानियाँ लिखने लगते हैं—तो एकाएक ख़याल आता है कि आदमी और औरत के हिस्से में लेखक ने नाहक़ वक्त ज़ाया किया है।

मुल्क़ की सब-कुछ पेचीदगियों को 'निचोड़' कर रख देने में यही भ्रम बना रहता है कि गिरावट का निचोड़ रह जाता है और ज़िन्दगी जीते-जागते आदमी की न होकर—'लेखक की एक विशेष सैद्धान्तिक दृष्टि का पोषण-भर करती है।'

सिद्धान्तों की बुलन्द आवाज़ में कभी-कभी कहानी में छोटी-छोटी बातों के टुकड़े रह जाते हैं जिन्हें लेखक 'निजी अनुभव' के काँटे से फँसाता है। कहीं-कहीं ख़यालों को पुख़्ता करने के लिए बड़ी घटना घट जाती है, कभी 'करामाती' परिदृश्य उभर आता है और कभी गप्प या चुटकी बजाकर ख़ासी ज़िन्दगी में दिलचस्पी महसूस की जाती है। यह केवल चरित्रों की रचना-प्रक्रिया का गणित नहीं है बल्कि गिरिराज किशोर जैसे कहानीकारों का यही भूगोल है।

वे ज्यामितीय रेखाओं के टूटने या स्थिति बदल जाने के बाद भी मन से भावुक हैं। उनकी कहानियों में 'टूटेपन का भाव' है, टूटे सम्बन्धों का आघात नहीं है। ऊब का स्वाद है, लेकिन '६० के बाद के जीते-जागते आदमी की ऊब की विवशता नहीं है। अज्ञेय की अतीतजीवी चुनचुनाहट है, लेकिन पुराणग्रन्थ से चलकर देहगाथा की विकास-यात्रा नहीं है। सम्बन्धों की दरार में भाभी, माँ आती हैं—लेकिन पत्नी का 'दर्शन' सब पर हावी हो जाता है।

इसी संदर्भ में रामकुमार की 'समुद्र' की कहानी की याद आती है—जो अपनी गम्भीरता में पूरे मानवीय सम्बन्ध के खोखले रिश्ते को झकझोर देती है—पर झकझोरे जाने की भावुकता या उतावलेपन से उसके चरित्र काफी दूर हैं। जब कि गिरिराज किशोर के चरित्र ही शादी के बाद और शादी के पूर्व की उत्तेजनाओं में अपनी और पराई पत्नियों से जुड़े हैं —और 'फ्री शो' तक पति के संदर्भ में शर्त बदते रहते हैं।

ये कहानियाँ साफ़-सुथरी हैं। भाषा, शिक्षा, प्रयोग, शब्द के ऊबड़-खाबड़पन से बचने का लेखक में एक संगठित और इमारती अंदाज़ भी है। भाषा बुद्धिजीवी तौर पर कहानीका की है जो किस्से को रोचक बनाती है। कहानी की उत्ते नाएँ मानवीय एसोसियेशन को चमकाने का काम बड़ी ख़ू से करती हैं। इसीलिए कहानी में 'एकाएक' सब होता है 'एकाएक' कहीं लेखक का प्रिय शब्द भी है जिससे उसे सकू सा मिलता है।—इसी सकून में कभी-कभी ऐसे वाक्य भी आ टपकते हैं—'कभी-कभी के चेहरे जिस्म को गायब क देते हैं।'

'अर्थहीनता' के संदर्भ का अस्तित्ववादी दर्शन का मुहा वरा भी कहानी में नग की तरह जड़ा हुआ है। लेखक प एक खालीपन ऊपर से लटक गया है और कहानी के प्रवाह इन मुहावरों की वजह से बातें अधिक जमती भी हैं।

आधुनिकता—शायद लेखक के निजी कोश में—'रुचि सम्पन्नता का प्रमाण-पत्र' है। वह बहुत-कुछ जानकारी पढ़ी हुई रचनाओं से अपना मतलब पूरा कर लेता है औ अपने अस्तित्व की मौलिकता को 'छिपाकर मौजूद' रखं में भी एहतियात बरतता है।

कई अर्थों में वह 'करामाती' कथाकार है। एक तरह क व्यापारिक कहानियों की 'सिसिआहट' का वह बड़ी ख़ू से अपनी कहानियों में इशारा करता है, क्योंकि 'वह अपन परछाईं को बड़ी और लम्बी रखना चाहता है।' यह बड़ी औ लम्बी परछाईं अवसरवादी समझ की भी परछाईं है—जो मध्यवृत के बुद्धिजीवी से ज़रा सटकर घटती और बढ़ रहती है।

चौथी पीढ़ी के 'सच्चे प्रश्नों और सन्दर्भों' की नोकदा दृष्टि की खोज में निकली गिरिराज किशोर की कहानियाँ नैतिक बोध की 'कसावट में ढीलापन' लाकर अक्सर निशा से चूक जाती हैं। राजनीति की पहचान के बावजूद ये कहा नियाँ—अराजनीति के शून्य में अटक जाती हैं। हिपोक्रेसी या अधिकार की टक्कर के बावजूद ये कहानियाँ 'अधिकार के लिए' बेचैनी पैदा नहीं करतीं। खास स्तर या दृष्टिको के दबाव में ये कहानियाँ 'देह की ढाल' बनाती हैं और बाहरी गिरावट की 'रेडीमेड' भावनाओं की गर्मी महसूस कराती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समय कम, बेचैनी ज्यादा, या एक छोटे 'रचना संसार' का अंत

विष्णुचन्द्र शर्मा

१९५८ की 'कहानी' पत्रिका में डॉ० नामवरसिंह ने 'नयी कहानी : सफलता और सार्थकता' का सवाल उठाया था। १९६९ में 'नौ साल छोटी पत्नी' संग्रह की कहानियाँ पढ़ते समय वह सवाल खुद में 'पर्याप्त कौतुकपूर्ण' लग रहा है। कालिया की कहानियाँ पढ़ने में एक 'हल्की-सी खुशी' महसूस होती है। यह 'रहस्य खुलने की एक हल्की-सी खुशी' कुछ देर तक पाठक को 'अनिश्चय की स्थिति में' खिन्न या भौंचक-सा खड़ा रखती है।

यह 'रहस्य खुलने की हल्की-सी खुशी' की कला, निर्मल वर्मा की कहानियों से रवीन्द्र कालिया को 'उत्तराधिकार में प्राप्त' हुई है। 'खंडगत अन्तर्विरोध की पकड़' कालिया की कहानियों की 'सफलता और सार्थकता' का जादू है। इस जादू में, 'व्यंग्य के लहज़े' में, 'चौंकाने के लिए छोटी-छोटी बातें ही रह जाती हैं।' बल्कि 'खंडगत अन्तर्विरोध की पकड़' में ही, कालिया की कहानियाँ 'छोटी-सी बात को लेकर परेशान' कर देती हैं।

डॉ० नामवरसिंह ने नयी कहानी की सार्थकता के सवाल पर इसी बात को स्पष्ट करते हुए लिखा था—"कहानी जीवन के टुकड़े में निहित 'अन्तर्विरोध', 'द्वन्द्व', 'संक्रांति' अथवा 'क्राइसिस' को पकड़ने की कोशिश करती है और ठीक ढंग से पकड़ में आ जाने पर यह खंडगत अन्तर्विरोध भी **वृहद् अन्तर्विरोध के किसी-न-किसी पहलू का आभास दे जाता है।** यह खंडगत अन्तर्विरोधों की पकड़ श्रेष्ठ कहानियों के कथानक में **कहीं नाटकीय मोड़** पैदा करती है तो **कहीं वस्तुस्थिति के साथ संघर्ष** करते दिखलाती है। और कभी स्वयं **उस चरित्र के भीतर संकल्प-विकल्प की दुविधा दरसाती** है या फिर उसके **चिंतन और कार्य के बीच विडम्बना (आयरनी)** को चित्रित करती है। यह एक विरोधाभास है कि कहानी जैसा एकान्वित शिल्प अन्तर्विरोधों पर निहित होता है।"

नौ साल छोटी पत्नी : लेखक रवीन्द्र कालिया, प्रकाशक अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद-२। मूल्य छः रुपये।

रवीन्द्र कालिया की ज्यादातर कहानियाँ 'व्यंग्यात्मक लहज़े' में लिखी या कही जाती हैं। उनकी कहानी के 'कथानक में' नाटकीय मोड़ ('बड़े शहर का आदमी' तथा 'पचास सौ पचपन' कहानियों में) भी है, वस्तुस्थिति के साथ संघर्ष करते चरित्र भी ('दफ़्तर' और 'इतवार नहीं' कहानियों में) दिखते हैं, स्वयं चरित्र के भीतर संकल्प-विकल्प की दुविधा भी ('डरी हुई औरत' में और 'पत्नी' कहानियों में) है, और चरित्रों के चिन्तन और कार्य के बीच विडम्बना को भी ('काला रजिस्टर' तथा 'क ख ग' कहानियों में) चित्रित किया गया है, लेकिन कालिया की कहानियाँ न श्रेष्ठ कहानियाँ हैं और न ही उनके खंडगत अन्तर्विरोध, वृहद् अन्तर्विरोध के किसी-न-किसी पहलू का आभास देते हैं।

कालिया 'नयी कहानी' के नहीं '६० के बाद की कहानियाँ' के लेखक हैं। वे 'अपनी अनुभूति ही' लिखते हैं, और अज्ञेय की तरह ज़ोर देकर अपनी संवेदना के धरातल पर स्वीकार करते हैं कि 'मेरा आग्रह रहा है कि लेखक अपनी अनुभूति लिखे।' और अपनी अनुभूति के अन्वेषण में, वे अपने 'आभ्यन्तर मोड़' (इनवर्ड टर्निंग) से होकर बाहर की ओर आते हैं। निजी अनुभूति की खोज में कालिया 'संबंधों की कहानियाँ', 'डरी हुई औरत', 'पत्नी', 'मैं', 'नौ साल छोटी पत्नी', 'सिर्फ़ एक दिन', 'कोज़ी कार्नर', 'सत्ताइस साल की उम्र तक' तथा 'त्रास' लिखते हैं और वृहद् अन्तर्विरोध के 'आधुनिक जीवन की कहानियाँ' 'पचास सौ पचपन', 'दफ़्तर', 'क ख ग', 'इतवार नहीं', 'सड़क पर अँधेरा था', 'काला रजिस्टर' और 'बड़े शहर का आदमी' लिखते हैं। यही वृहद् और लघु अन्तर्विरोधों का 'छोटा', 'बड़ा' संस्करण है। और '६० के बाद की कहानी' के 'परिवर्तन की प्रक्रिया' है।

दोहरे तनाव की संवेदनात्मक प्रतिक्रिया में कालिया निजी अनुभव में, तीव्रता उत्पन्न कर, एक खास किस्म का पेच डालते हैं और विजयमोहन के लहज़े में दुहराते हैं कि 'हमारे तमाम सम्बन्ध अचानक संदिग्ध और 'सवाल' बन गये हैं!' यह संदिग्ध और 'सवाल' बने हुए सम्बन्ध—बाहरी जगत् की 'मानसिक गुत्थियाँ' और वृहद् अन्तर्विरोध या 'क्राइसिस' ही है। लेकिन यह क्राइसिस सामाजिक चेतना की पहचान में भिन्न रूप से खोजी जाती है और निजी अनुभूति की खोज में भिन्न रूप से प्राप्त की जाती है। रवीन्द्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कालिया निजी अनुभूति की खोज के धरातल पर सामाजिक चेतना की पहचान करते हैं। और 'सवाल' बन गए तमाम सम्बन्धों पर या तो कालिया स्पष्टीकरण पेश करते हैं या उनकी कहानी निजी अनुभव को बहलाए रखने के साधन ढूंढ़ने में लग जाती है। यह साधन ढूंढ़ने और सफाई देने की प्रक्रिया संवेदना में परिवर्तन का गहरा प्रभाव नहीं छोड़ पाती है।

शिकायती, स्पष्टीकरण और सफाई देनेवाले रवीन्द्र कालिया के ज़्यादातर चरित्र, 'आहत चरित्र हैं। ये चरित्र संवेदना में परिवर्तन के स्तर पर कहीं किसी भी व्यवस्था को सीधा झटका नहीं देते हैं। वे अपने परिवेश का एक माया-लोक निर्मित कर लेते हैं और उन चीज़ों से, जो अचानक हो जाती हैं, ये आहत चरित्र अक्सर घबराते रहते हैं।

'चीज़ें जब इन चरित्रों की बर्दाश्त के बाहर हो जाती हैं,' तब वे या तो 'प्रामाणिक झूठ' गढ़ने लगते हैं, या स्पष्टीकरण देकर ('मैं', 'नौ साल छोटी पत्नी', 'डरी हुई औरत' में) अपने-अपने 'रोमांटिक लहजे' को तर्कसंगत बनाने का विकल्प खोजने लगते हैं।

यह संकल्प-विकल्प की दुविधा और चिन्तन कार्य के बीच अटके हुए कालिया के चरित्र, अपने परिवेश या माया-लोक में चलने-फिरने के बावजूद 'निष्क्रिय' रह जाते हैं। वे कहीं संवेदना में परिवर्तन का आभास नहीं देते हैं।

इस दार्शनिकता के निष्क्रिय चरित्रों के मायालोक की निर्मल वर्मा ने शुरुआत की थी और कालिया ने उसे अपने ही कठघरे में सफाई देने को वाध्य कर दिया है।

'काला रजिस्टर' का शिल्प-कौशल और 'क ख ग' कहानी की 'शिल्प-चालाकी' कालिया की इन दो कहानियों को सपाट होने से बचा लेती है। इन दो कहानियों में लेखक जानकर, गढ़ी हुई शिल्पीय कला का सहारा लेकर पाठक के 'दिमाग को एक हल्का-सा झटका देता' है। ये कहानियाँ पढ़ते समय अनायास यह महसूस होता रहता है कि लेखक के दिमाग़ में या उसके निजी अनुभव के एक कोने में—एक 'हल्का-सा बोझ पड़ा हुआ था' और वह दिमाग पर पड़े हल्के-से बोझ से निजात पाना चाहता है।

यह कथाशैली की 'चातुरी' या 'जादू' कहीं कालिया के निजी संस्कारों के संघर्ष का भी सवाल है। कालिया, पूंजी-वादी व्यवस्था ('दफ्तर', 'क ख ग') या पूंजीपति-कुनबे की व्यवस्था ('काला रजिस्टर') के खिलाफ सीधा झटका देनेवाले लेखक नहीं हैं। वे महज़ हल्का-सा दबाव महसूस करने वा[ले] लेखक हैं। अपने-अपने दायरे की उत्तेजनाओं से विन[...] रवीन्द्र कालिया के चरित्र, बॉस या 'कैबिन' का स्पष्टीक[रण] देते हैं, अपनी सफाई चाहते हैं, और 'शरारत' के तौर [पर] 'शिकायत करने की शिकायत' के बोझ को कबूल कर लेते [हैं]।

दरअसल कालिया की कहानियाँ, सामाजिक चेतना [के] धरातल पर, चरित्रों के प्रेम-प्रसंग, उनके नर्वस हो जाने [के] सवाल और दिमागी तौर पर उनके रोगी हो जाने के खत[रे] का स्पष्टीकरण पेश करती हैं।

निजी अनुभव में, कालिया की कहानियों के चरित्रों [का] एक दायरा (या उसका रचना-संसार) विवाह के पूर्व [की] कुण्ठा का होता है और दूसरे दायरे में पहुँचकर उसके च[रित्र] प्रेम का **सही अर्थ** शादी के बाद की घुटन में ही जानते [हैं]। निजी अनुभव के कुण्ठा और घुटन के दायरों में कालिया [के] चरित्रों को प्राप्त होती है, यौन सम्बन्धों की वेहो[शी,] बदहवासी और पति-पत्नी या युवक-युवती दोनों [की] लापरवाहियों का नतीजा! यह 'यौवन गंध' का सिलसि[ला] ज़िन्दगी को एक बिन्दु पर पहुँचा देता है। यहाँ से पु[राने] ज़माने के दायरे बदलकर नये ज़माने का रचना-संसार [बन] जाता है और पुराना मनोरंजन, परिवर्तित होकर नये म[नो-] विलास के साधनों की तलाश में लग जाता है।

'सत्ताईस साल की उमर तक' कहानी का नायक [...] सफाई देता है कि 'बरसों से यह बड़े-बड़े शहरों में अकेला रह[ा] है और इसने **अपने को बहलाये रखने के साधन** ढूंढ लिये [हैं]।

'सिर्फ एक दिन' कहानी का युवक महसूस करता है [कि] 'अखबार में यदि **विचारोत्तेजक सामग्री** का **अभाव** हो, [तो] मुझे नींद-सी आने लगती है और यदि सामग्री **अधिक** हो, [तो] नींद की गोलियाँ खाकर सो जाता हूँ।'

'साधन ढूंढकर' या 'सोकर' रवीन्द्र कालिया का यु[वक] अपनी नसों के दबाव से छुटकारा पाना चाहता है। इस यु[वक] की निजी ज़िन्दगी का बहुत संक्षिप्त परिच्छेद होता है [—] अतीत की कुण्ठा की रहस्यमयी आशंका और वर्तमान ज़िन्[दगी] की बेकारी, घुटन, 'बोरडम' और आत्महत्या की असफल[ता।] संक्षिप्त अपने परिच्छेद पर सोचते हुए वह आहत होता [है,] निष्क्रिय रहता है और 'पैरोडी करने में उसे आनन्द' आता [है]।

कभी-कभी कालिया की पूरी कहानी 'डरी हुई औ[रत]' और 'पत्नी' एक पैरोडी बन जाती है—हताशा और घु[टन]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की त्रासदीय पैरोडी !

मामूली-मामूली बातों पर निहायत सादगी से कहानियाँ लिखना कालिया की खूबी है। निहायत सादगी से कही हुई कहानियों में आहिस्ता-आहिस्ता कुछ घट जाता है (जैसे 'अकहानी') या आँख-मिचौनी में कुछ होता रहता है (जैसे ('व···बेशर्म') या कुछ आशंका दबी रह जाती है (जैसे 'बड़े शहर का आदमी') या पत्नी, माँ और पिता के सम्बन्धों में अपनी-अपनी विवशताओं के उघड़ जाने के खतरा बना रहता है (जैसे 'मैं', 'त्रास', 'सिर्फ एक दिन')।

ऐसी कहानियाँ उत्तेजना में लिखी नहीं जाती हैं, बल्कि आहिस्ता-आहिस्ता बातें करती हैं। और खामखाह ही पाठक इन कहानियों को पढ़कर 'बतियाने के मूड में आ जाता है।'

कालिया की कहानियों के ज्यादातर चरित्र 'छोटे परिवार' के हैं। ये चरित्र अपनी-अपनी आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जिन्दगी से तंग आये, निम्न-मध्यवर्ग के आदमी हैं, जिनके पास 'समय कम या बेचैनी ज्यादा' है। ये चरित्र बम्बई या दिल्ली जैसे महानगरों के हैं जो 'कम समय' में बहुत-कुछ देख या महसूस कर लेते हैं। एक हद तक ये युवक चरित्र कुण्ठित और घुटन-भरी स्वाधीनता के बाद की पीढ़ी के प्रतीक हैं। दरअसल ये प्रतीक चरित्र देश के उस बिन्दु तक पहुँच चुके हैं जहाँ से संस्कृति के घटियापन की शुरुआत होती है। प्रेम और आत्मीय संबंधों (घर, दफ्तर और अस्पताल के परिवेश में) के स्तर पर ये चरित्र 'कमीनगी की हद तक' व्यावसायिक समझौतों में जीते हैं और एक दायरे से दूसरे दायरे में, या एक नतीजे से दूसरे नतीजे तक पहुँचने के लिए बेचैन रहते हैं। बीच की विभाजक रेखा पर—मनोरंजन से मनोविलास तक के अन्तराल में रवीन्द्र कालिया की कहानियाँ—एक झूठ का हिसाब दे दिया करती हैं।

यह 'झूठ का हिसाब' भारतीय युवक के साहस या बुज़-दिली, या पत्नी, बॉस, पिता से समझौता करने और उनके प्रति निरपेक्ष रहने की यात्रा नहीं है। यह झूठ का सिलसिला, किसी बड़ी जिन्दगी से युवक या नई पीढ़ी को जोड़ता नहीं है, बल्कि विशाल भारतीय दायरे से हटकर ये कहानियाँ अपनी-अपनी 'द्वीप-भावना' का निर्माण करती हैं।

यह 'द्वीप-भावना' या 'प्रामाणिक झूठ' का सिलसिला कालिया की कहानी-कला का भी सिलसिला है। यह 'भाषा की सौंदर्यात्मक विशेषता' को जारी रखने का भी सिलसिला है जिसमें 'सही अर्थ' की तरह 'सही भाषा' की खोज की चेष्टा भी शामिल है। इस नवलेखन की 'भावना' ने, पूरे हिन्दुस्तान से अलग-थलग, एक छोटे या लघु हिन्दुस्तान के 'मूल्यों की चेतना', 'यथार्थ का नया स्तर' और 'नया सौंदर्यबोध' खोज लिया था। पूरे हिन्दुस्तान पर अपने 'लघु हिन्दुस्तान' को लादकर, हिन्दी साहित्यमें एक 'बौद्धिकीकरण' का सिलसिला शुरू हुआ था। 'आत्मनेपद' में ही वात्स्यायन ने लिखा है कि 'हमारा सम्पूर्ण कलाकृतित्व यथार्थ के इस बौद्धिकीकरण से आक्रान्त है। यथार्थ को यथार्थवत् ग्रहण कर सकने की हमारी क्षमता को वह कुण्ठित कर रहा है।'' 'नौ साल छोटी पत्नी' की कहानियों की संरचना और बुनावट में इसी 'कुण्ठित क्षमता' का जादू है। इस 'जादूगरी' में 'कला की सफाई' और 'हाथ की सफाई' आमने-सामने रहती है। रवीन्द्र की कहानियों के सिलसिलाविहीन सिलसिले में जादूगरी का कोई अपूर्ण परिच्छेद बराबर सामने बैठा रहता है। 'नई कहानी' में जो लघु अन्तर्विरोध के ऊपर 'वृहद् अन्तर्विरोध' को थोपने का, आंचलिक या कस्बे की कहानी आदि का कलावाद था, वही कुछ घट-बढ़कर '६० के बाद की कहानी' में 'अपने में' और 'अपने पार' का सिलसिला बन गया है। कालिया 'अपने में' कुण्ठित और आहत हैं और 'अपने पार' अपूर्ण और कातर !

'अकेलेपन' का यह 'कलावाद' मूल में दूसरे महायुद्ध के बाद का संकट कहा जाता है। सेमुअल बेकेट के नाटकों (एण्ड गेम, वेटिंग फॉर गोडो) या ब्रेख्त आर्थर मिलर और आए-नेस्को के नाटकों तथा 'एबसर्ड' नाटकों की परम्परा में और सार्त्र तथा कामू के उपन्यासों और 'मिथ ऑफ़ सिसिफस' में एलबर्ट कामू की 'एब्सर्डिटी एण्ड सोसाइड' की चिन्तनधारा से छनकर 'अर्थहीन घबराहट' का चक्र हिन्दी कहानी में आया है। और कालिया के चरित्रों की तरह 'भावुक होने के बजाय दार्शनिक' होता जा रहा है।

यह भावुक होने के बजाय दार्शनिक होते जाने का सिलसिला कविता में बिम्बवाद और प्रतीकवाद से होता हुआ 'अकविता' में 'योनिवाद' तक पहुँच चुका है। कहानी में यह 'संबंधों' के पेच में उलझ गया है। और उस उलझन की यह दलील है कि 'कम समय की वजह से जीवन का यौन-सुख या आनन्द, सिमटकर 'संभोग सुख' में बदल गया है। और श्रीकान्त वर्मा, महेन्द्र भल्ला की कहानियों के युवक-युवती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी बदलाव की स्थिति में एक 'फड़फड़ाहट' महसूस करते हुए अपने प्रेम में हताश रहते हैं। कालिया की 'पचास सौ पचपन' कहानी का 'फ्रीलांसर' इसी मजबूरी में प्रेम करता और "मुर्गे की तरह ही, बहुत जल्दी फड़फड़ाकर वह सफाई से अलग हो गया तो प्रेमिका उसकी ओर हताश होकर ऐसे स्कूटर वाले की तरह देखने लगी, जिसकी सवारी को मीटर पढ़ना आता हो।" कालिया अपनी कहानियों के प्रेम-प्रसंग में 'मीटर' के जानकार लेखक 'अश्क' ('पलंग', 'चट्टान') और मोहन राकेश ('आलपिन', 'मिस पाल') से 'सफाई से अलग हो गये' हैं। यह सफाई से अलग होना, कहीं से भी 'डिपार्चर' नहीं है। यह महज़ भावुक होने के बजाय दार्शनिक होते जाने का एक अनुक्रम है।

राजेन्द्र यादव ने दिसम्बर १९६० की 'कल्पना' के एक लेख 'शह और मात : मेरा अपना दृष्टिकोण' में लिखा था—'लेकिन जीद से लेकर सार्त्र और कामू तक की इस परम्परा ने मुझे यह जरूर सुझाया कि कहानी सिर्फ पात्रों के बाह्य-चित्रण और गतिविधियों का लेखा-जोखा और परिस्थितियों के संयोग पर निर्भर 'ट्रेजेडी' या 'कामेडी' ही न हो—अपने पार भी कुछ कहती हो—और वह 'पार कहना' अन्त में या बीच-बीच में संकेत रूप में ही आकर समाप्त न हो जाए वल्कि समानान्तर चलता रहे।'

अपने संग्रह 'अपने पार' में कुछ कहने के लिए राजेन्द्र यादव ने कुछ हिदायतें या 'पारपत्र' गढ़ लिए हैं जबकि कालिया 'अपने में' कुछ रुकावटें महसूस करते हैं—और अपनी सीमाओं को लाँघने के लिए अन्तर्विरोधों से गुज़रते हैं।

पाठक 'नौ साल छोटी पत्नी' की कहानियाँ पढ़कर यह महसूस करता है कि आकाश की तरह कालिया की कहानियों का जीवन वही है, केवल उसमें छोटे-छोटे अनुभवों से जोड़ने वाला सिलसिला या खुला संवेदनात्मक आकाश नया है। इस नये जीवन या आकाश के साये में, अकेलेपन की बोरडम की साया है और निष्क्रिय घुटन है! कालिया की मूल संवेदना का धरातल पुराना है, लेकिन नये संदर्भ से जुड़े रहने की वज़ह से पाठक को पुराने आकाश के नीचे बैठना बुरा नहीं लगता है।

'क ख ग', 'दफ्तर', 'इतवार नहीं', 'पत्नी' और 'काला रजिस्टर' के आहत चरित्र व्यवस्था के दवाव को बर्दाश्त करने वाले कमज़ोर या डरपोक चरित्र हैं। ये चरित्र गुमनाम रहते हैं। साधारण व्यक्तित्व के ये चरित्र, 'क ख ग' कहानी की संज्ञाओं में, एक तीखी चुभने वाली हवा की तरह जीवन में धँसते हैं और टूटकर अपने दायरे में बिखर जाने का एहसास पैदा करते हैं।

'दफ्तर' कहानी में आदमी 'डिस्टर्ब' होता है और 'चुग... की तरह' चापलूसी करता है और अधीनस्थ कर्मचारी के अपराध-भावना के दायरे में दबा रह जाता है। घर की 'पेशा... की बू' और दफ्तर में नौकरी पक्की रखने की अस्त-व्यस्तता में, वह 'अपने में' अटका रह जाता है। 'अपने में' 'अटका हुआ अभाव 'पत्नी' या 'इतवार नहीं' कहानी का 'परिचित साया' एक 'हल्का-सा बोझ' बन जाता है। और लेखक की तरह 'अपने में' टूटे हुए चरित्र यह महसूस करते हैं कि वे खुद 'भावुक होने की बजाय दार्शनिक होते जा रहे हैं।'

'अस्तित्ववाद' के खटके हैं 'नपुंसकता', 'अर्थही... घबराहट', 'कमज़ोरी', 'टखनों में दर्द', 'आत्महत्या का भय' और ऐसी ही 'दार्शनिकता' कालिया अपनी कहानी पर ला... आते हैं। यह दिमाग का 'हल्का-सा बोझ', अन्त में कलाबा... का लम्बा सिलसिला बन जाता है।

एक हद तक कालिया की कहानियों का 'व्यंग्य का लहज़ा' 'झूठी उम्मीद' में जीते रहने का लहज़ा है। और उसका 'व्यंग्य का लहज़ा' उसकी कहानियों में एक विचारोत्तेजक अभाव का सिलसिला बन जाता है। उनका व्यंग्य या अन्तर्विरोध एक ट्राली की तरह एक दायरे से दूसरे दायरे तक पहुँचाने का काम करते हैं और खाली ट्राली की तरह अन्तराल में भटक जाते हैं। अपनी 'हल्की-फुल्की' गम्भीरता से वे इतना ही काम लेना चाहते हैं।

एक जीवन में घुटकर दूसरा विकल्प जानने की कोशिश में ही, रवीन्द्र कालिया की कहानी पूरी हो जाती है। वह... तो अपने अन्तर्विरोधों से साक्षात्कार करने में निर्मम हो पा... हैं, और न ही अपनी 'सामाजिक समझ' को पहचानने... वृहत्तर भारत से अपना नाता जोड़ पाते हैं।

कालिया 'छोटे-छोटे वर्तमान' के करामाती लेखक हैं और छोटी-छोटी खुमारी में झूलना उन्हें प्रिय है।

ये छोटी-छोटी सरसराहटों का 'छोटा-सा भारत' '६०' बाद की कहानी' की 'अराजनीति की सरसराहट' थी जिस... शरीक अधिकांश लेखकों को खुशी हो रही थी कि वे कुशलता से 'मूल्यों,' 'प्रगतिवाद', 'यथार्थ' और 'नंगी राजनीति...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सच्चाई से' सफाई से बचकर अपने छोटे 'रचना संसार' में पहुँच रहे हैं। लेकिन वास्तविकता खुफिया सिपाही की तरह, उनके अन्तर्विरोध के छोटे संसार का पीछा कर रही थी।

एक पीढ़ी-की-पीढ़ी अब देखते-देखते इसी अपूर्ण दर्शन के परिच्छेद' में लुढ़क रही है। कालिया भी उसी पीढ़ी के 'भावुक दार्शनिक' हैं और उनकी कहानी 'छोटे संसार' के अन्त की आखिरी कड़ी है।

कोरी बातों का सिलसिला

विष्णुचन्द्र शर्मा

आधुनिक युवक की कुंठाओं और अपने परिवेश से सीधे टकराने की मनःस्थितियों के बीच कहीं श्रवणकुमार की कहानियाँ अपना दायरा तलाश कर रही हैं। ये कहानियाँ न तो पूरी तरह आधुनिक हैं और न ही आधुनिक समाज के भीतर और बाहर, टकराहट पैदा करने के लिए लिखी गई हैं। श्रवणकुमार समसामयिक जीवन की किसी भी बात को लेकर कहानी लिखे जाने पर विश्वास करते हैं, और उनका विश्वास उनकी 'आंतरिक छुअन' पर आधारित है। वे यह मानते हैं कि 'कहानी तो किसी को भी लेकर लिखी जा सकती है। हाँ, कुछ छू जाना चाहिए।" यह एक पात्र की ही दलील या पहचान नहीं है, बल्कि रचनाकार की रचना-प्रक्रिया को समझने की एक अनिवार्य शर्त है।

इस शर्त के साथ उनकी कहानियाँ कुछ अंतरंग व्याख्याएँ भी चाहती हैं। श्रवणकुमार पंजाबी हैं, और १९५४ से कहानियाँ लिख रहे हैं, तथा उनका उपनाम 'दिव्य' (उनके 'विभिन्न स्तरीय जीवन जीने में') उनके आंतरिक विश्वास का अंग है। मझोला कद। पतली-दुबली काठी। और जो कुछ आँखों के सामने घटता है, उनका रचनाकार 'मूक-अवाक् उसे देखता रहता है।'

कोरी भावुकता से हटकर सोलह कहानियों के इस संग्रह में श्रवणकुमार, 'कोरी बातों' तक की यात्रा करते हैं और यह महसूस कराते रहते हैं कि उनका पंजाबीपन, उनकी खास

अँधेरे की आँखें—कथाकार श्रवणकुमार, प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली। मूल्य : चार रुपये

सीमा तक की दिव्यता, और विभिन्न स्तरीय जीवन जीने का अन्दाज़, उनकी 'मूक-अवाक आँखों से बचा-छिपा' नहीं है। यह अहसास, वे अपने संस्कारों और अपने परिवेश की पहचान करते समय लिखकर ज़ाहिर करना चाहते हैं, क्योंकि वे लिखकर उससे उऋण हो लिए होते हैं। लिखकर उऋण होने का भाव : श्रवणकुमार की रचनाओं की योजना, दिव्यता, संभावना और सपनों की कसौटी पर कसा हुआ है।

'धुआँ' कहानी में लेखक के निर्माण की काफी बाधाएँ हैं और यह आभास भी है कि मंगलवार को लिखना एक शुभ काम है।

उनका लेखन एक खासतौर की शुभकामना की शुरुआत करता है—बसों की इंतज़ार करते-करते या बसों के पीछे भागते या हाथ हैंडल-बार से छूटेगा और पहिए के नीचे दब जाऊँगा, पिच्। यह महानगर की यात्रा या ज़िंदगी का संकट है। यही संकट—एक कचोटते हुए आदमी का मृत्यु-भय।

परिवार, पत्नी, दफ़्तर, चपरासी और छोटे-से त्रिकोणात्मक दायरे में श्रवणकुमार की कहानियां इसी कचोट को छूना चाहती हैं।

उनकी कहानियाँ इसके बावजूद परिवार के विघटन की ओर आधुनिक व्यक्ति के मृत्यु-भय की कहानियाँ नहीं हैं। वह अपने सपनों को कसौटी पर कसकर एक शुभ काम करने की शुरुआत से आगे नहीं बढ़तीं। एक सनसनीखेज यात्रा, एक खाली, एकदम उदास उत्तेजना और एक प्रकार की भीरुता के वशीभूत रहना। यह स्पर्श या छुअन की पहचान का विचारमात्र ही उनकी कहानियों का अनायास मिल गया गुर है। यही तीखा एहसास कहानी के रचनाकार का दबाव, विरोध और अभाव-पूर्ति है और आदमी के नंगे होते रहने की एक सीधी बात है।

शरीर की गरमी का तीखा एहसास—"उसके उरोज, उसके भारी कोट के बावजूद भी जैसे मेरे भीतर गड़े जा रहे थे। उसके पेड़ू एवं जंघाओं का भी मुझे तीखा एहसास था। उसका संतुलन ठीक रखने के लिए मेरे हाथ उसके नितम्बों पर दबाव दे रहे थे।" (पृ० १९ 'मैं और वह') यह बस यात्रा की दुनिया कहीं लेखक की निजी कुंठाओं की दुनिया भी है।

'नंगे', 'बच्चा', 'विरोध', 'कहकहा' जैसी कुछ कहानियों के अलावा संग्रह की ज्यादातर कहानियों का शिल्प ऊबड़-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खाबड़ है जहाँ बहुत सारी बातों के किस्से बेतरतीबी से भरने की हाबड़तोड़ कोशिश है। कहानी के शिल्प के सादेपन में बातों और यादों को जोड़कर, मान-मनौवल से कह देने का अंदाज़ है। शिल्प का यह अंदाज़ अपनी दिलजोई करने का एक बहाना है। ज्यादातर चरित्र 'स्वीकारात्मक ढंग' की बातें पुलक भरकर कहते-सुनते हैं। कहीं-कहीं पूरी कहानी 'अपनी-अपनी आपबीतियों' का किस्सा रह जाती है। और प्रतीकों, उपमानों या दृष्टांत में लेखक ने 'काम-शास्त्र की बारीकियों को मात कर दिया है।' श्रवणकुमार की कहानी, कभी-कभी 'बात जारी रखने' के सिलसिले में केवल रोचकता का दामन पकड़े रह जाती है।

एक आलोचक ने 'अँधेरे की आँखें' देते समय मुझसे कहा था—"श्रवणकुमार नये लेखक हैं और किसी कहानी-ग्रुप से जुड़े नहीं हैं।" मुझे आलोचक की उदारता पुस्तक पढ़ने के बाद 'मुँहदेखी' या वंध्या उदारता लग रही है। पहली बात यह है कि १३ अगस्त १९३१ को जन्म लेने वाला लेखक अगस्त १९६९ में ३८ वर्ष पूरे करके 'नयों में' अपने को शुमार नहीं करना चाहेगा। श्रवणकुमार जितेन्द्र, अमरकांत ठाकुरप्रसाद सिंह, ओमप्रकाश श्रीवास्तव तथा कमलेश्वर की पीढ़ी के लेखक हैं—हाँ, वे उस पीढ़ी के साथ चलनेवाले लेखक नहीं हैं—पीछे से जुड़े रहनेवाले लेखक हैं। दूसरी बात 'नये' कहे जाने के संदर्भ में स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि श्रवणकुमार के रोचक या कुछ एक वास्तविक दृष्टांत भी जितेन्द्र, अमरकांत और शेखर जोशी की सामान्य कहानियों के स्तर तक भी नहीं पहुँचते हैं। ज्ञानरंजन, दूधनाथ सिंह और विजयमोहन की आधुनिक भावबोध की कहानियों के समीप तो इस संग्रह को महज़ 'कोरी बातों' का एक सिलसिला ही कहा जाना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना

पुस्तक-परिवार

के सदस्य बनिये
और अपनी पसन्द की पुस्तकें घर बैठे पढ़िये

•

हिन्दी के पाठकों के लाभ के लिए 'राजकमल प्रकाशन' त्रैमासिक 'आलोचना' से संपृक्त इस नयी योजना का शुभारम्भ कर चुका है।

पाठकों की जानकारी के लिए हम यहाँ इस योजना के उद्देश्य और सदस्य बनने के नियम आदि प्रकाशित कर रहे हैं।

उद्देश्य

१. आज तक हिन्दी-प्रकाशन-जगत् अपने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग—व्यक्तिगत खरीदार (इंडिवीजुअल कस्टमर) की ओर पूरा ध्यान नहीं दे पाया, क्योंकि विक्रेताओं का ध्यान प्रायः पुस्तकालयों, सरकारी विभागों व स्कूल-कालेजों की थोक बिक्री की ओर रहा है, जबकि अन्ततः पुस्तक का पाठक 'व्यक्ति' ही होता है। यदि पुस्तकों की सूचना सीधे पाठकों के हाथों में पहुँचे तो उन्हें अपनी रुचि की पुस्तकों को चुनने में सुविधा रहेगी। अतः 'आलोचना पुस्तक परिवार' योजना का पहला उद्देश्य होगा, पाठकों तक नये प्रकाशनों की सूचना नियमित रूप से पहुंचाना।

२. हिन्दी पुस्तकों के प्रति भारतीय जनता में जागरूकता लाना और हिन्दी-साहित्य को लोकप्रिय बनाना।

३. हिन्दी पुस्तकों के बारे में लोक-मत को जानना और लेखकों व पाठकों के बीच तादात्म्य स्थापित करना जिससे साहित्य जन-जीवन के अधिक निकट आ सके।

४. हिन्दी के साधारण पाठक को उसी मूल्य पर पुस्तकें सुलभ करना जिस पर वे पुस्तकालयों को प्राप्त होती हैं ताकि लोग अधिक-से-अधिक संख्या में निजी पुस्तकालय बनाने में रुचि ले सकें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना पुस्तक-परिवार

सदस्यता के नियम

१. 'आलोचना पुस्तक-परिवार' के सदस्य बनने पर आपको 'राजकमल प्रकाशन' के प्रकाशनों पर १५ प्रतिशत कमीशन दिया जाएगा, २० रुपये या इससे अधिक मूल्य के आर्डर पर फ्री पोस्टेज की सुविधा दी जाएगी। 'राजकमल प्रकाशन' की पुस्तकों के साथ यदि आप अन्य प्रकाशन भी मँगाना चाहेंगे तो उन पर भी साढ़े बारह प्रतिशत कमीशन की सुविधा दी जायेगी। किन्तु बाहरी प्रकाशनों का कुल मूल्य या कुल मूल्य की आधी रकम आर्डर के साथ अग्रिम भेजनी होगी।

२. सदस्यता फार्म भरकर भेजते समय मात्र ३.०० रुपये की राशि सिक्योरिटी डिपॉज़िट के रूप में भेजनी होगी जो हमारे पास स्थायी रूप में जमा रहेगी। आर्डर की पुस्तकों की वी० पी० पी० न छुड़ाने की स्थिति में यह रकम जब्त हो जायेगी। यदि कोई सदस्य अपनी सदस्यता समाप्त करके अपना सिक्योरिटी डिपॉज़िट कभी वापस मँगवाना चाहेंगे तो उन्हें यह राशि लौटा दी जायेगी। ३.०० रुपये की यह राशि पुस्तकों के पहले आर्डर की अग्रिम राशि के साथ जोड़कर भी भेजी जा सकती है।

३. आर्डर की पुस्तकें नैट मूल्य की वी० पी० पी० द्वारा अथवा पुस्तकों का मूल्य अग्रिम प्राप्त होने पर रजिस्ट्री से भेजी जाएँगी। बड़ा आर्डर होने पर पुस्तकें रेल पार्सल द्वारा भेजकर बिल्टी आदेशानुसार रजिस्ट्री या वी० पी० पी० से भेज दी जायेगी।

४. आर्डर की वी० पी० पी० छुड़ाना सदस्य का नैतिक कर्तव्य होगा।

५. 'आलोचना पुस्तक-परिवार' के सदस्यों को हिन्दी प्रकाशनों की जानकारी देने के लिए हिन्दी-प्रकाशन-जगत् का सबसे पुराना मासिक पत्र 'प्रकाशन समाचार' निःशुल्क भिजवाया जायेगा।

६. योजना का सदस्य बनकर आप जब चाहें, पुस्तकें मँगा सकेंगे। प्रति मास या नियमित रूप से पुस्तकें मँगाने का कोई बन्धन नहीं होगा। न ही किसी कालावधि में किसी खास रक़म की पुस्तकें मँगाने का प्रतिबन्ध होगा।

७. इस योजना के अन्तर्गत अश्लील या निम्न स्तर की पुस्तकों के आर्डर स्वीकार नहीं किये जायेंगे।

८. दिल्ली में रहने वाले सदस्यों को 'राजकमल प्रकाशन' में आकर स्वयं पुस्तकें खरीदने पर भी १५ प्रतिशत कमीशन की सुविधा मिलती रहेगी।

९. इस योजना के अन्तर्गत पाठ्य-पुस्तकें नहीं भेजी जाएँगी।

यहाँ से काटिये

सदस्यता फार्म

मैं आलोचना पुस्तक-परिवार का/की सदस्य बनना चाहता/चाहती हूँ। फार्म तथा सिक्योरिटी डिपॉज़िट रूप में ३.०० रुपये की राशि भेजी जा रही है। मैं अपने प्रथम आर्डर की अग्रिम राशि के साथ ३.०० रुपये की यह राशि भेज दूंगा/ दूंगी। मेरा नाम व पता सदस्य-योजना में अंकित कर लें तथा मेरी सदस्य संख्या सूचित करें।

मैं आश्वासन देता/देती हूँ कि वी० पी० पी० से पुस्तकें मँगाने पर वी० पी० पी० निश्चित रूप से छुड़ा ली जायेगी।

दिनांक.................. हस्ताक्षर......................

पूरा पता......................

....

पोस्ट......................

(अनावश्यक अंश को काट दें।) निकटतम रेलवे स्टेशन......................

यहाँ से काटिये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRENCE BOOK

आगामी अंक में

- 'विश्वविद्यालय और साहित्य की शिक्षा' पर संवाद जिसमें सर्वश्री रामस्वरूप चतुर्वेदी, रमेश कुंतल मेघ, विश्वनाथ त्रिपाठी, परमानन्द श्रीवास्तव और देवेन्द्र-नाथ शर्मा भाग ले रहे हैं।
- कविता समाज द्वारा प्रदत्त मुक्तिबोध-पुरस्कार संबंधी आयोजन की विशिष्ट सामग्री।
- नवीन प्रकाशनों की समीक्षा।
- कविताएँ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता

एक ऐतिहासिक रूपरेखा

भारत की समृद्ध एवं गौरवपूर्ण संस्कृति को प्राः
राजाओं और पैग़म्बरों की जीवनियों के अप्रामाणि
वृत्तान्तों के आधार पर चित्रित किया जाता र
है। प्रसिद्ध लेखक डी० डी० कोसाम्बी ने **प्राची
भारत की संस्कृति और सभ्यता** को प्रामाणि
ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर सही-सही प्रस्तु
करने का स्तुत्य कार्य किया है। पुस्तक को एक संद
ग्रन्थ का रूप देने के लिए उन्होंने बड़े परिश्रम औ
अध्यवसाय से दुर्लभ चित्र भी जुटाये हैं। छः मान
चित्र, आर्ट पेपर पर मुद्रित ६८ छायाचित्र और १
रेखाचित्र पुस्तक का महत्त्व द्विगुणित करते हैं
विश्वप्रसिद्ध पुस्तक का हिन्दी में पहला अनुवा
श्री नेमिचन्द्र जैन ने किया है। रायल आठपेजं
आकार में लगभग ३०० पृष्ठ।

मूल्य : २५.०

राजकमल

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६ पटना-६

श्रीमती शीला सन्धू, मैनेजिंग डायरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०,
८, फ़ैज बाजार, दिल्ली के लिए नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रैमासिक

आलोचना

सम्पादक : नामवर सिंह

PR
दि 37 आ
९६९६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हरिद्वार

आलोचना त्रैमासिक
सम्पादक : नामवर सिंह • प्रबन्ध सम्पादिका : शीला सन्धू

इस अंक में

लेनिन : एक साहित्यिक सिद्धान्तकार के रूप में
स्तेफान मोरावस्की १

चार कविताएँ
व्यक्तिगत विरोध-पत्र
विष्णुचन्द्र शर्मा १७

भारतीय काव्यशास्त्र की नई व्याख्या
राममूर्ति त्रिपाठी १९

कवि कर्म : सौन्दर्य का उत्स
विजेन्द्रनारायण सिंह २६

चौराहे पर ग्रीनविच का एकालाप
श्रीराम वर्मा ३८

'चिति की लीला में प्रतीक का प्रकार्य'
रमेशकुंतल मेघ ४०

एक चीज के लिए
विष्णु खरे ५४

• पुनर्मूल्यांकन
स्वच्छन्दतावादी समीक्षक नन्ददुलारे वाजपेयी
विष्णुकान्त शास्त्री ५६

...च (लीलाधर जगूड़ी के लिए)
नीलाभ ७०

परिवेश : संस्कार और संवेदना
(हिन्दी कहानी के सन्दर्भ में)
रमेशचन्द्र शाह ७३

• प्रासंगिकी
युवा-कविता की भाषा
प्रभातकुमार त्रिपाठी ७९

• मूल्यांकन
नयी कविता : शोधक, बोधक, अवरोधक ?
प्रेमकान्त टण्डन ८३

हिन्दुस्तान की कहानी : शव यात्रा
विष्णुचन्द्र शर्मा ९०

देह की ढाल : 'रेडीमेड' माल
विष्णुचन्द्र शर्मा ९३

समय कम, बेचैनी ज्यादा, या
एक छोटे 'रचना संसार' का अंत
विष्णुचन्द्र शर्मा ९...

कोरी बातों का सिलसिला
विष्णुचन्द्र शर्मा १०...

...वांक १०, (पूर्णांक ४७) जुलाई-सितम्बर १९६९, मूल्य ३.००
...धारण डाक द्वारा १२.००—रजिस्टर्ड डाक द्वारा १५.००
विदेशों में—१६.००
...पत्र संख्या डी० ई० बी/८/एस० ई० लायब्रेरी/मैग०/१९६७-६८
...समाज शिक्षा, राजस्थान के पत्रांक पु० प्र०/१/एफ/११-६८/
...लों के पुस्तकालयों और वाचनालयों के लिए स्वीकृत

पुस्तकालय, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेनिन : एक साहित्यिक सिद्धांतकार के रूप में

स्तेफान मोराव्स्की

साहित्य के सम्बन्ध में लेनिन के वक्तव्यों का कोई शास्त्र नहीं है। हम जानते हैं कि लेनिन कोई सौंदर्यशास्त्री नहीं थे, तथा यह भी, कि वह कभी भी साहित्यिक सिद्धांत और आलोचना से ज्यादा समय तक सम्बद्ध नहीं रहे। लेकिन **मार्क्स** की भाँति वह भी साहित्य और कला में बहुत रुचि रखते थे। लूनाचार्स्की के संस्मरणों में यह एक प्रातिनिधिक घटना दर्ज है। सन् १९०५ में एक रात एक सहयोगी के घर लेनिन ने कला के इतिहास की कुछ लोकप्रिय पुस्तकें उठा लीं। दूसरे दिन सुबह उन्होंने लूनाचार्स्की से कहा कि वह सारी रात उन पुस्तकों को पढ़ते हुए जागते रहे हैं, और निःश्वास लेते हुए कहा : "एक मार्क्सवादी के लिए यह कितना अद्‌भुत क्षेत्र है ! अफ़सोस, मैं कभी इसमें लग नहीं सकूंगा।"

लेनिन सौंदर्यशास्त्री नहीं थे, लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि कोई लेनिनवादी सौंदर्यशास्त्र ही नहीं है। उनकी दार्शनिक कृतियों में सुव्यवस्थित निर्देश मौजूद हैं, जिनके आधार पर स्पष्टतः ही एक लेनिनवादी सौंदर्यशास्त्र की रचना की जा सकती है; और इस दिशा में एकाधिक बार प्रयत्न हो चुके हैं।[१]

यहाँ हमारा उद्देश्य दर्शन तथा अन्य विषयों पर लेनिन के लेखों के आधार पर निर्मित हो सकने वाले उसके सौंदर्यशास्त्र के स्वरूप का विवेचन करना नहीं है। लेनिन ने साहित्य और कला पर सीधे-सीधे जो लिखा है, हम स्वयं को वहीं तक सीमित रखेंगे। ये कथन तीन श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं। प्रथमतः, किसी कृतिकार या कुछ कृतियों के बारे में उनकी सैद्धांतिक और समीक्षात्मक टिप्पणियाँ; फिर, उनकी सौंदर्यपरक रुचियाँ, जो उन्होंने अन्य सवालों के संदर्भ में समय-समय पर अभिव्यक्त कीं, और जो नियमतः उनके सामाजिक परिणामों से जुड़ी थीं; तीसरे, सांस्कृतिक नीति के क्षेत्र में उनके निर्देश, जो अपने जीवन के अंतिम वर्षों में उन्होंने दिये, जोकि शिक्षा तथा संस्कृति के प्रचार-प्रसार की समस्याओं से जुड़े हैं।

अन्य दो श्रेणियों की तुलना में उसकी सौंदर्यपरक रुचियों का प्रश्न आनुषंगिक है, और इसके बावजूद उनके विवेचन के लिए अत्यावश्यक भी है। हकीकत यह है कि वे रुचियाँ सीमित थीं। उन्होंने मुख्य रूप से रूसी कृतियों को आधार बनाकर, यथार्थवादी साहित्य, उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध की अतियथार्थवादी कला और भावनावादी संगीत को पहला स्थान दिया। फिर भी, सांस्कृतिक नीति के क्षेत्र में उन्होंने व्यक्तिगत रुचियों को कभी भी निदेशक-सिद्धांत नहीं बनाया। उन्होंने कुछ खास कृतियों और कृतिकारों को चुना, इससे ही एक खास सीमा तक साहित्यिक आलोचना पर उनकी टिप्पणियों के क्षेत्र और स्वरूप पर उन रुचियों का प्रभाव देखा जा सकता है; लेकिन उनका चुनाव मूलतः तात्कालिक राजनीतिक प्रश्नों के कारण होता था।

सामग्री की बहुलता और प्रश्नों की जटिल प्रकृति के कारण, आधुनिक कला और सांस्कृतिक नीति के निर्देशों की समस्याओं का विशेष विश्लेषण जरूरी हो जाता है। हम मुख्यतः १९०५-१९११ की अवधि से प्रारंभ हुई आलोचना तथा सिद्धांत पर लेनिन की टिप्पणियों का—मसलन उनकी तोल्स्तोय की समीक्षा और उनका लेख 'पार्टी संगठन और पार्टी साहित्य के बारे में'—विवेचन करेंगे।[२] आगे चलकर १९१४, १९१६, [illegible] के उनके कुछ कथनों का हवाला देना और उनका उपयोग करना आवश्यक होगा, जोकि पूर्ववर्ती अवधि की सामग्री के महत्त्वपूर्ण पूरक हैं। तोल्स्तोय

स्तेफान मोराव्स्की पोलैंड के वारसा विश्वविद्यालय में प्राध्यापक हैं।

पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED
सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK
CHECKED 1973
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से सम्बन्धित टिप्पणियाँ १९०८-११ में लिखी गई थीं। ये कुल छह हैं, जो **प्रोलेतारी** और **सोत्सिअलदेमोक्रात** से लेकर **ज्वेज्दा** तक विभिन्न पार्टी-पत्रों में प्रकाशित हुई थीं। 'पार्टी संगठन और पार्टी साहित्य के बारे में' नामक लेख १९०५ के अंतिम भाग में पार्टी-पत्र **नोवाया झिज्न** में प्रकाशित हुआ था। उनका विवेचन करने से पूर्व यह ज़ोर देकर कहना जरूरी है कि मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र में एक खास अनैरंतर्य है; इसकी विकास-धारा लगातार टूटती रही है और इसकी मूलभूत प्रस्थापनाएँ ज़रूरत पड़ने पर दूसरी या तीसरी बार नये सिरे से निरूपित की गयी हैं। उदाहरणार्थ, लेनिन को कला और साहित्य पर मार्क्स तथा एंगेल्स के कथनों का सम्पूर्ण संकलन उपलब्ध नहीं था। इस तरह का पहला ग्रंथ १९३७ में सोवियत संघ में प्रकाशित हुआ, जिसका संपादन **लिफशित्स** ने किया था। यदि लेनिन तद्वत निष्कर्षों पर पहुँचे थे, तो उसका श्रेय मार्क्सवादी पद्धति को है जिसने उस दिशा में उन्हें अग्रसर किया।

अब हम तोल्स्तोय के सम्बन्ध में लेनिन के लेखों पर विचार करेंगे. परंतु **लेनिन** की उपलब्धियों को समझने के लिए हमें पहले मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र के क्षेत्र में लेनिन-पूर्व प्रयत्नों से आरंभ करके, उसकी ऐतिहासिक पीठिका पर ग़ौर करना होगा। इस सौंदर्यशास्त्र के अनेक मूल थे, जिनके बीज सत्रहवीं सदी में खोजे जा सकते हैं। इसके स्रोतों में से एक है **विको**, **विंकेलमान** एवं **हर्डर** से आरंभ होने वाले और **हेगेल** की कृतियों में समापित ऐतिहासिकतावाद के विश्लेषण तथा प्रातिनिधिक, वैयक्तिक एवं सर्वसामान्य की मीमांसा, जोकि **बाउमगार्टन** से लेकर **हेगेल** तथा उसके अनुयायियों के शास्त्रीय सौंदर्यशास्त्र में प्राप्त होती है। एक अन्य स्रोत मुख्यतः उन्नीसवीं सदी के प्रथम तीस वर्षों में विकसित **उपयोगी कला और सौंदर्यशास्त्रीय चिंतन के जनतंत्रीकरण** की धारणाएँ, तथा कला-कृति (मुख्यतः साहित्यिक) के सामाजिक दायित्व पर—अर्थात्, **दिदेरो** और **र्मासिए** से लेकर 'डॉक्ट्रिनेयर्स' (सिद्धांतवादियों) के स्कूल तक जानेवाली फ्रांसीसी परंपरा के विचार भी हैं।

यह एक चौंकानेवाला तथ्य है कि एक खास सीमा तक मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र ने उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध की इन मूल समस्याओं को आत्मसात किया जोकि कला की अनेक-पक्षीय व्याख्या—उत्पत्तिमूलक, अनुकरणमूलक और वृत्तिमूलक—का प्रतिपादन करती है।

उत्पत्तिमूलक—यह सुनिश्चित ऐतिहासिक कारणों और परिस्थितियों के सन्दर्भ में कलाकृति की व्याख्या करती है;

अनुकरणमूलक—यह कला-कृति के **ज्ञानात्मक मूल्य** पर विचार करती है;

वृत्तिमूलक—कला-कृतियों को जिस ढंग से देखा जाता है, किस सामाजिक वर्ग (समूह) के लिए वह उपादेय है, यह विधि इसका विवेचन करती है। मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन का मूल विश्लेषण एक समाजशास्त्रीय अध्ययन है—यह इस अर्थ में कि इसमें ज़ोर कला कृति की वर्गीय (विचारधारात्मक) व्याख्या पर दिया जाता है; निस्संदेह निष्कर्ष भिन्न होते हैं। और आगे मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के निदेशक सिद्धान्तों के अनुसार, इस समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण में ही किसी कला-कृति के विश्लेषण की इति नहीं हो जाती।

किसी कृति के वर्ग-चरित्र की उद्घोषणा बहुत आसान दिखायी पड़ती है, लेकिन वास्तविक पड़ताल से ज्ञात होता है कि यह बहुत ही जटिल और प्रायः विवादास्पद व्याख्या में उलझा देती है। यदि यह घोषित किया जाता है कि क या ख की कला-कृति एक खास वर्ग की है, तो आमतौर पर इसका मतलब यह लगाया जाता है कि लेखक ठीक उसी वर्ग का (सचेत या अचेतन) प्रतिनिधि है। लेकिन हमें इसकी जांच करनी चाहिए कि यह कैसे होता है; हमें यह दिखलाना पड़ेगा कि यह तथ्य कि कोई कलाकार एक खास वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। ऐसा हमेशा ही होता है या केवल कभी-कभी। ऐसे तथ्य निश्चय ही मौजूद हैं। ठोस उदाहरणों पर आधारित अनेक विश्लेषणों में **मार्क्स** और **एंगेल्स** ने यह प्रदर्शित किया है कि कोई कलाकार किसी सामाजिक वर्ग से जुड़ा होता है, और यह भी, कि किस तरह। लेकिन इस विषय के और अधिक विश्लेषण से शीघ्र ही ज्ञात हो गया कि इस तरह का सीधा-सादा वृत्तिमूलक अवलम्ब हमेशा ही मौजूद नहीं होता। मसलन्, **लेसिंग**, **दिदेरो** और **होगार्थ** इसका समर्थन करते हैं, लेकिन, मिसाल के लिए, **स्टर्न** और **वॉत्तो** के साथ स्थिति भिन्न है। पूर्वोक्त व्यक्ति निम्न पूँजीपति वर्ग से आये थे और उसी वर्ग के थे, और अपनी कृतियों में उन्होंने उसका सीधे-सीधे प्रतिनिधित्व किया, लेकिन बाद वाले (स्टर्न, वॉत्तो) उनकी वर्गीय उत्पत्ति से अनुशासित नहीं थे, और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनकी विचारधारात्मक प्रतिबद्धताओं का मामला कुछ जटिल था। मार्क्सवादी दृष्टि में, किसी वर्ग में पैदा होना मात्र एक कामचलाऊ संकेत है। मुख्य तत्त्व सर्जक की विचारधारात्मक मुद्रा है। जल्दी ही यह पता लग गया कि इस विषय के विश्लेषण में दूरदर्शिता ज़रूरी हैं। मार्क्स की 'अठारहवीं ब्रूमेर' में हमें एक प्रस्थापना मिलती है जो समाजशास्त्रीय विश्लेषण में नये क्षितिज उजागर करती है। 'दूकानदारों' और उनके साहित्यिक प्रतिनिधियों पर लिखित वह सुविख्यात अनुच्छेद है। दूकानदारों के साहित्यिक प्रतिनिधियों की सामाजिक स्थिति भिन्न होती है और वे अपनी शिक्षा के कारण दूकानदारों से अलग जा पड़ते हैं, लेकिन फिर भी उनके विचारों में एक खास समान्तरता होती है। लेखक मात्र अपने निजी वर्ग या सामाजिक समुदाय का सम्पूर्णतः 'प्रतिनिधित्व' (अर्थात्, दुनिया को देखने, महसूस करने और समझने के तरीके को अभिव्यक्त) नहीं करता। उसकी उत्पत्ति किसी एक वर्ग में हो सकती है और विचारधारात्मक रूप से वह किसी अन्य वर्ग के निकट हो सकता है : वह वर्ग उससे सम्बद्ध या उसका शत्रु भी हो सकता है। यहाँ तक कि वह एकाधिक वर्ग की विचारधारा भी अभिव्यक्त कर सकता है, जैसा कि अक्सर ही हुआ है, और इस तरह दुनिया तथा अपने चारों तरफ के परिवेश के परिचायक अन्तर्विरोधों के बारे में खुद अपनी दृष्टि की अस्पष्टता को व्यक्त कर सकता है।

एक अन्य शास्त्रीय व्याख्या की पद्धति है जो बतलाती है कि कलाकार द्वारा एक वर्ग का प्रतिनिधित्व करने की अभिधात्मक प्रस्थापना अनेक सम्भावनाओं में से केवल एक होती है : यहाँ हम गेटे के बारे में एंगेल्स के वक्तव्यों का हवाला दे रहे हैं। गेटे के आंतरिक अन्तर्विरोध, अर्थात् उसकी संस्कारहीनता (फिलिस्तीनिज़्म) और उसका भव्य रवैया (जैसा कि शिलर के साथ था—दुनिया से पलायन के साथ-साथ क्रांतिवादिता) न केवल स्वयं उसका बल्कि उसके ऐतिहासिक युग का भी परिचय देते हैं। एंगेल्स की व्याख्या के अनुसार, गेटे अपने समय के जर्मनी के अन्तर्विरोधों का प्रतिनिधित्व करता है। लेकिन एक समूचे समाज के अन्तर्विरोध साहित्यिक कृतियों के विश्लेषण के जरिये व्याख्यायित किये जा सकते हैं, न-कि केवल कलाकार की जीवनी या केवल उसकी विचारधारा के विश्लेषण से। यह ध्यान रखना जरूरी है कि कलाकार, जिनका अपनी सैद्धान्तिक स्थिति के सम्बन्ध में पूर्णतः जागरूक मिलना दुर्लभ होता है लेकिन जो अधिकांशतः मनोसमाजशास्त्रीय घटनाओं (मिथकों, निषेधों, आम जज़बात, अधबनी सामाजिक प्रवृत्तियों, नैतिक प्रश्नाकुलता आदि) के प्रति प्रखर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं, खुद अपने पेशे की प्रकृति के द्वारा ही 'एक वर्गीय' दृष्टिकोण से परे जाते रहे हैं। एक उदाहरण रोमांटिकों का है जो अपने समय के समाज की समूची दुनिया के खिलाफ थे। उन्होंने सरकारी, पूँजीवादी कला के वकीलों और रिपब्लिकन-समाजवादी विद्रोही कला के समर्थकों, दोनों को ही लताड़ा। ए० कैसेग्ने ने अपनी पुस्तक 'ला थेओरी द ल' आर्त पोर ल' आर्त एन फ्रांस' (१९०५, भाग १) में उनकी ऐतिहासिक और सैद्धान्तिक दिलेरियों का एक बढ़िया चित्र पेश किया है, और उनके दृष्टिकोणों से 'कला के लिए कला' की परवर्ती धारणा निकाली है। कुछ ही समय बाद प्लेखानोव ने ('कला तथा सामाजिक जीवन', १९१२, खंड १ और २ में) बतलाया कि रोमांटिकों की 'उच्च-वर्गीय' मुद्रा बहुत हद तक भ्रामक ही थी।

समाजशास्त्रीय विश्लेषण का एक और पहलू एंगेल्स कृत बाल्ज़ाक के विश्लेषण से प्रकट हुआ, जो उसने १८८५ में मिन्ना काउत्स्की को एक पत्र में लिखा था। बाल्ज़ाक की सहानुभूति सामंतवाद के साथ थी, फिर भी उसने 'ह्यूमन कामेडी' में जो कुछ प्रस्तुत किया, वह थी पूंजीपति वर्ग की अपरिहार्य विजय। एंगेल्स का कहना है कि बाल्ज़ाक का उदाहरण उन दो वस्तुओं के बीच आंतरिक संघर्ष को प्रदर्शित करता है जिन्हें कृति का वस्तुपरक सत्य अर्थात् उसका कलात्मक-ज्ञानात्मक सार, और लेखक का दर्शन कहा जा सकता है। ग़ौर करें कि मार्क्स और एंगेल्स के वक्तव्यों में उनके द्वारा समानार्थक रूप में प्रयुक्त दो शब्दों के दो अर्थों को अलग-अलग पहचाना जाना चाहिए—'विश्व-दृष्टि' और 'विचारधारा'। एक मान्यता के अनुसार, विश्व दृष्टि किसी साहित्यिक कृति में स्पष्ट रूप से कथित धारणाओं या निर्णयों (लेखक द्वारा टिप्पणी, किसी भी रूप में) की प्रणाली है। दूसरे अर्थ में यह कृति में निहित कलात्मक निर्णयों का एक पूरा सेट है, या एक ज्ञानात्मक साधारणीकरण है जो प्रस्तुत संघर्षों, चरित्रों, विषय-वस्तु इत्यादि से प्राप्त होता है। हमारा आशय कृति के भिन्न-भिन्न रूप में ग्रहण किये जाने से सम्बद्ध दार्शनिक प्रभावों से, प्रश्नाधीन कृति के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दायित्व से नहीं, बल्कि उससे है जिसे कृति का वस्तुपरक संदेश कहा जाता है। अन्तिम धारणा से, जो काफ़ी कुछ अस्पष्ट है, आशय है कृति की स्वयं संरचना द्वारा प्रस्तुत विश्व-दृश्य, अर्थात्, विषय-वस्तु का विन्यास, कथ्यों और चरित्रों की श्रेणीबद्धता, समूचे (कृतित्व) का फल आदि। स्पष्टतः ही, विभिन्न कृतियाँ अलग-अलग मात्रा में अ-द्वयार्थक (या विसंयुज) होती हैं,[3] अधिक विसंयुजता होने पर वे परस्पर-विरोधी दिशाओं में भी दार्शनिक प्रभाव डालने में समर्थ हो जाती हैं। बहरहाल, यह तथ्य उस 'वस्तुपरक संदेश' के अस्तित्व को नहीं नकारता जिसका अध्ययन और विश्लेषण किया जाना है। उससे भी अधिक, यही एकमात्र प्रभावशाली कार्यविधि है। तदनुसार, 'विश्व-दृष्टि' के उपर्युक्त दो अर्थों में से, बाद वाला अर्थ सौन्दर्यशास्त्रीय विश्लेषण के लिए परमावश्यक है। यह विधि जिन घटकों पर ध्यान देती है, उनमें यह तथ्य भी शामिल है कि कलाकार अक्सर ही अन्तर-वर्गीय संघर्षों को (अर्थात्, वास्तविक अन्तर्विरोधों को, जैसे कि वे किसी एक ऐतिहासिक युग में दिखाई पड़ते हैं) सीधे किसी एक वर्ग की स्थिति से चित्रित नहीं करता, बल्कि किसी तरह से 'उसके भीतर से' चित्रित करता है। भीतर से—यानी एक संवेदनशील, बुद्धिमान और विवेकयुक्त पर्यवेक्षक की स्थिति से उस पर प्रतिस्पर्धा की उत्तेजना की अपेक्षा तथ्यों का निर्णायक प्रभाव अधिक होता है। तथ्य ही उस पर कोई पक्ष लादते हैं, और अन्ततः, वर्ग-नियमित दिशामान भी।

इसलिए मार्क्स और एंगेल्स के विश्लेषण में उत्पत्ति-मूलक पक्ष के अलावा अनुकरण मूलक पक्ष भी आता है, अर्थात् एक कृति यथार्थ को जिस ढंग से प्रतिबिम्बित करती है उसकी पड़ताल—वह प्रस्तुत व्यक्तित्व और प्रस्तुत समाज की लाक्षणिक विशेषताओं को चित्रित करती है, या विरूप करती है या उन विशेषताओं को यूँ ही नज़र-अंदाज़ कर देती है।

मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र के दूसरे चरण में, जो कि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध की समाजशास्त्रीय धारणाओं के समान्तर चल रहा था, इसके प्रमुख प्रतिनिधि **मेहरिंग** तथा **प्लेखानोव** ने साहित्यिक कृति के विश्लेषण को संकुचित और सरलीकृत कर दिया। मसलन, प्लेखानोव ने इसे सामाजिक-जीवनीपरक व्याख्या तक सीमित कर दिया; अर्थात् उसने प्रश्न किया कि सम्बद्ध लेखक किस वर्ग का है तथा वह कौन-सी राजनीतिक विचारधारा प्रदर्शित करता है। **मेहरिंग** ने 'दि वीवर्स' (बुनकर) के लेखक **हाप्टमैन** के साथ एक बहस में मूलतः यही व्याख्या-विधि अपनायी। अर्थात्, उसने कृति का मूल्य उसके ज्ञानात्मक-कलात्मक मूल्य से नहीं, बल्कि लेखक की राजनीतिक विचारधारा से आँका।[4]

एक भिन्न किन्तु उतने ही सरलीकृत ढंग से **प्लेखानोव** ने **लेव तोल्स्तोय** की व्याख्या की है। उसके अनुसार, तोल्स्तोय अपनी सभी कृतियों में हमेशा तथा हर जगह एक 'काउंट' है। लेकिन, प्लेखानोव आगे जोड़ता है, कि, मज़दूर वर्ग उसकी कृतियों को उसके नैतिकतावादी दृष्टिकोण के कारण पसंद करता है। उसने बेशक तोल्स्तोय की कलात्मक प्रतिभा को मान्यता दी, लेकिन उसके विश्लेषण का आरम्भ-बिन्दु, आधार तथा मुख्य निष्कर्ष तोल्स्तोय के संकीर्ण विचार थे, जिन्हें उसने तोल्स्तोय के जन्म तथा उसकी वर्गीय-स्थिति से जोड़कर व्याख्यायित किया।[5]

लेनिन प्लेखानोव के लेखों से वाकिफ़ थे, और उन्हें स्वीकार करते थे, जैसा कि ३ जनवरी, १९११ को गोर्की को लिखे उनके पत्र से ज्ञात होता है। लेकिन यह पूछा जाना चाहिये कि वह क्या था जिससे वह सहमत थे। वस्तुतः, लेनिन का विश्लेषण मूलतः प्लेखानोव की धारणा का प्रतिवाद था। लेनिन इस राय से सहमत थे कि तोल्स्तोय का कृतित्व कलाकार और चिंतक के बीच का अन्तर्विरोध व्यक्त करता है और उन्होंने 'तोल्स्तोयवाद' पर हमला उचित माना जिसे वह मार्क्सवाद की प्रतिद्वंद्वी विचारधारा के रूप में देखते थे। लेकिन उन्होंने समस्या को प्लेखानोव से भिन्न तरीके से निरूपित किया। उनके विवेचन में जाने से पूर्व हम उस समय दी गयी कुछ अन्य व्याख्याओं पर विचार करेंगे जिन पर लेनिन ने तत्काल अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की थी। **आस्तापोवो** स्टेशन पर तोल्स्तोय की नाटकीय मृत्यु के बाद सभी अखबारों ने उसके दर्शन पर बहस करना शुरू कर दिया। सरकारी मुखपत्रों (रूस्कोइ ज़नाम्या, नोवोइ व्रेम्या, रेच), जिन्होंने उसकी कृति 'पुनरुद्धार' पर १९०१ में उसके सामाजिक बहिष्कार पर प्रशंसा के वर्षों के बाद, एक यह खोज निकाला कि तोल्स्तोय एक महान् ईश्वर अन्वेषी, अपने युग की अन्तरात्मा था, उन्होंने भी इस विषय की चर्चा छेड़ दी। जहाँ इन 'काले सौ' या 'कादेत' पत्रों ने स्वयं को मामूली बातों तक सीमित रखा, वहीं मेन्शेविक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्मूलकों के मुखपत्र **'नाशा-ज़ार्या'** में नेव्यादोम्स्की और बज़ारोव के लेखों ने एक ओर तो कहा कि तोल्स्तोय के विचार निर्बल रूसी बुद्धिजीवी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं, और दूसरी ओर यह कि उसकी विश्व-दृष्टि एक महान् एकाश्म, एक महान् दार्शनिक संश्लेषण है, जो बुराई के अप्रतिरोध की धारणा पर आधारित है। इस सिलसिले में यह ग़ौर करने लायक है कि उक्त सभी व्याख्याएँ तोल्स्तोय के सैद्धान्तिक उपदेशों को ही उठाती हैं, न कि उसके कृतित्व के कलात्मक-ज्ञानात्मक मूल्य को।

प्लेखानोव ने उसका जो समतुल्य प्रस्तुत किया वह था सामाजिक-जीवनीपरक, जबकि उपर्युक्त लेखकों ने निम्नलिखित विकल्प सुझाये थे : समाजशास्त्रीय (लेकिन जिसमें ग्रामीण अभिजात वर्ग का स्थान बुद्धिजीवी वर्ग ले लेता है) और दार्शनिक-धार्मिक-नैतिक। इनमें से प्रथम व्याख्या, जैसा कि प्लेखानोव की व्याख्या में भी है, तोल्स्तोय के दर्शन को कम-से-कम एक सुनिश्चित वर्ग या सामाजिक-समूह से जोड़ती थी। बज़ारोव ने तोल्स्तोय के 'बेतरतीब फैल रहे' बुद्धिजीवी वर्ग की अंतरात्मा होने की प्रस्थापना पेश की तथा इस प्रस्थापना का इस्तेमाल उसने तोल्स्तोय को समूची मानवता की अंतरात्मा के मनीषी के रूप में सिद्ध करने के लिए अपने कुछ वायवीय विचारों के आरंभिक आधार के रूप में किया। इस तरह, दर्शन और नीतिशास्त्र तक सीमित इस व्याख्या में एक क़िस्म का आदर्शवाद था, कुछ वैसा ही जैसा कि Literaturgeschichte ats Geistesgeschichte स्कूल में पाया जाता है।

लेनिन ने आदर्शवादी अवधारणा और भौतिकवादी सिद्धांतों पर आधारित अतिसरलीकृत व्याख्या, दोनों का ही खण्डन किया। उनकी टिप्पणियों से **विधिवत शास्त्र** (methodological polemic) स्पष्टतः नहीं उभरता, लेकिन उसका निर्गमन संभव है। इससे भी अधिक स्पष्ट वे राजनीतिक उद्देश्य हैं, जिन्होंने लेनिन को इस विषय पर बोलने के लिए प्रेरित किया।

नवंबर १९१० में सेंट पीटर्सबर्ग की सड़कों पर मज़दूरों और विद्यार्थियों ने ज़ारशाही के विरुद्ध, तोल्स्तोय की स्मृति के सम्मान में, प्रदर्शन किया।[६] लेनिन ने प्रमाणस्वरूप इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाया कि तोल्स्तोय की समस्या को एक बहुत ही प्लानीविक समस्या के रूप में लिया जाता था तथा लिया जाता है। विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकट की गयी रायों की तुलना मात्र से ज़ाहिर हो गया कि तोल्स्तोय की पृष्ठभूमि में (या उसके माध्यम से), अंतर्विरोधी सैद्धांतिक अवधारणाओं के साथ-साथ, परस्पर-विरोधी राजनीतिक दृष्टिकोण टकरा रहे थे।

लेनिन ने एक अवधारणा प्रस्तुत की, जिसे मार्क्स के दृष्टिकोण की ओर लौटने का प्रयास कहा जा सकता है। सर्वप्रथम, उन्होंने तोल्स्तोय को कृषक अवाम का प्रतिनिधि माना (और यह एक प्रतिभा का कौशल था)। उन्होंने आरंभ इस प्रस्थापना से किया कि इस महान् लेखक की कृतियाँ **गुलामों के जागरण** (Emancipation of the serfs) के बाद १८६१-१९०४ की अवधि में, लेकिन १९०५ की क्रांति से पूर्व, जिसका अग्रणी सर्वहारा वर्ग था, रूस में हुई पूंजीवादी क्रांति की प्रतिच्छाया थीं। इस अवधि में रूस अपनी 'प्रसव वेदना' में से गुज़रा और एक आधुनिक राज्य बना। उस ज़माने के समाज का आधारभूत अवाम—कृषक वर्ग—सरकार, चर्च और 'प्राथमिक संग्रह' की प्रक्रिया के खिलाफ़ बलवा कर रहा था। यह विरोध एक ही साथ पीड़ा और निराशा का इज़हार था। कृषक वर्ग अपने समय की स्थितियों से निपट सकने में अक्षम था; संक्रमण की समस्त यंत्रणाओं से तीक्ष्ण रूप में अवगत यह वर्ग कोई रचनात्मक मार्ग नहीं ढूँढ़ पा रहा था। अधिक-से-अधिक, पुरानी पितृसत्तात्मक व्यवस्था के लिए पश्चात्ताप था, या किसी ऐसे नये धर्म के स्वप्न, जो इस धरती पर सार्वभौमिक न्याय की सृष्टि कर दे। अपनी कृतियों में तोल्स्तोय ने रूसी कृषक-वर्ग में छिपे इन अंतर्विरोधों को प्रकट किया। सितम्बर १९०८ में, 'रूसी क्रान्ति के एक दर्पण के रूप में तोल्स्तोय' शीर्षक लेख में लेनिन ने कहा :

एक ओर, एक प्रतिभाशाली कलाकार, न केवल रूसी जीवन के अप्रतिम चित्रों का बल्कि विश्व-साहित्य में प्रथम श्रेणी की कृतियों का सर्जक। दूसरी ओर, ईसा के लिए पागल एक बड़ा भूस्वामी। एक ओर, सामाजिक आडम्बर और झूठ के विरुद्ध भव्य, सशक्त, तात्कालिक और दो-टूक विरोध; दूसरी ओर 'तोल्स्तोयी' अर्थात्, रूसी बुद्धिजीवी के नाम से विख्यात जीर्ण-शीर्ण, उन्माद-ग्रस्त मिथ्या-विलापी, जो अपनी छाती पीटता है और सबको दिखाता फिरता है : "मैं तुच्छ हूँ, मैं घृणास्पद हूँ, लेकिन मैं नैतिक आत्मोत्थान में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगा हूँ, मैं मांस नहीं खाता और मैं सिर्फ कढ़ी-भात पर जिन्दा हूँ।" एक ओर, पूंजीवादी शोषण की निर्मम आलोचना, शासन की हिंसा का मुखौटा उघाड़ना, सरकारी न्याय और प्रशासन का मखौल, संपत्ति की वृद्धि एवं सभ्यता की उपलब्धियों और ग़रीबी की वृद्धि, बर्बरता एवं मज़दूरों के विशाल समुदाय की पीड़ा के बीच के अंतर्विरोध का अतलगामी अनावरण, दूसरी ओर—'बुराई के अप्रतिरोध' की पागलपनभरी कट्टर चीत्कार। एक ओर, गंभीरतम यथार्थवाद, हर एक मुखौटे को फाड़ना; दूसरी ओर दुनिया की निकृष्टतम वस्तुओं में एक—धर्म—का प्रचार।[७]

बाद में लेनिन ने इन अंतर्विरोधों की व्याख्या की: "तोल्स्तोय की महानता उन विचारों और दृष्टिकोणों को अभिव्यक्त करने में है, जो रूस में पूंजीवादी क्रान्ति के विकास के समय रूसी कृषक समुदाय के लाखों लोगों के मस्तिष्कों में बने। तोल्स्तोय इस मानी में मौलिक है कि उसके विचार, सम्पूर्णतः देखने पर, हमारी क्रांति के अत्यन्त विशिष्ट चरित्र को एक कृषक पूंजीवादी क्रांति के रूप में व्यक्त करते हैं। इस दृष्टिकोण से, तोल्स्तोय के विचारों में निहित अंतर्विरोध उन परस्पर-विरोधी परिस्थितियों के ठीक-ठीक प्रतिबिम्ब हैं, जिनके अंतर्गत हमारी क्रांति में कृषक-वर्ग का ऐतिहासिक संघर्ष सम्पन्न हुआ।[८]

प्रथम तीन लेखों में जिनमें, लेनिन ने इन अन्तर्विरोधों की चर्चा की है, उन्होंने इस तथ्य पर ज़ोर दिया कि ये अन्तर्विरोध तोल्स्तोय की विचार-पद्धति और स्वयं उसकी कृतियों की संरचना (अर्थात् उनकी कलात्मक-ज्ञानात्मक वस्तु) दोनों में ही मौजूद थे। इस तरह वह प्लेखानोव से आगे गए। प्लेखानोव ने **नताशा रोस्तोव, प्योत्र बेज़ुखोव** या **कांस्तांती लेविन** के विचारों को, कहानियों में प्रस्तुत परिवेश से जोड़े बिना ही, लेखक के विचारों के रूप में व्याख्यायित कर दिया था। लेनिन ने तोल्स्तोय की कृतियों में प्रस्तुत कृषक-वर्ग और इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया कि लेखक ने यदा-कदा अभिजात पात्रों के मुँह से कोई विचार कहलवाने के बावजूद 'भोले किसान' की स्थिति अख्तियार की थी और अपनी आलोचना में उनका मनोविज्ञान अभिव्यक्त किया था।

यह एक सूक्ष्म विश्लेषण था। तोल्स्तोय की कृतियों जैसी महान् कृतियों के मामले में कलाकार को केवल अपने ही वर्ग के (या उसके हितों को अभिव्यक्त करने वाले) प्रतिनिधि के रूप में नहीं लिया जा सकता। तोल्स्तोय अपने समय की समूची सच्चाई का उसके आन्तरिक अन्तर्विरोधों को उजागर करते हुए प्रतिनिधित्व करते हैं।

इस प्रकार, अनुकरणमूलक दृष्टिकोण से किया गया विश्लेषण संकुचित परिकल्पना वाले उत्पत्तिमूलक विश्लेषण पर हावी रहता है। ज्ञान-शास्त्रीय समतुल्य (ज़ाहिर है कि साहित्यिक ज्ञान वैज्ञानिक ज्ञान से भिन्न होता है) समाजशास्त्रीय समतुल्य पर छाया रहता है। कृति की 'विश्व-दृष्टि' की व्याख्या का निर्णायक घटक उसकी अन्तर्निहित वस्तु है, न कि लेखक की 'निरी' विचारधारा जो अक्सर ही सीधे उसके वर्गीय मूल से उत्पन्न होती है। यह विधि प्रकटतः ही कृति के वर्ग-मूल के सवाल का परित्याग नहीं करती। उत्पत्तिमूलक और अनुकरणमूलक विश्लेषण परस्पर घनिष्ठ रूप से गुंथे होते हैं। तोल्स्तोय पर लेनिन की टिप्पणियों के मामले में यह बिल्कुल प्रत्यक्ष है। उसका वर्गीय दृष्टिकोण लेखक तथा कृषक समुदायों के विचारों के बीच समान्तरता के माध्यम से ही प्रकट होता है। लूनाचार्स्की अपने विवेचन में, जिसका ऊपर हवाला दिया गया है, यह बिल्कुल स्पष्ट रूप से सामने ला देते हैं।

अन्य तीन लेखों में, विशेष रूप से 'तोल्स्तोय तथा सर्वहारावर्ग का संघर्ष' (दिसम्बर १९१०) में वृत्तिमूलक (functional) विश्लेषण प्रमुख है।

वहाँ ज़ोर कलात्मक-ज्ञानात्मक वस्तु की अपेक्षा अवधारणा-पद्धति पर, स्वयं विचारधारा पर अधिक है। जनवरी १९११ में प्रकाशित 'एल० एन० तोल्स्तोय और उसका युग' शीर्षक लेख में, आलोचक की रुचि 'लुसर्न', 'अन्ना कारेनिना', और 'क्रूत्ज़र सोनाता' में, मुख्यतः उनमें प्रस्तुत दार्शनिक प्रस्थापनाओं के कारण थी। **लेनिन** ने तोल्स्तोय की कृतियों पर लगभग बिल्कुल उसी दृष्टि से विचार किया जिस तरह मजदूर-वर्ग उन्हें लेते थे और उस वर्ग को उनसे जो प्राप्त होता था। ज़ाहिर है कि उन्होंने इस पर कभी संदेह नहीं किया कि तोल्स्तोय की कृतियों का स्थायी मूल्य है। उसने प्रायः ही दोहराया है, जैसा कि हमें **गोर्की** और **क्रूप्स्काया** के संस्मरणों में मिलता है, कि तोल्स्तोय की टक्कर का कोई अन्य लेखक नहीं है। लेकिन १९११ में तोल्स्तोय उन्हें न केवल एक कलाकार, विगत युग के एक दर्पण के रूप में, बल्कि एक विचारक, मेहनतकश और कृषक समुदायों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के शिक्षक के रूप में भी रोचक लगा। इस पर लेनिन ने बिलकुल प्लेखानोव की ही तरह प्रतिक्रिया की। लेनिन ने लिखा कि जैसा कि उदारवादी दावा करते हैं, तोल्स्तोय जीवन का शिक्षक नहीं है, बल्कि "लेव तोल्स्तोय की कृतियों में गहरे पैठकर रूसी मज़दूर-वर्ग अपने शत्रुओं को बेहतर ढंग से जानता है; और तोल्स्तोय के दर्शन का विश्लेषण करके समूची रूसी जनता यह जानने में समर्थ हो सकेगी कि वह कमजोरी कहाँ है जिसने उसे अपने जागरण को पूर्णावस्था तक ले जाने से रोक रखा था और आगे बढ़ने के लिए इसे महसूस करना ही होगा।"[६]

इस प्रकार, तोल्स्तोय का दर्शन, हालाँकि वह ज़ारशाही के इतने विरुद्ध है, फिर भी अपने सिद्धान्तों में इतना स्वप्नवादी और प्रतिगामी है, कि जहाँ समाजवादी आन्दोलन को नुकसान पहुँचता हो वहाँ सर्वहारा वर्ग को उसे अस्वीकार कर देना चाहिए।

स्पष्ट है कि यहाँ वृत्तिमूलक विश्लेषण क़तई पूर्ण नहीं है। इस मुद्दे पर, लेनिन को इसमें कोई रुचि नहीं थी कि तोल्स्तोय को विभिन्न सामाजिक समूह किस रूप में देखते हैं, बल्कि सबसे महत्त्वपूर्ण, उसकी कृतियों की ज्ञानात्मक-कलात्मक वस्तु के ग्रहण करने में थी। यह विश्लेषण प्रस्तुत ऐतिहासिक क्षण में तोल्स्तोय के दर्शन के वर्गीय-दायित्व के अन्वेषण तक सीमित मोटेतौर पर यह एक राजनीतिक दृष्टिकोण था। लेनिन को अगर सिर्फ़ यही कहना होता, तो यह हॉप्टमान की मेहरिंग-कृत व्याख्या से आगे नहीं जाता। लेकिन लेनिन ने एक सुगठित दृष्टिकोण दिया, इस कारण, उनकी व्याख्या अत्यन्त रोचक थी और आज भी है। उस समय मार्क्सवादी आन्दोलन में लेनिन ही एकमात्र ऐसे व्यक्ति थे जो ऐसा विश्लेषण देने में समर्थ थे, क्योंकि केवल उन्हीं के दार्शनिक कृतित्व में **'रिफ्लेक्शन'** (प्रतिफलन) का एक सुविकसित सिद्धान्त था, जिसका एक पहलू 'अनुकरणपरक' विश्लेषण था। रोचक बात केवल यह नहीं है कि लेनिन मार्क्स की प्रस्थापनाओं तक गये। बल्कि सर्वोपरि यह है कि यह एक सच्चा विश्लेषण था, कि तोल्स्तोय ने जो लिखा यह उसकी कलात्मक-ज्ञानात्मक और आत्मसजग विचारधारात्मक विषय-वस्तु के अनुरूप था। हम जानते हैं कि **'अन्ना कारेनिना'** (१८७०-७७) के साथ उसके लेखन में एक मोड़ आया। १८६०-७० में ही 'एक भूस्वामी की सुबह' और 'पोलिकुश्का' में वह किसान की नज़र अपनाने लगा था। 'तीन मौतें' में गाड़ीवान एक किसान की तरह, आत्मसम्मान के साथ, प्रकृति से तादात्म्य स्थापित करते हुए शान्तिपूर्वक मरता है। व्यक्तिवादी तोल्स्तोय, जैसाकि प्लेखानोव हमेशा उसे कहा करता था, के अधिक निकट अभिजात-वर्गीय महिला की उत्तेजनापूर्ण, नाटकीय मृत्यु है, लेकिन पाठक को उसकी अपेक्षा पयोदोर की मृत्यु अधिक छूती है। यहाँ 'युद्ध और शान्ति' के पात्रों प्लातोन काराताएव, कार्प और व्लास का भी ज़िक्र किया जाना चाहिए जो कृषक समुदायों का प्रतिनिधित्व करते हैं, और जो उनकी (भाग्यवादी) बुद्धिमत्ता और उनकी देशभक्ति के साकार रूप हैं। 'अंधकार की शक्ति' तथा 'स्वामी और सेवक' में भी समान विषय-वस्तु खोजी जा सकती है। चीज़ों को किसान की नज़र से देखने के साथ-साथ, व्यवस्था की कटु आलोचना भी चलती रही, जिसे 'अन्ना कारेनिना' में पहले ही देखा जा सकता है, लेकिन जो अपने चरम शिखर पर 'पुनरुद्धार' और तोल्स्तोय की पत्रकारिता (आत्मस्वीकृतियाँ, स्वर्ग का राज्य हमारे भीतर है, मैं चुप नहीं रह सकता) में पहुँचती है। फिर भी, यह आलोचनात्मक रुख उस 'नये' धर्म के कारण धुँधला पड़ गया, जिसने साथ-ही-साथ, इस महान् लेखक को अपने समय की राजनीतिक और सामाजिक स्थिति को समझने में बाधा डाली।

'विद्रोह' में तोल्स्तोय ने जनवादियों (नोरोदनिकी) को अत्यन्त सहानुभूति से वर्णित किया है, लेकिन मार्क्स को पढ़ने वाले मज़दूर के साथ व्यंग्यपूर्ण कृपालुता का बर्ताव किया है। 'दिव्य और मानवीय' (१९०५) कहानी में भी यही दृष्टिकोण दोहराया गया। इस तरह, लेनिन की व्याख्या ने तोल्स्तोय के कृतित्व का मूल, आन्तरिक द्वन्द्व उजागर किया, और आज भी वह सिद्धान्तवादियों और आलोचकों के विवाद का आधार बनी हुई है।

कुछ ही दिन पहले **जे० विदमार** (एक युगोस्लाव आलोचक) और एम० लिफशित्स (सौंदर्यशास्त्र के एक सोवियत लेखक) में इस विषय—दर्शन या विश्व-दृष्टि का कलात्मक सत्य के सम्बन्ध—पर वाद-विवाद छिड़ गया था।[१०] विदमार ने तोल्स्तोय का उदाहरण लेकर यह मान्यता पेश की कि लेखक जिसका प्रतिनिधित्व करता है (जो कि एक स्थायी मूल्य है) और सत्य पर वह जो सोचता है (जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक विचारधारात्मक संभ्रम है और केवल अस्थायी मूल्य का है) उसमें अन्तर्विरोध होता है। लिफशित्स ने अपने जवाब में प्रतिपादित किया—और ज़ोरदार ढंग से—कि तोल्स्तोय की कृतियों के अन्तर्विरोध कलात्मक और दार्शनिक दोनों ही थे। द्वन्द्व लेखक के समूचे दृष्टिकोण में प्रत्यक्ष है और उसकी कलात्मक विशृंखलताएँ उसके समान्तर हैं, बल्कि उसका प्रतिबिम्ब हैं। यदि हम यह मान भी लें कि इस मामले में लिफशित्स सही है, तब भी यह पूरी तरह सच नहीं है कि हमेशा ही ऐसा होता है। सोवियत संघ में हाल में अनेक लेखों ने दिखलाया है कि किसी लेखक की विश्व-दृष्टि और उसके कृतित्व की कलात्मक-ज्ञानात्मक वस्तु के बीच हमेशा ही सादृश्य होता है।

ई० एम० ख्रापचेन्को ने 'विश्व-दृष्टि और सर्जनात्मक कृतित्व' शीर्षक विवेचन (प्रॉब्लेमी तेओरी लितरातुरी, स्बोर्निक स्तातेई, मास्को, १९५८, पृ० ३-५७) में न केवल **लूकाच नेदोशिविन** जैसे समकालीन सौंदर्य-शास्त्रियों के खिलाफ़, बल्कि एंगेल्स के खिलाफ़ भी विवाद पेश किया है। उसने स्पष्ट रूप से दावा किया है कि एक झूठा दर्शन अपरिहार्य रूप से कलात्मक-ज्ञानात्मक विफलताओं की ओर ले जाता है, मसलन्, सच्चाई का एक अयथार्थपरक चित्र। एंगेल्स ने स्पष्ट रूप से कहा था कि बाल्ज़ाक राजवंशीय उत्तराधिकार का पक्षधर होते भी एक यथार्थवादी था (अप्रैल १८८८ में मार्गरेट हार्कनेस को लिखा एंगेल्स का पत्र देखें)।

इसमें कोई शक नहीं कि सर्जनात्मक कृति विश्व-दृष्टि पर निर्भर होती है, लेकिन यह आग्रह कि उनके बीच सादृश्य होना ही चाहिए, पुनः एक भिन्न चीज़ है। इस सिलसिले में विश्व-दृष्टि का मतलब क्या है, यह स्पष्ट नहीं है। इससे ख्रापचेन्को (उपर्युक्त पुस्तक, पृ० ४५) आशय है 'कलात्मक विधि' से अर्थात् कथा के ताने-बाने में मूर्त्त व्यापक विचारों से भिन्न, 'प्राकृतिक और सामाजिक दृश्य-जगत् पर···विचारों का समाहार।' जीवन-दृष्टि से लिफशित्स का आशय, प्रत्यक्षतः, 'कलात्मक विधि', अर्थात्, कृति के प्रमुख कथ्यों से निकाले गये उसमें निहित विचार। (ख्रापचेन्को के आशय के अनुसार) लेखक की विश्व-दृष्टि और उसके सर्जनात्मक कृतित्व के बीच अन्तर्विरोध निश्चय ही उठ सकता है। कम-से-कम समाजवादी यथार्थवाद से पूर्व, अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियों के साथ यही विशिष्टता जुड़ी रही। यदि हम विश्व-दृष्टि का लिफशित्स का आशय लें तो वहाँ भी हम स्वयं कलात्मक रचाव में एक अन्तर्विरोध पाते हैं; लेकिन इस स्थिति की आवृत्ति कम होती है।

लेनिन में भी, तोल्स्तोय पर उनके लेखों के बाहर, हम साहित्य की व्याख्या का एक पद्धतिबद्ध मानदण्ड पाते हैं जो ख्रापचेन्को तथा उसके साथियों के सुव्यवस्थित निर्णयों के विरुद्ध जाता है। लेनिन ने आग्रह किया है कि धारणाओं या निर्णयों के शास्त्र के रूप में कलाकार का दर्शन, विचाराधीन कृति में निहित कलात्मक सत्य के प्रत्यक्ष विरोध में हो सकता है, और यह कि उस दशा में साहित्यिक आलोचना के लिए मूल वस्तु वह है जो कलाकार प्रस्तुत करता है, न कि जो वह सोचता है। २५ फरवरी १९०८ को (जोकि एक अत्यन्त गम्भीर समय था, जिसमें पार्टी के भीतर विवाद चल रहे थे और लेखकों को बोल्शेविक पक्ष में लाने की कोशिश हो रही थी) गोर्की को लिखे पत्र में लेनिन ने कहा: "मेरी राय में, कोई लेखक किसी भी दर्शन के अध्ययन से काफ़ी कुछ हासिल कर सकता है। मैं पूरी तरह और बिना शर्त इस पर सहमत हूँ कि लेखक के रूप में हमारे काम के लिए सभी किस्म की पुस्तकें ज़रूरी हैं, तथा **उस** [लेनिन के दिमाग़ में 'एम्पीरियोमोनिज़्म' (अनुभवैकवाद) था—लेखक] दृष्टि से शुरू करके, स्वयं अपने कलात्मक प्रयोगों से शुरू करके **और यहाँ तक कि आदर्शवादी दर्शन** से भी शुरू करके, ऐसे निष्कर्षों तक पहुँचना सम्भव है जो पार्टी के लिए अत्यन्त मूल्यवान् हैं···"[११]

यह गोर्की के उपन्यास 'माँ' के संदर्भ में लिखा गया था, जिसे लेनिन पार्टी का उपन्यास मानते थे। यह वक्तव्य महत्त्वपूर्ण है, लेकिन टीकाकार अवसर ही इसे नज़रअंदाज़ कर देते हैं। यह टिप्पणी कोई उस समय की ज़रूरत के लिए और गोर्की को अपने पक्ष में करने के लिए चली गई चाल नहीं थी, जैसा कि कुछ लोग सोच सकते हैं। १९२१ में ए० एवरचेंको (पेरिस में एक रूसी श्वेत प्रवासी) की पुस्तक 'क्रान्ति की पीठ में बारह छुरे' पर लेनिन की टिप्पणियों में भी ऐसी ही व्याख्या देखी जा सकती है। लेनिन ने लक्षित किया कि यह पुस्तक भूस्वामियों और उद्योगपतियों के रुख का वातावरण कितने सजीव ढंग से प्रस्तुत करती है। हम उस लेख के निष्कर्ष प्रणामस्वरूप पेश कर रहे हैं:

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तिम कहानी 'एक ध्वस्त संसार के टुकड़े' में क्रीमिया में सेवास्तोपोल में एक भूतपूर्व सिनेटर है—"वह धनी, उदार अच्छे सम्बन्धों वाला रह चुका था," "अब वह एक बारूदखाने में कारतूस उतारने और छाँटने का काम करने वाले दैनिक मज़दूर की हैसियत से काम कर रहा था"—और एक भूतपूर्व मैनेजर "विशाल इस्पात मिल का, जो विवोर्ग ज़िले में सबसे बड़ी थी। अब वह एक कमीशन एजेंसी में क्लर्क है और हाल ही में उसने महिलाओं के बिक्री योग्य पुराने कोटों और बच्चों के प्लश (रोएँदार खाल के बने), खिलौना भालुओं की कीमत आँकने का कुछ हुनर सीख लिया है।"

ये दोनों बूढ़े पुराने भले दिनों की याद करते हैं—सेंट पीटर्सबर्ग के सूर्यास्त, सड़कें, नाटक-घर और, हाँ, 'लिटिल बिअर', 'वियेना', 'लिटिल यारोस्लाव' इत्यादि की यात्राएँ। उनके संस्मरण बीच-बीच में इन चीत्कारों में टूट जाते हैं: "हमने उनका क्या बिगाड़ा था? हमने किस बात में बाधा दी?···उससे उनका क्या नुकसान होता था? उन्होंने रूस की क्या गत कर दी है?"

आर्कादी एवरचेंको नहीं समझ सकता कि ऐसा क्यों है। शायद मज़दूरों और किसानों को यह 'क्यों' समझने में कोई दिक्कत नहीं हुई, और उन्हें कोई स्पष्टीकरण की ज़रूरत भी नहीं है।

मेरी राय में, कुछ कहानियाँ पुनर्मुद्रित करने लायक हैं। योग्यता की मदद करनी ही चाहिए।[12]

व्याख्या करने के इस तरीके की वाक्पटुता ज़ाहिर है। लेनिन एवरचेंको की पुस्तक के 'वस्तुगत सत्य' का बचाव कर रहे हैं। लेखक में सोवियत संघ के प्रति घृणा उफनी पड़ रही है, लेकिन स्वयं अपने तथा अगले वर्ग के बारे में सत्य लिखकर वह स्वयं अपने दर्शन को ध्वस्त कर रहा है। इसलिए, साहित्यिक आलोचना में कलात्मक-ज्ञानात्मक वस्तु निर्णायक कारण है, हालाँकि, निस्संदेह वह एकमात्र कारण नहीं है।

हमने जो कहा है वह यदि सही है तो एम० मरलो-पॉन्ती ने अपनी कृति 'ले अवाँतुरे द ला डायलेक्टिक', पेरिस, १९५५, पृ० ५६, ८५-७, ९२-४ में जो विश्लेषण दिया है वह ग़लत है जिसके मुताबिक लूकाच ने यथार्थवाद की अपनी व्याख्या को लेनिन की संकीर्ण, निरी सैद्धान्तिक पद्धति के विरोध में पेश किया है। लूकाच ने 'गेशिश्टे उंड क्लासेनबेवुस्ट्साइन' (१९२३) में यथार्थवाद की जो प्रस्थापना दी है और जिसे 'लेनिनवादी कट्टरपंथ' से च्युत कहा जाता है, मरलो-पॉन्ती का दृष्टिकोण उसका खण्डन करता है। दरअसल, लूकाच ने, लिफ़शित्स और अन्य लोगों के साथ-साथ, यथार्थवाद का बचाव लेनिन की प्रस्थापनाओं के ही आशय में और उनके आधार पर १९३०-४० के दौरान किया है।

वस्तुपरक सत्य के सम्बन्ध में लेनिन का दृष्टिकोण कला और साहित्य की विशिष्ट प्रकृति के सम्बन्ध में उनकी अन्य आनुषंगिक टिप्पणियों के साथ पूरी तरह मेल खाता है। लेनिन की इन प्रस्थापनाओं के पूर्ण प्रस्तुतीकरण के लिए मुझे एक ऐसे दृष्टिकोण का पुनर्निर्माण करना होगा जिसे उन्होंने केवल खंड-खंड रूप में ही पेश किया था। चूँकि मैं ऐसी निधि से बचना चाहूँगा, इसलिए लेनिन के विचार यहाँ सीधे ही दिये जा रहे हैं, अगर्चे ज़रा विश्रृंखल ढंग से। मैं महसूस करता हूँ कि यह अधिक अच्छा होगा, क्योंकि यह अब तक प्रस्तुत सामग्री से घनिष्ठ रूप से जुड़ा होगा।

१९१४ में लेनिन को इनेसा एरमैण्ड से विनिचेन्को की एक पुस्तक 'पिताओं के उपदेश' प्राप्त हुई। उन्हें यह किताब पसन्द नहीं आयी क्योंकि "यह निरे रोमांचों का संग्रह" था। लेनिन ने कहा कि ज़ाहिर है कि अपराध, रोग, विकृत घटनाएँ आदि होती रहती हैं। लेकिन दुनिया को केवल उसी रूप में पेश करना एक झूठा तरीका है। इस निर्णय में एक प्रकृतिवाद-विरोधी दृष्टि सन्निहित है। साहित्य का ज्ञानात्मक मूल्य किसी भी प्रकार के सामान्यीकरण से विच्छिन्न यथार्थ (Realia) नहीं होता, और एक झूठा, सतही सामान्यीकरण से जोड़ा गया यथार्थ तो और भी नहीं। तदनुसार, किसी कला-कृति के ज्ञानात्मक और कलात्मक मूल्य की महज़ यह दलील देकर वकालत नहीं की जा सकती कि उसमें वर्णित तथ्यों जैसे तथ्य "वास्तविक जीवन में आमतौर पर होते हैं।" यद्यपि लेनिन ने मार्क्स और एंगेल्स की तरह यथार्थवाद पर नहीं लिखा, लेकिन वह भी उसी दिशा में अग्रसर हुए थे। मुक्त प्रेम के विषय पर इनेसा एरमैन्ड को दिनांक २४ जनवरी, १९१५ को लिखे एक पत्र में लेनिन ने प्रसंगवश यह लक्षित किया है कि कहानी एक व्यक्तिगत उदाहरण, एक अद्वितीय स्थिति और विशिष्ट चरित्रों पर आधारित होती है, लेकिन उनके भीतर तथा उनके द्वारा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जातीय लक्षण व्यक्त होते हैं। ये विचार एक प्रकार से तोल्स्तोय के बारे में उनके लेखों गोर्की को १९०८ में लिखे उनके पत्र की टिप्पणियों और एवरचेंको की पुस्तक के उनके व्यंग्यात्मक मूल्यांकन पर सैद्धान्तिक टिप्पणियाँ हैं।

हर जगह मुख्य वस्तु कलात्मक सत्य की समस्या है।[13]

कला की प्रकृति के सम्बन्ध में लेनिन के संकेतों को ग्रहण कर उन्हें और भी आगे बढ़ाया जा सकता है। 'धर्म का सार' पर फ़ायरबाख के व्याख्यानों को पढ़ते हुए लेनिन ने इस वक्तव्य की ताईद की कि "कला यह अपेक्षा नहीं करती कि उसकी कृतियों को यथार्थवत् लिया जाय।" यहाँ हम लेनिन के मूल-आलेख की व्याख्या की सीमाओं तक पहुँच जाते हैं। लेकिन, यहाँ तक प्रस्तुत विश्लेषण के संदर्भ में यह कहना संभव प्रतीत होता है कि लेनिन के विचार कला-कृति की सापेक्ष स्वायत्तता की मान्यता की ओर ले जाते हैं। उनकी 'दार्शनिक नोटबुकों' में सामाजिक जागरूकता के विभिन्न क्षेत्रों की सापेक्ष स्वनिर्भरता के बारे में निखरे हुए प्रणालीबद्ध विचारों से इसकी पुष्टि होती है। एक खास अर्थ में निम्न तथ्यों के बीच लेनिन की द्वन्द्वात्मक प्रतिभा हमें अधिकार देती है कि हम ऐसा करें—राजनीतिक दृष्टि से कलाकृति के तात्कालिक दायित्व की प्रस्थापना और उसके अधिकारों की शोध, जोकि आंतरिक तो है लेकिन प्रकटतः ही, स्व-निर्भर नहीं। लेकिन यह कार्य हमें पुनः लेनिन के सौंदर्यशास्त्र के अपने ढंग से पुनर्निर्माण की देहलीज़ पर ला खड़ा करता है। इसलिए हमें उसी काम पर लौट चलना चाहिए जहाँ से हमने शुरू किया था: स्वयं लेनिन ने जो कहा, उसका विश्लेषण; हम अब दूसरी समस्या पर आते हैं: **साहित्यिक कृति का पार्टी-स्वभाव।**

इस समस्या को भी पहली समस्या के साथ ही लेना चाहिए क्योंकि यह उससे सीधे-सीधे जुड़ी है। कलाकार, चेतन या अचेतन रूप में, किसी कथ्य को उठाते और यथार्थ को सच्चे या झूठे ढंग से प्रतिबिंबित करते समय, हमेशा ही एक या दूसरा पार्टी-दृष्टिकोण अपनाता है। फिर भी, लेनिन की प्रस्थापनाओं की सुसम्बद्ध व्याख्या और शब्दावली के स्पष्टीकरण की जरूरत की दृष्टि से, इस समस्या को विभक्त करना, वांछनीय प्रतीत होता है। साहित्य के पार्टी-स्वभाव की समस्या लेनिन ने उपर्युक्त लेख में १९०५ में पेश की थी। चूंकि इस शब्द के अलग-अलग मतलब लगाये जाते हैं, इसलिए हमें लेनिन के लेख में निहित तीन अर्थों का अंतर समझ लेना चाहिए। लेनिन ने स्वयं कभी भी यह भेद नहीं किया, लेकिन जान-बूझकर, अर्थात् विवाद के कारणों से इन तीनों अर्थों का उपयोग किया और संदर्भ के अनुसार उनमें से किसी एक पर जोर दिया।

'पार्टी' विशेषण का केन्द्रीय अर्थ है किसी संगठन से सम्बद्ध होना। इस लेख का लेखक साहित्यिक व्यक्ति को पार्टी के अन्य सदस्यों की बराबरी का दर्जा देता है। इस तथ्य में कुछ भी विस्मयजनक नहीं है कि यह समस्या लेनिन के समय में प्रकट हुई, जबकि बोल्शेविक क़िस्म की पार्टी गठित और स्थापित हुई। कलाकार और साहित्यिक व्यक्ति उम्मीद कर रहे थे कि वे किसी अर्थ में 'कानून से परे' होंगे। सोशल डेमोक्रेटिक आंदोलन के भीतर भयंकर संघर्षों और उसके बाहर शत्रुओं से लड़ाइयों, दोनों ही जगह लेनिन ने इस बात पर जोर दिया कि पार्टी का अनुशासन सभी के लिए एक जैसा है।

एक दूसरे अर्थ में, 'पार्टी-स्वभाव' और 'वैचारिक रूप से प्रतिबद्ध होना' एक चीज़ है। यानी, जो भी स्वयं को वैचारिक रूप से प्रतिबद्ध करता है, अथवा किसी भी अर्थ में झुकाव रखता है, उसने इस कृत्य के द्वारा कोई पार्टी चुन ली है। इस अर्थ में, एक व्यक्तिवादी लेखक भी पक्षधर है अगर वह किसी भी कारण से अपनी अमूर्त्त और दिखावटी स्वनिर्भरता को अपनी आस्था के रूप में लेता है और स्वयं को स्पष्टतः प्रतिबद्ध लेखक की स्थिति के मुकाबले में पेश करता है।

'पार्टी' विशेषण का तीसरा मूल अर्थ है **सर्वहारा-वर्ग के पक्ष में, समाजवाद के पक्ष में प्रतिबद्ध होना।** जो कलाकार इस अर्थ में पक्षधर है, उसके लिए यह बहुत आवश्यक नहीं है कि वह पार्टी से संगठनात्मक रूप में भी जुड़ा हो। इस अर्थ में 'पार्टी-पन' (पक्षधरता) का मतलब वही है जो आजकल की परिभाषा में **क्रांतिकारी दृष्टिकोण** का है।

लेनिन की प्रस्थापनाओं के पीछे मार्क्सवादी परम्परा है। १८४८ के बाद, हाइने और फ्रेइलिग्राथ से बहस के सिलसिले में, इस समस्या को मार्क्स और एंगेल्स ने 'न्यू राइनिश ज़ाइतुंग' में उठाया था। मार्क्स ने उपर्युक्त तृतीय अर्थ में 'पक्षधरता' की अवधारणा दी। आगे चलकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१८६० में फ्रेइलिग्राथ के साथ पत्र-व्यवहार में उसने कहा कि पार्टी लेखक वह है जो खुद को कम्युनिज़्म के पक्ष में घोषित करे; यह आवश्यक नहीं कि वह कम्युनिस्ट लीग का सदस्य हो ही। शताब्दी के अंत में मेहरिंग ने भी इस विषय को उठाया; उसने सर्वहारा लेखन (प्रथम अर्थ) और पार्टी लेखन (तृतीय अर्थ) के बीच के अंतर को स्पष्ट किया। यदि लेनिन में परिभाषा का कुछ बदलाव आया है, तो वह स्पष्टतः ही राजनीतिक उद्देश्यों से था। अतएव उस समय जिस स्थिति में वह लेख छपा था, उसका वर्णन समीचीन होगा।[१४]

१९०४ और १९०५ में पार्टी के कुछ अखबारों में और उनसे सम्बद्ध बुद्धिजीवियों में यह राय व्यक्त की गयी थी कि समाजवाद ह्रासवाद (Decadentism) से अविरुद्ध रह सकता है। मिन्स्की ने 'प्रोलेतारी' और 'नोवाया ज़िज़्न' में सर्जनशील व्यक्तियों के अतिशय-व्यक्तिवाद के लिए सहिष्णुता का नारा दिया। उस समय आधुनिकतावाद के प्रतिनिधि भी ऐसे ही नारे लेकर सामने आये। एक पत्रिका 'पोलार्नाया ज़्वेज़्दा' ने अपने नीति-वक्तव्य में लिखा : "अपनी दार्शनिक-राजनीतिक विश्व-दृष्टि में हम इस प्रतिज्ञा से आरंभ करते हैं कि व्यक्ति ही समस्त आध्यात्मिक मूल्यों का वाहन और स्रष्टा है। हमारे तईं व्यक्तित्व अपने-आप में और स्वतः पवित्र है। उस अर्थ में हम पूर्णतः व्यक्तिवादी हैं।"[१५] यह एस० फ्रैंक ने लिखा था, लेकिन ब्रियुसोव, मेरेज़्कोव्स्की और बरद्यायेव ने भी ऐसे ही विचार व्यक्त किये थे। 'ज़ोलोतोए रूनो' पत्रिका (जो प्रतीकवादियों के मुखपत्र 'मीर इस्कुसस्तवा' की उत्तराधिकारी थी) में एक संपादकीय में आग्रहपूर्वक कहा गया कि ज़माना खतरों से भरा हुआ है, क्योंकि रक्तपाती सामाजिक संघर्ष सनातन मूल्य के रूप में कला की सीमाओं का उल्लंघन कर रहे हैं। इस पत्रिका के मंच ने निम्नलिखित 'सत्यों' की उद्घोषणा की : "कला सनातन है, कला किसी भी ऐसी चीज़ से नहीं बँधी है जो अनित्य हो···कला एक अद्वितीय चीज़ है, इसकी आत्मा का स्रोत अद्वितीय है। कला प्रतीकात्मक है, क्योंकि हमेशा उसके भीतर एक प्रतीक निहित होता है, अर्थात् वह जो नित्य है, और उस सबको अस्वीकार करती है जो अनित्य है। कला मुक्त है, क्योंकि यह प्रेरणा से उद्भूत होती है।"[१६] ब्रियुसोव और बरद्यायेव ने यह कहकर विरोध किया कि वे समाजवादी विचारों को केवल उसी हद तक मान्यता दे सकते हैं जहाँ तक समाजवाद उनकी विश्व-दृष्टि के मूल सिद्धान्त का सम्मान करता है : कलाकार की अनिर्बन्ध स्वतंत्रता।

रूसी प्रतीकवादियों के विचार फ्रांसीसी प्रतीकवाद और 'पारनेसिज़्म' की प्रतिच्छाया थे। इसकी जड़ में, नोवालिस और एफ० श्लेगेल से प्राप्त कला की रोमांटिक प्रस्थापना है, जिसके अनुसार कलाकार 'ब्रह्म' होता है। (साथ-ही-साथ, रोमांटिसिज़्म की एक धारा कलाकार के सामाजिक दायित्वों पर भी ज़ोर देती थी, मसलन्, 'कविता की वकालत' में शेली।) रोमांटिसिज़्म में यह राजनीति-शून्य प्रवृत्ति 'कला कला के लिए' के प्रतिनिधियों से विरासत में मिली थी। 'हीम' में बोदलेअर ने लिखा : "Que tu viennes du Ciel ou de l'Enfer, qu'importe, O Beaute." फ्लॉबेयर सोचता था : "Aimonsnous en l'art comme les mystiques s'aiment en Dien". (पत्रव्यवहार, खंड २, १८९३, पृ० २८६)। गोंकूर बन्धुओं ने अपने जर्नल में १८८६ में लिखा कि केवल 'शुद्ध साहित्य' जीवन और मरण का मसला है। और उनके लेखन में हमें निरन्तर 'सचमुच सुन्दर' की चिरन्तनता, कलाकार की स्वतन्त्रता, अपने पाठकों एवं ग्राहकों के प्रति उसकी (अपनी) श्रेष्ठता और तिरस्कार के सम्बन्ध में वक्तव्य मिलते हैं। बोदलेयर ने पो के बारे में और गॉतिए ने बोदलेयर के बारे में लिखते हुए कहा है कि कवि की महिमा स्वयं को स्वप्नदर्शियों, मानवतावादियों, समाजवादियों इत्यादि से अलग रखने में है। सभी नीति-उपदेशक कवियों के लिए बोलते हुए फ्लाबेयर ने घोषणा की कि "कला की नैतिकता उसके सौंदर्य में ही निहित होती है" (समव्यवहार, खंड ३, उपर्युक्त रचना, पृ० ७१)।

लेकिन 'कला के लिए कला' के प्रतिनिधियों और ब्रियुसोव तथा बरद्यायोव के बीच एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक अन्तर है। पूर्ववर्त्तियों ने समस्त महत्त्वाकांक्षी कला के विरोधी पूंजीपति और निम्नपूंजीपति असभ्यों (फिलिस्तीन) के खिलाफ़ विद्रोह किया था (देखें, मार्क्स के वक्तव्य, 'अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त', खंड १ में)। रूसी पतनशील (साहित्यिक) केवल पूंजीपति वर्ग पर ही हमला नहीं कर रहे थे, बल्कि एक ऐसी कला की प्रतीक्षा करने वाले जन-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समुदायों पर हमला कर रहे थे जो उनके लिए अब तक बन्द क्षितिजों को उन्मुक्त करतीं, और शायद उस समय उनका मुख्य लक्ष्य ये जन समुदाय ही थे। अवाम से कलाकारों को भय परवर्ती रोमांटिसिज़्म से शुरू होता है (देखें, 'लूतेतिया' के फ्रांसीसी रूपांतर में हाइने की भूमिका) और बेन्वा तथा मेरेज्कोव्स्की के समय तक जारी रहता है। १९१२ में रोजर फ्राइ ने फेबियन सोसाइटी में 'कला और समाजवाद' पर पठित अपने लेख में इसे एक लाक्षणिक अभिव्यक्ति दी है। किन्तु १८४०-५० और १८५०-६० में कवियों का वैरी (समाजवाद) बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों से भिन्न रूप में था। पिछले ज़माने में समाजवाद एक 'प्रेत छाया' था जबकि लेनिन के समय में यह एक वास्तविक उर्वर ऐतिहासिक शक्ति थी। कलाकारों के नज़रिये से भी इसे इसी रूप में माना जा सकता था।

लेकिन उस समय हर एक ने इन पतनशील विचारों को स्वीकार नहीं किया। एफ० माकोव्स्की और वी० स्तासोव, जिन पर प्रतीकवादी लोग सर्जनात्मकता के नागरिक विवेक को अपील करते हुए हमला कर रहे थे; लेकिन उनकी आवाज़ों को व्यतीत समझा जाने लगा था। समाजवादी जनतंत्रवाद से जुड़े लेखक और आलोचक का पक्ष ही इस शास्त्रार्थ में वज़नदार रहा। उनके लेख लेनिन के वक्तव्यों से पहले छपे; उदाहरण के लिए, १८वीं सदी के फ्रांसीसी नाटक और फ्रांसीसी चित्रकला का प्लेखानोव द्वारा विवेचन और सर्वहारा आन्दोलन तथा पूँजीवादी कला पर उसका लेख। उसके बाद लूनाचार्स्की का लेख था 'मार्क्सवाद और सौंदर्यशास्त्र' पर, प्रावदा के ९-१० अंक में; और मैक्सिम गोर्की ने 'नोवाया झिज़्न' में अपना लेख 'निम्न पूँजीपति पर टिप्पणियाँ' छपाया। इन लेखों ने कला की सामाजिक प्रकृति पर ज़ोर दिया; उसके वर्गीय-उद्भव, सारतत्व और दायित्व प्रतिपादित किये, रूपवाद की आलोचना की, उसकी विचार-हीनता के लिए, मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र की नींव रखी; सामाजिक जागरण (और सांस्कृतिक क्रांति) के लिए सर्वहारा के संघर्ष में पंक्तिबद्ध हुए। नित्य, पूर्ण सुन्दर, और कलाकारों के व्यक्तिवाद के निम्नपूँजीपतिवर्गीय स्रोतों का उद्घाटन करते हुए, उनकी अन्धश्रद्धा का पर्दाफाश किया। लेनिन के लेख 'पार्टी संगठन और पार्टी साहित्य के सम्बन्ध में' की पृष्ठभूमि यह थी। उसकी पहली मूल प्रस्थापना ने दावा किया कि "साहित्य को सर्वहारा-वर्ग के आम ध्येय का एक अंग, मज़दूर-वर्ग के समूचे जागरूक अवाँ-गार्द की शक्ति से चलने वाले समाजवादी जनतंत्र के एकमात्र, ठोस विशाल यंत्र में एक 'गिअर' पुर्ज़े की तरह ही होना चाहिए।" लेनिन ने तुरन्त ही जोड़ा कि कोई भी तुलना लँगड़ा सकती है, और उपर्युक्त घोषणा को निम्नलिखित ढंग से पुन: पुष्ट किया: "इसमें कोई शक नहीं कि साहित्य दुनिया की अन्तिम चीज़ है जो यांत्रिक समतलीकरण और एकरूपता के लिए, बहुमत द्वारा अल्पमत पर आधिपत्य के लिए स्वयं को समर्पित करने के लिए तैयार हो। इसमें कोई शक नहीं कि इस क्षेत्र में वैयक्तिक पहलकदमी और व्यक्तिगत रुझानों को बहुत अधिक आज़ादी, विचार और कल्पना, रूप और विषयवस्तु को बहुत अधिक आज़ादी सुनिश्चित की जानी चाहिए।"[१७]

इस मूलभूत प्रतिस्थापना का एक निश्चित लक्ष्य था—मिन्स्की और उसके समर्थक। लेकिन यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है, जिसकी ओर वापस लौटना होगा कि लेनिन ने एक तीखा राजनीतिक आधार-तत्त्व निरूपित करते समय भी कला की प्रकृति की समस्या को नज़रअन्दाज़ नहीं किया।

इस लेख की दूसरी मूलभूत प्रस्थापना बर्द्याएव, बेनोइस इत्यादि को सम्बोधित थी। लेनिन ने पतनशील लेखकों के परम स्वातंत्र्य-सम्बन्धी वाग्विस्फार की हवा निकाल दी। उन्होंने कहा : "और, यह परम स्वातन्त्र्य एक पूँजीवादी, अर्थात्, एक अराजकतावादी मुहावरा है (क्योंकि दर्शन के रूप में अराजकता उलटी हुई पूँजीवादी विश्व-दृष्टि ही है।) किसी समाज में रहना और समाज से मुक्त रहना असम्भव है। पूँजीवादी लेखक, चित्रकार या अभिनेत्री की आज़ादी केवल 'पर्स' पर, रिश्वत पर, फीस पर, ढँकी हुई (या झूठमूठ छिपायी हुई) निर्भरता है।

यह निष्कर्ष आगे उस प्रस्थापना तक ले गया जो साहित्य को पार्टी के साथ आवयविक रूप से जोड़ने के ढाँचे से भी आगे जाती है। लेनिन ने कला की स्वतंत्रता को निम्न प्रकार से परिभाषित किया : साहित्य उस हद तक स्वतंत्र होगा जिससे कि व्यक्तिगत लाभ या 'कैरियर' के लिए नहीं अपितु समाजवादी विचार और श्रमजीवी जनता के प्रति सहानुभूति के लिए, उसकी पंक्तियों में नयी शक्तियों का समावेश किया जा सके। साहित्य स्वतंत्र होगा जब वह क्लान्त नायिका की नहीं, ऊबे हुए और थुलथुल 'चोटी के दस हज़ार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोगों की नहीं, बल्कि करोड़ों लोगों की, करोड़ों श्रमिक जनों की सेवा करेगा जो राष्ट्र के पुष्प हैं, उसकी शक्ति हैं, उसका भविष्य हैं।"[१८]

इस तरह उन्होंने उन सभी कलाकारों से सामाजिक न्याय के संघर्ष में भाग लेने की अपील की, जिन्हें जनता का ध्येय प्रिय था। यह यथार्थपरक और आशापरक सर्जनात्मकता के लिए अपील थी जो भविष्य की ओर अभिमुख थी। लूनाचार्स्की ने 'वेस्तनिक ज़िज़्नी' (१९०७, सं० १) नामक पत्रिका में 'समाजवादी-जनतांत्रिक कलात्मक सर्जनात्मकता की समस्याओं' पर एक लेख में इन प्रस्थापनाओं का समर्थन किया। ब्रियुसोव और बर्द्याएव ने उसका जवाब दिया। उन्होंने अराजकता को कलाकार का अपरिहार्य रवैया और प्रेरणा ('रहस्यपूर्ण सिद्धान्त') को सर्जन-प्रक्रिया का स्रोत मानते हुए उसका बचाव किया। यह विवाद काफ़ी चला,[१९] और अब भी जारी है, जैसाकि हम सभी जानते हैं।

यहाँ उठायी गयी समस्याओं पर लेनिन के दृष्टिकोण की असाधारण सम्भावनाओं को उद्घाटित करने के लिए हम वापस उसी पर चलते हैं जो लेनिन ने कहा था। लेनिन ने सर्जनात्मक कृति के विचारों के महत्त्व पर ज़ोर दिया और कलाकार तथा पार्टी के बीच सीधे अनुबन्ध के लिए लड़ाई लड़ी। किसी राजनीतिक पार्टी के नेता के लेखन में, जिसने २०वीं सदी के इतिहास को गढ़ा, ये दलीलें आना बहुत स्वाभाविक हैं। लेकिन लेनिन ने लेखक के कार्य की विशिष्ट प्रकृति पर भी ज़ोर दिया। यह उद्देश्य, जो किसी भी हालत में सनसनीखेज़ नहीं है, इस तथ्य से जुड़ा है कि उसका कथन कलात्मक सत्य की उसकी अवधारणा से, तथा बाद की घोषणाओं से पहले का है। गोर्की को कम्युनिस्ट विचारधारा के पक्ष में लाने के लिए लेनिन के संघर्ष के साथ-साथ एक और अनवरत संघर्ष चल रहा था, वह था इस सर्जनात्मक लेखन में किसी भी तरह से बाधा न डालने का संघर्ष। लेनिन ने निरन्तर ज़ोर देकर कहा कि गोर्की का यथार्थ का निजी प्रामाणिक दृष्टिकोण पार्टी के लिए एक अमूल्य उपहार है। ठीक इसी तरह उन्होंने **देमियन बेदनी** का भी पक्ष लिया, लेकिन इसे उन्होंने बेदनी के लिए अहितकर माना और यह तथ्य लाक्षणिक है कि वह कभी-कभी केवल वही दोहरा देता था जिसे पार्टी पहले ही स्थापित कर चुकी है और समाज को वह मालूम है। गोर्की के संस्मरणों में हमें मिलता है कि लेनिन ने देमियन की कृतियों के आंदोलनात्मक मूल्य पर प्रश्नचिह्न लगाए बिना ही, कहा, "वह भोंडा है, वह पाठक का अनुगमन करता है, जबकि जरूरत इसकी है कि हमेशा ही कुछ आगे रहा जाए।"

इस तरह, लेनिन लेखक से **एक निजी दृष्टिकोण की, यथार्थ के भीतर एक वैयक्तिक पैठ की, उन समस्याओं और दृष्टिकोणों को उठाये जाने की, जिन पर शायद, पार्टी अभी तक नहीं पहुँची है,** अपेक्षा करते थे। लेनिन स्वयं अपना सत्य उद्घाटित करने वाली और अपने दैनिक कार्यों में पार्टी के साथ-साथ चलनेवाली कलात्मक वैयक्तिकता के पक्षधर थे, वह व्यक्तिवाद की अतियों के विरुद्ध थे।

साहित्य के पार्टी-गुण पर लेनिन के कथन मेरी दृष्टि में निम्नलिखित सामान्यीकरणों को उचित ठहराते हैं। कलाकार का चरम स्वातंत्र्य एक भ्रामक स्वातंत्र्य है। कलाकृति अनिवार्यतः सैद्धांतिक लड़ाई में उलझी होती है। सचेत चयन हमेशा ही अचेतन प्रतिबद्धता से बेहतर होता है। और हमारे युग में, एक कम्युनिस्ट समाज के लिए संघर्षरत जनता के साथ गठबन्धन से बढ़कर मानवतापूर्ण अन्य कोई चुनाव सम्भव नहीं है। वह गठबन्धन किस तरह का होगा, यह और बात है। यह कम्युनिस्ट विचारों का सार्वजनिक प्रचार करने के अर्थ में पार्टी-लेखन हो सकता है, लेकिन यह पूँजीवादी व्यवस्था की स्पष्ट आलोचना के जरिये उन विचारों तक पहुँचने का तरीका भी हो सकता है।

लेनिन के इन विचारों का विस्तार करते हुए हम यह भी कह सकते हैं कि यह गठबन्धन ऐसे सर्जनात्मक कृतित्व में प्रकट हो सकता है जो हमारे युग के विचारों की समस्याओं पर सीधे-सीधे प्रहार करता हो, लेकिन सौंदर्यशास्त्रीय संस्कृति के जनतंत्रीकरण की प्रक्रिया में सक्रिय भागीदारी का रूप भी ले सकता है (उदाहरण के लिए, स्थापत्य-कला और व्यावहारिक कलाओं के क्षेत्र में)। कलाकार की तथाकथित चरम स्वतंत्रता एक कपोल-कल्पित स्वतंत्रता है; सच्ची स्वतंत्रता है उन सौंदर्यशास्त्रीय मूल्यों का, जोकि एक समाजवादी समाज की सांस्कृतिक जरूरतों की दृष्टि से मूल्यवान् हों, हर सम्भव विकास और प्रसार। समाजवाद की लड़ाई में सचेत प्रतिबद्धता साथ-ही-साथ विभिन्न भावनात्मक अनुपातों और विभिन्न बौद्धिक अभिमुखताओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के साथ—हमेशा कलात्मक ग़ैर-एकाकीकरण के लिए लड़ाई भी होती है। उस समय कलाकार न केवल अपने सत्यों को अन्यों तक संप्रेषित करता है, बल्कि उनसे भी सत्य ग्रहण करता है, जिससे एक सर्वसामान्य आधार बनता है और प्रत्येक व्यक्ति 'धरती पर अपना स्थान' निर्धारित कर पाता है। जो कलाकार अपने निजी ढंग से उस विश्व-दृष्टि तक पहुंचता है जो कम्युनिस्ट पार्टी की है, उसे विश्व में निरन्तर अपना दिशामान चुनने, हमेशा ही असत्य को अस्वीकार करने और सत्य का आग्रह करने की कोशिश करने का न केवल अधिकार प्राप्त है, बल्कि वह इसे सहज ही एक आन्तरिक ज़रूरत के रूप में महसूस करता है। यह बात उस कलाकार पर भी, बल्कि प्राथमिक तौर पर, लागू होती है जो पार्टी का सदस्य है। वह किसी भी अन्य व्यक्ति की तरह पार्टी के अनुशासन से बंधा है, लेकिन वह पार्टी के प्रत्येक बुद्धिजीवी, प्रत्येक सर्जक की भाँति, स्वतंत्र विचार और यथार्थ के बारे में अपनी निजी दृष्टि व्यक्त करने के प्रति भी प्रतिबद्ध है। पार्टी उसे स्वयमेव, एक विश्वास प्रदान करती है और वह इसलिए कि उसने अपनी वैयक्तिक अन्तर्दृष्टि के द्वारा समाजवादी संस्कृति को समृद्ध किया है, जैसे गोर्की ने अपने उपन्यास 'माँ' के द्वारा किया। लेनिन ने यह सीख तोल्स्तोय सहित अन्य समाजवाद-पूर्व महान् लेखकों के उदाहरणों से ली। वे सत्यों के अन्वेषक थे, न कि पूर्वस्थापित आदेशों का पालन करने वाले दलाल। समाजवादी लेखकों ने उस रवैये को जारी रखा और अभी भी जारी रखे हुए हैं जोकि ऊपर से नीचे तक पक्षधर हैं।[२०]

यह एक चमत्कारिक तथ्य है कि लेनिन ने, जो एक महान् प्रतिभाशाली राजनीतिज्ञ और क्रांतिकारी, असाधारण दार्शनिक और अर्थशास्त्री था, अपनी साहित्यिक आलोचना में भी कुछ असाधारण विशेषताएँ प्रदर्शित की हैं। यह एक प्रतिभा के देदीप्यमान होने का उदाहरण है, क्योंकि मैंने जो सामग्री उद्धृत की उसके बिखरे हुए टुकड़े स्पष्टतः संकेत देते हैं कि यह ऐसा ज्ञान-क्षेत्र था जिसमें लेनिन कभी-कभार प्रवृत्त होते थे, सो भी राजनीतिक उद्देश्यों—तात्कालिक राजनीतिक उद्देश्यों के लिए, अथवा कुछेक लेखकों और कुछेक कृतियों में विशेष रुचि होने के कारण। अन्य मामलों उन्होंने अपने निर्णय यदा-कदा टिप्पणियों के रूप में ही दिये हैं जिन्हें वह खास महत्त्व नहीं देते थे, और यह मन्तव्य तो उनका कदापि नहीं था। उसकी रुचियाँ या सामान्य टिप्पणियाँ कभी ऐसे आधारलेख बन जायेंगी जिनसे कोई लेनिनवादी सौन्दर्यशास्त्र की रूपरेखा तैयार करेगा।

मार्क्स और एंगेल्स द्वारा कभी स्थापित स्थापनाओं की ओर लेनिन की वापसी, जिनकी लेनिन को कोई जानकारी नहीं थी, एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य है, लेकिन हमारे लिए सर्वाधिक रोचक है कलात्मक समस्याओं पर उनका द्वंद्वात्मक दृष्टिकोण[२१] उन्होंने जो कुछ कहा है, उसमें कृति तथा कृतिकार हमेशा ही सामाजिक, राजनीतिक पार्टी के मसलों के सन्दर्भ में सामने आते हैं, और साथ ही, वह उन्हें सापेक्षिक स्वायत्तता भी प्रदान करते हैं। प्रस्थापनाओं की स्वल्पता के बावजूद यह महान् विरासत है। आज का मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र लेनिन का दाय उठाने की कोशिश करता है—एक ओर उन सरलीकरणों का विरोध करते हुए, जो कला-कृति को महज़ किसी सामाजिक स्थिति की उपज बनाकर पेश करते हैं, और दूसरी ओर उन धारणाओं का भी विरोध करते हुए, जो साहित्य और कला को उनके सामाजिक आधार से जुदा करती हैं।[२२]

अन्त में, मैं लेनिन की उन दो विशेषताओं की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा जो उनकी प्रत्येक गतिविधि की भाँति उनके सौन्दर्यशास्त्र-सम्बन्धी लेखन में भी प्रकट हुई हैं: उनकी प्रतिभा और उनकी विनम्रता। कला और सौन्दर्यशास्त्र के विषय का विशेषज्ञ न होने के कारण (यह तथ्य वह स्वयं स्वीकार करते थे) वह विशेषज्ञों के निर्णय को स्वीकार कर लेते थे। साथ ही, एक राजनीतिज्ञ और दार्शनिक होने के रूप में उन्होंने ऐसे विचार और सुझाव रखे जिन्होंने विशेषज्ञों के लिए एक नींव रखी। अपने कृतित्व में एक साहित्यिक आलोचक होने के नाते लेनिन ने दो परस्पर-सम्बद्ध गुण प्रकट किये जो उन्हें एक आदमी बोल्शेविक पार्टी के एक नेता, और एक विद्वान् के रूप में विशिष्ट बना देते हैं; वे दोनों गुण हैं: क्रांतिकारी गठन और मानवता।[२३]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाद-टिप्पणियाँ

१. देखें-लूनाचार्स्की का लेख "लेनिन और साहित्य" (१९३२, उनके ग्रंथ "साहित्य सम्बन्धी लेख" में पुनर्मुद्रित, मास्को १९५७, पृ० १३-६१), तथा "साहित्य और कला पर लेनिन" (मास्को १९५७) में बी रियूरिकोव की भूमिका "वी० आई० लेनिन तथा साहित्य-सम्बन्धी प्रश्न।"

२. इस सामग्री में प्रस्तुत समस्याओं पर विभिन्न पोलिश लेखकों ने, उल्लेख्य तौर पर सेंट ज़ोलिफएव्स्की तथा एच० मार्कि-एविक्ज़ ने विचार किया है।

३. देखें—एस० मोराव्स्की, "श्लेष या बहु-कार्यपरता ?" ["अध्ययन और बहस के लिए सामग्री" वारसा, १९५५, सं० २१।२२], और आर० इंगार्देन, "साहित्यिक कृतियों का ज्ञान", १९३७, खंड ४ और ५।

४. देखें—एस० मोराव्स्की, "एफ० मेहरिंग के सौंदर्यशास्त्रीय मतों के सम्बन्ध में कुछ विचार" [स्तूदिया फिलोज़ोफ़िच्ज़ने, १९५६; सं० ६ (१५) तथा "फ्रांज़ मेहरिंग का सौंदर्यशास्त्र" (रिविस्त)]। [दि एस्तेतिका, १९६०. सितम्बर-दिसम्बर]।

५. प्लेखानोव १९०२ से १९११ तक तोल्स्तोय पर जमकर चिंतन करता रहा। १९०२ में वह एल० अक्सेलरोद की पुस्तक "टॉलस्टॉयज़ वेल्टेनशाउंग उंड इहरे एंटविकलुंग" की समीक्षा लिखना चाहता था। १९०७ और १९११ के बीच तोल्स्तोय पर प्लेखानोव-लिखित अनेक लम्बे-लम्बे लेख पार्टी के पत्रों में प्रकाशित हुए। १९०७ में प्लेखानोव ने 'तवारिश' नामक पत्रिका में पड़ोसी से बिना शर्त प्यार के पक्ष में तोल्स्तोय के प्रचार के खिलाफ उस पर आक्रमण किया। १९०८ में प्रारम्भ किये गये, प्रकृति से तोल्स्तोय के सम्बन्ध पर एक प्रकाशित लेख में उसने दिखाया कि प्रकृति के सौंदर्य के प्रति अपनी उल्लेख्य संवेदनशीलता के बावजूद तोल्स्तोय को कभी शांति प्राप्त नहीं हुई, क्योंकि मनुष्य की नश्वरता के विचार ने हमेशा उसे नष्ट किया। १९१० में 'ज़्वेज़्दा' में प्रकाशित एक लेख में प्लेखानोव ने स्पष्ट किया कि वह तोल्स्तोय को "आद्योपान्त" क्यों पसन्द करता था। उसे विचारक के रूप में तोल्स्तोय उलझा हुआ, दुखमय लगता था, और उसकी नैतिक शिक्षाएँ पूरी की पूरी भ्रांतिपूर्ण। उसके दीर्घतम लेख (१९११ में मिस्ल, 'सोत्सियलदेमोक्रेत' और 'ज़्वेज़्दा' पत्रिकाओं में प्रकाशित) तोल्स्तोय की ईसाइयत के खिलाफ़ एक अनवरत शास्त्रार्थ थे। इस शास्त्रार्थ की एक अपनी विशेषता यह थी कि प्लेखानोव कुछ अंशों को—उदाहरण के लिए "अन्ना कारेनिना" और "युद्ध तथा शांति" में—तोल्स्तोय के दार्शनिक तथा सामाजिक विचार समझता था, तथा उनकी तुलना मार्क्स के विचारों से करता था।

६. लेनिन ने इस (परावर्तन-बिन्दु) को सिद्ध करने के लिए (सोत्सिअलदेमोक्रात, १९१०, सं० १८ में) एक विशेष लेख "क्या यह परावर्तन का आरंभ हो सकता था," लिखा—

७. लेनिन, "ओ लितरातूर्जे" (साहित्य के सम्बन्ध में), वारसा, १९५३, पृ० १४।

८. वही, पृ० १७।

९. वही, पृ० ३६।

१०. यह बहस "ज़ेज़ित्ती तेओरेतित्स्ज़्नो पोलितित्स्ज़्ने" १९५७, सं० १२(४३) और १९५८, सं० १-२।४४-५५ में छपी थी।

११. साहित्य और कला पर लेनिन", उपर्युक्त पुस्तक, पृ० २४५। कई वर्ष बाद लूनाचार्स्की ने भी इसी तरह लिखा है, जब वह RAPP की प्रस्थापनाओं का खंडन कर रहा था, जिनकी मान्यता थी कि लेखक की 'diamat' विश्व-दृष्टि, अर्थात् उसका दर्शन उसकी कृतियों के यथार्थवाद को नियमित करता है। 'समाजवादी यथार्थवाद' शीर्षक एक समीक्षा में, फरवरी १९३३ में लूनाचार्स्की ने घोषित किया कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में गहरी पैठ के बिना भी एक समाजवादी-यथार्थवादी होना संभव है, और यह कि सृजन-प्रक्रिया का अतिशय तार्किकीकरण कृति के कलात्मक चरित्र को नष्ट कर देता है। धारणात्मक योजनाओं का प्रभाव कलाकार पर वैसा ही पड़ता है जैसा कि किस्सों में मशहूर शतपद पर हुआ जो यह सोचने में लग गया कि उसके कदम किस क्रम से उठें और इस चक्कर में जहाँ का तहाँ खड़ा रह गया।

१२. लेनिन, 'ओ लितरातुर्जे', उपर्युक्त पुस्तक, पृ० ५७।

१३. इन सवालों का सूत्र गोर्की द्वारा लेनिन के साथ लंदन के एक संगीत भवन में जाने के विवरण में मिल सकता है। गोर्की ने लिखा है कि एक सनकी कार्यक्रम में मसखरों को देखकर लेनिन प्रसन्न हुए। लेनिन ने कहा कि सनकीपन प्रचलित रीतियों की तार्किक असंगति को रेखांकित करके एक व्यंग्य उद्देश्य की पूर्ति करता है।

१४. देखें—बी० मीलाख, 'लेनिन इ प्रोब्लेमी रुस्कोई लितरातुरी' [लेनिन और रूसी साहित्य की समस्याएँ], मास्को, १९४७, और एम० एस० कागन, '१९०५-१९०७ क्रांति का रूसी सौंदर्यशास्त्रीय विचारणा पर प्रभाव' [उकोनी ज़ापिस्की एल० जी० यू०, सेरिया इस्तोरिकेस्किख नौक, १९५६, सं० २२०।]

१५. एम० एस० कागन से उद्धृत, उपर्युक्त रचना, पृ० २८।

१६. वही, पृ० २९।

१७. लेनिन, 'ओ लितरातुर्जे', उप० रचना, पृ० ९।

१८. वही, पृष्ठ ११।

१९. कला और साहित्य पर अक्तूबर-पूर्व 'प्रावदा', मास्को-लेनिनग्राद. १९३७।

२०. 'पक्षधरता' के इन तीन अर्थों का भेद न समझ सकने के कारण अक्सर ही उन कलाकारों पर (और यहाँ तक कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेनिन का हवाला देकर) दोष मढ़ दिया जाता है जो अपने निजी ढंग से सत्य की तलाश करते हैं।

इन मार्क्सवादी (मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन के पद्धति-बद्ध कथनों में कही गयीं) प्रस्थापनाओं से टी० एस० इलियट की प्रस्थापनाओं की तुलना करना रोचक होगा, जो अपने ढंग से कलाकृति की विशिष्ट प्रकृति और सर्जक की प्रतिबद्धता, दोनों की वकालत करता है। 'दि यूस ऑव पोएट्री एंड दि यूस ऑव क्रिटिसिज़्म' (१९३३) में हम पढ़ते हैं कि कविता को ऐसा दर्शन होना चाहिए जो अनुभूत हो, न कि चिंतित। अपने 'सेलेक्टेड एसेज़' (१९५३) में इलियट ने कविता का बचाव 'महत्त्वपूर्ण भाव' के रूप में किया और कलाकार से सचेत दार्शनिक अभिमुखता तथा अपनी कृति में उसकी व्यक्तिगत अभिव्यक्ति का आह्वान किया। टी० एस० इलियट धार्मिक कविता का प्रवक्ता है और उसका दृष्टिकोण मार्क्सवादी दृष्टिकोण के नितान्त विपरीत है। इसके बावजूद, उसका उदाहरण महत्त्वपूर्ण है। यह प्रदर्शित करता है कि कलाकृति की विशिष्ट प्रकृति, कला के मानवीय पहलुओं और कलाकार की प्रतिबद्धता एक सामान्य ढंग से पक्ष लेना काफी नहीं है, आपको आगे बढ़ना पड़ेगा और साफ-साफ बतलाना पड़ेगा कि कोई भी व्यक्ति किन्हीं पहलुओं को क्यों स्वीकारता है और अन्यों को क्यों अस्वीकार करता है; और कौन-सी प्रतिबद्धता मद्दे-नज़र है।

२१. इस दृष्टिकोण से लेनिन के सौन्दर्यशास्त्रीय विचारों की एक रोचक व्याख्या जी० मोरपर्गो-तैग्लियान्युए ने 'ल' एस्थीतिक कंतेपॅरेन' (मिलान, १९६०, पृ० २९८-३०१) में दी है। वह कला की प्रकृति और दायित्व पर लेनिन के विचारों को हेगेलीय धारणा 'टोटैलिटाट' से जोड़ता है।

२२. देखें—ए० हाउज़ेर, फिलॉसफी डेर कुंस्टगेशिश्टे, म्यूनिख, १९५८, पृ० २६०-३०६।

२३. कलाकृति के ताने-बाने में रची विश्व-दृष्टि का एक उत्कृष्ट और विश्वसनीय विवेचन। अमरीकी सौंदर्यशास्त्री जे० हॉस्पर्स ने 'साहित्य में सन्निहित सत्य' शीर्षक लेख में 'द जर्नल ऑव एस्थेटिक्स एंड आर्ट क्रिटिसिज़्म' पत्रिका शरद, १९६० के अंक में किया है।

[अनुवादक : गिरधर राठी, 'साइन्स एंड सोसाइटी' नामक त्रैमासिक पत्रिका के शरत, १९६५ के अंक से साभार।]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्तिगत विरोध-पत्र

विष्णुचंद्र शर्मा

एक : अपने जनतंत्र में

जनतंत्र के चार दरवाज़े हैं
पहले दरवाज़े की
मंत्रीजी ताली दबा कर बैठे हैं
दूसरे दरवाज़े पर लालाजी
कर्ज़ का फंदा फैलाकर बैठे हैं

अपने जनतंत्र के
तीसरे दरवाज़े पर सागर है
सागर में बेड़े के चौकीदार
रोशनी बुझाकर बैठे हैं

अपने जनतंत्र के
चौथे दरवाज़े पर पर्वत है
पर्वत में सेंध लगा
देशवासी बैठे हैं

संसद में पलटू साब चढ़े हैं
मंगन चमार पर
अपने जनतंत्र की खबर है
चौथे दरवाज़े पर
भगदड़ मची है।

दो : न्यायिक जाँच की रिपोर्ट

दंगे में
रँगे हाथ पकड़ा है
एक काली टोपी को
एक मैली नेकर को
एक फटे बाँस को।

दंगे में
रँगे हाथ पकड़ा है
एक पीली कोठी में
एक भगुए चेहरे के
एक चीकट नेता को

दंगे में
रँगे हाथ पकड़ा है
गणतंत्र दिवस पर
एक बड़े जादू से
उल्टे खड़े साँड को

तीन : अभिनंदन-पत्र

महामहिम राज्यपाल !
पिछले चन्द सालों में आपने
कई शेर मारे हैं

महामहिम !
आपके राज्य में
जंगली सियार बढ़ गये हैं

महामहिम !
संसद के हाथ-पैर बाँधकर
आपके राज्य के विधायक बिक रहे हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महामहिम !
पश्चिम में, उत्तर में, पूर्व में
बीस साल बाद भी
आप ही बड़े हैं

महामहिम !
आपके आसपास हाथ जोड़े
आज भी
चौपाये खड़े हैं

चार : **माँ के सामने**

मैंने हर बार तुम्हारे सामने
जीत का पासा फेंका था
और हर मोर्चे पर हारने के बावजूद
मैं तुम्हारे सामने
ज़हरवाद से चीरी हुई पिता की टाँग को
माँजता रहा
योद्धा की तरह
मैं तुम्हारे सामने रहा

गो मैं कहीं हार नहीं रहा था
मुझे किसी ने पछाड़ा नहीं था
मैं कहीं लड़ा नहीं था

माँ
मैं केवल ज़हरवाद से कटी
पिता की टाँग को घुमाकर
अपने-आपको मज़बूती से
तुम्हारे सामने रख रहा था !

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय काव्यशास्त्र की नई व्याख्या

राममूर्ति त्रिपाठी

काव्य के शास्त्र से अभिप्राय उसके शासन से है—नियम-विधान से हैं। शास्त्र इसीलिए 'शास्त्र' माना जाता है कि वह शासन करता है, अंकुश रखता है—कवियों को निरंकुश होने से रोकता है। कतिपय साहित्यशास्त्रियों ने काव्यशास्त्र या काव्यशासन की जगह 'काव्यानुशासन' शब्द का ठीक उसी प्रकार प्रयोग किया है जैसे व्याकरण के भारतीय चिंतकों ने 'शब्दानुशासन' का। महाभाष्यकार पतंजलि ने शब्द-प्रयुक्त शब्द-लक्ष्य—का अनुगामी रहकर शब्द-शासन की बात कही है। लक्ष्य के अनुरूप ही नियमों का निर्धारण किया है—लक्ष्य को ध्यान में रखकर लक्षणों का विचार किया है—न कि लक्षणों के द्वारा लक्ष्य का स्वरूप निर्धारित किया है। कहा भी गया है—"लक्ष्यैकचक्षुष्काः वैयाकरणाः।" ठीक इसी प्रकार जब हेमचन्द्र या वाग्भट 'काव्यानुशासन' की बात करते हैं अथवा दशरूपककार उत्कृष्ट रचनाओं को देखकर नियम बनाने की युक्ति प्रदर्शित करते हैं तब वे भी शब्दविदों की भाँति शासन नहीं, अनुशासन का ही समर्थन करते हैं। काव्य का अनुशासन ही काव्य का शास्त्र है।

बात यह है कि शासन या नियम-निर्माण बुद्धि का कार्य है और काव्य उसकी अपेक्षा और भी महत्त्वपूर्ण किसी **सर्जनात्मक शक्ति** का—जो केवल संश्लेष को जानती है—समग्र से परिचित है—उसके द्वारा की गई सृष्टि में कौन कहाँ से आकर किस अनुपात में किस तरह आवयविक विकास की अखण्ड प्रक्रिया में जुट गया—इसका उसे पता नहीं। यह अवश्य मानने की बात है कि हर कविता उस सर्जनात्मक शक्ति का प्रसव नहीं होती। कौन-सी रचना सर्जनात्मक शक्ति की प्रसूति है—इसका निकष भी सबका हृदय नहीं हो सकता—तभी तो किसी को लिखना पड़ा कि 'तार सप्तक' लाला भगवानदीन के हाथों पड़कर अपना प्राप्य नहीं पा सकता। सहृदय, समीक्षक या समझदार को काव्यधारा और जीवनधारा के सम्पर्क में रहकर अपनी समझ या ग्रहण-शीलता को निरन्तर ताज़ा रखना पड़ता है। जिस समझदार में इस ग्रहणशील वृत्ति की ताज़गी अन्य दोनों सम्पर्कों के अभाव में मर जाती है—उसमें अनुशासन की क्षमता नहीं आ सकती—वह अनुरूप प्रतिमान नहीं निर्धारित कर सकता।

कतिपय चिंतकों की धारणा तो यह है कि न तो काव्य का अनुशासन तात्त्विक भूमिका पर सम्भव है और न काव्य के लिए उसकी कोई आवश्यकता ही है। पहली बात इसलिए मान्य है कि कविता अपने हर प्रयास में सर्जनात्मक शक्ति 'नवता' से संवलित रहती है, अतः अनुशासन रखने वाली बुद्धि हमेशा पीछे ही रह जाती है और दूसरी बात भारतीय काव्यशास्त्रियों के साक्ष्य पर इसलिए सही है कि वे काव्य को महज़ आस्वाद की वस्तु मानते हैं—उनका सर्वाधिक मान्य रसात्मक प्रतिमान केवल आस्वाद की निरतिशयता या तारतमिकता बताता है। निरतिशयता रस की अपनी स्वरूपगत विशेषता है जबकि तारतमिकता ग्राहक के संस्कार और व्यंजक सामग्री की। वास्तव में भारतीय काव्यशास्त्रियों के रसात्मक प्रतिमान में आस्वाद या प्रीति के साथ-साथ व्युत्पत्ति अथवा मूल्य की बात इस कदर अपरिहार्य अंग बन गई है कि उसे अलग से न कहकर भी कह दिया गया है। इसीलिए रसात्मक प्रतिमान के विषय में यह कहना कि वह मूल्यांकन की ओर उन्मुख नहीं है—सही भी है और नहीं भी। सही इसलिए कि वह काव्य का लक्ष्य चर्वणा या आस्वादमात्र मानता है और नहीं भी—इसलिए कि आस्वाद-उत्पादक-अवयव **समाज-निर्धारित-औचित्य** (मूल्य) गर्भित होते ही हैं—अन्यथा 'आस्वाद' की निष्पत्ति ही न हो सकेगी। तभी तो आनंदवर्धन ने कहा—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्यकारणम् ।
औचित्योपनिबंधस्तु रसस्योपनिषत् परा ।।

यह औचित्य सामाजिक मूल्य ही है जिसे रससिद्धांती काव्येतर मूल्य कह दिया करते हैं—वस्तुतः यह पक्षपाती उदग्र दृष्टि की परिणति है। औचित्य या मूल्य वह तत्त्व है जो जीवन और काव्य के भेद को समाप्त करता है। वह काव्येतर होकर भी काव्य की है—यदि ठीक ढंग से सोचा जाए। निष्कर्ष यह कि भारतीय काव्यशास्त्र-काव्यानुशासन काव्य का रसात्मक प्रतिमान—सब-कुछ है, अर्थात् प्रतिमान भी, आस्वाद प्रक्रिया भी और आस्वाद भी साथ ही। 'बाई-प्राडक्ट' के रूप में मूल्यांकन कर तथा स्वयं संश्लिष्ट होने से मान में शाश्वत क्षम और काव्य के साथ-साथ चलने में समर्थ। निस्संदेह यह बड़ा ही समर्थ प्रतिमान है। वर्तमान जीवन और जगत् में उन तमाम औचित्य-नियामक मूल्यों का विघटन चल रहा है जिन्हें रस-निष्पत्ति के लिए अनिवार्य समझा जाता है। इसलिए अनुरूप सामग्री की योजना ही सम्भव नहीं है। मनुष्य ने, उसके द्वारा निर्मित समाज ने अपनी सुदीर्घ यात्रा में जिन मानवीय मूल्यों को अर्जित किया है वे टूट रहे हैं। मेरा विश्वास तो यह है कि वे टूट नहीं रहे हैं वरन् पुनः प्राणार्जन की आन्तरालिक प्रक्रिया में हैं। यदि जीवन, जगत् और कविता में कोई सर्जनात्मक शक्ति है तो उसकी सार्थकता, उसके अस्तित्व का प्रमाण इसी में है कि संघटन और विघटन उभयविध प्रक्रिया में निर्माण की ओर ही अग्रसर हों। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी प्रश्न किया है कि विद्रोह और संघर्ष किसके प्रति ? जिस डाली पर मानव और समाज बैठा है—उसी के प्रति ?

जो भी हो—सवाल यह है कि जो प्रवृत्ति छायावाद के अनन्तर हिन्दी साहित्य में अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित हुई है—उसको व्याख्यायित करने में, उसके सौन्दर्य-परीक्षण में, उसको समझने-समझाने में भारतीय काव्यशास्त्र कहाँ तक समर्थ है ? सवाल इतना ही नहीं है बल्कि यह भी है कि भारतीय प्रतिमानों में ऐसी संभावनाएँ भी हैं क्या—जिन्हें छायावादोत्तर नई काव्यधारा को व्याख्यायित करने में उपयुक्त किया जा सकता है ? 'भाषा और संवेदनाकार' ने तो स्पष्ट घोषणा कर दी है कि नई काव्यधारा के सौन्दर्य-विश्लेषण में प्राचीन भारतीय प्रतिमान अक्षम हैं—उनमें अब ऐसी कोई संभावना भी नहीं शेष है जिसे नई काव्यधारा के सन्दर्भ में उघाड़ा जा सके। भारतीय काव्यशास्त्र से अपरिचित ऐसे तमाम काव्यचिंतक हैं जिनके उद्धरण इस संदर्भ में प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

छायावादोत्तर काव्यप्रवृत्तियों और उसके आलोचकों की बात तो विचारणीय है ही—एक समय था जब स्वच्छन्दतावादी या छायावाद के समीक्षक ही यह कहने लग गये थे कि काव्य के उस रूप के सौन्दर्य-परीक्षण में पुरातन भारतीय प्रतिमान अपर्याप्त हो गये हैं। परन्तु ज्यों-ज्यों छायावादी आस्वाद और भारतीय प्रतिमान (रस-ध्वनि) नज़दीक आते गये—त्यों-त्यों उनका अजनबीपन मिटता गया। एक तरफ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी 'भावनिरूपण के पद्धतिबद्ध रूप' को हेय बताते हुए भी युगोचित परिष्कार के साथ 'रस' को काव्य की निर्विवाद आत्मा घोषित करते हैं और दूसरी ओर प्रसादजी 'छाया या प्रतीयमान' अर्थ को काव्य का सर्वस्व कहते हैं। उक्त स्थापनाओं द्वारा इन कवि और आलोचकों ने भारतीय प्रतिमानों में निहित संभावनाओं को देखा है और उसे छायावादी साहित्य के लिए भी उपयोगी माना है। स्वच्छन्दतावादी साहित्य के विषय में कतिपय चिन्तकों की यह धारणा भी थी कि इस साहित्य से अभिव्यक्त सौन्दर्य का संवेदन काव्यगत विषय से आगे बढ़कर कवि की अन्तरात्मा के साक्षात्कार से संभव है। (क्योंकि ये लोग सौन्दर्य को आत्मनिष्ठ मानते हैं) जबकि रस का ग्रहण काव्यगत विषय (विभावादि) से ही हो जाता है, अतः रसवादी प्रतिमान की बात फिर भी निरर्थक है। वस्तुतः यह आक्षेप रस के मध्यकालीन माध्यम-प्रधान अथवा ढाँचा-बद्ध विजड़ित रूप को ध्यान में रखकर किया गया है—न कि आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त की मूल धारणा को समझकर। आनन्दवर्धन की रसविषयक धारणा पर्याप्त संभावनाओं से संवलित है। उन्होंने तो रस को ऐसी अनुकूल मनोवृत्ति या चित्तदशा माना है जो काव्यवर्णित वस्तु या स्थितियों से उत्पन्न होती है—साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि ग्राहक काव्य विषय का ग्रहण करता हुआ रसावेश में कवि की प्रतिभा का भी साक्षात्कार कर लेता है। इसी प्रकार प्रगतिवादी भी पहले 'रस' से मुँह बिचकाते थे, किन्तु अन्ततः उन लोगों ने भी यह स्वीकार किया कि यदि रस को विजड़ित कर देने वाले जाल को हटा दिया जाये तो रसवादी सरणि उन लोगों के बहुत काम की है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'नई कविता' के मर्मज्ञों ने इसकी मूल प्रेरक वृत्ति को ग़ैर-रोमांटिक कहा और अपनी सर्जनात्मकता में कविता को अपरिभाषेय माना। बताया यह भी कि 'कविता क्या है'—यह समझने के लिए कविता क्या नहीं है—यह समझना होगा। इसी सन्दर्भ में यह कहा गया कि '**कविता में भावावेग या रोमांटिक मनःस्थिति का होना अनिवार्य नहीं**'। छायावाद और प्रगतिवाद—उभयत्र भावावेग की संस्थिति मानी गई—एक का अवलंबन प्रकृति या नारी और दूसरे का धुएँ में सना मजदूर। फलतः रसात्मक प्रतिमान या अनुभावन की समस्या यहाँ तक कोई समस्या नहीं थी। समस्या वहाँ से आरम्भ हुई जहाँ काव्य सम्बन्धी पुरानी धारणाओं—छन्द, भावावेग आदि—को निषिद्ध मानकर भी कविता या सर्जनात्मकता की चुनौती का निर्वाह किया जाने लगा—जहाँ सर्जनशीलता के नये आयाम उद्‌घाटित किये गये—इसे भाषिक सर्जनात्मकता कहा गया।

इस प्रकार 'नयी कविता' में प्रायः समस्त पुरातन धारणाओं, कलात्मक उपकरणों तथा क्रमागत जीवन-मूल्यों के विरुद्ध विद्रोह और प्रस्थान की बात इस आशा से की गई कि काव्योचित सर्जनात्मकता या नवता के अंकुरित होने योग्य भूमियाँ और भी हैं—उनकी ओर भी दृष्टिपात होना चाहिए। कहा तो यह भी गया है कि 'नयी काव्यधारा' में जिस अनुभूति ने अभिव्यक्ति पाई है उसकी बुनावट और बनावट अपनी गुणात्मक विशेषताओं में भिन्न हो गई है और उसका कारण तेजी से होने वाले जीवनगत गुणात्मक परिवर्तन हैं। इस प्रकार ऊपर-ऊपर से विचार करने वालों ने यह स्थिर कर दिया है कि प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र या उसके द्वारा निरूपित काव्य प्रतिमान जिस 'लक्ष्य' को सामने रखकर बने थे—वह लक्ष्य अब अपनी समस्त विशेषताओं के साथ निःशेष हो चुका है। आज का 'नया कवि' अथवा 'युवा-कवि' जो कुछ दे रहा है, उसके लिए भारतीय प्रतिमानों में कोई सम्भावना शेष नहीं है। आज सामान्य, समाहिति, सामंजस्य और संश्लेष की जगह विशेष, व्यक्ति, बिखराव, द्वन्द्व और खण्ड-खण्ड की स्थितियाँ हैं। इस स्थिति में भारतीय काव्यशास्त्र को 'नयी काव्यधारा' के मूल्यांकन में या तो निःशेष मान लिया जाए अथवा उसकी नई व्याख्या द्वारा शेष सम्भावना स्पष्ट की जाय।

इसके पूर्व कि उक्त दोनों विकल्पों में से किसी एक की नयी काव्यधारा के संदर्भ में पुष्टि करें—एक बार पुनः देख लें कि ग्राह्य काव्य-धारा में भाव या भावना, सामान्य या व्यापकता और सामञ्जस्य या सौंदर्य की वृत्ति कहीं शेष है या नहीं। साथ ही यह भी देखें कि आस्ति और नास्ति पक्ष वाली रचनाओं में किसे इस धारा की चरम उपलब्धि स्वीकार किया गया है? प्रतिमान का निकष चरम उपलब्धि की रचनाएँ ही मानी जानी चाहिए। उन्हीं से प्रतिमान निकाले भी जाने चाहिए।

डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने ग़ैर-रोमाण्टिक काव्य की सम्भावनाओं पर विचार करते हुए कहा है कि कविता के लिए भावावेग अनिवार्य नहीं हैं। मतलब भावावेग निषिद्ध भी नहीं हैं। स्वयं अज्ञेय में भावावेग की स्थितियाँ मिलती हैं और इन स्थितियों में उत्तम रचनाएँ भी आई हैं। साथ ही यह भी लक्षित करने की बात है कि भावगत आवेग का निषेध हुआ—सामान्य भावबोध का नहीं—ताकि अनाविष्ट दशा का यथार्थ भी अभिव्यक्ति पा सके। भावबोध या रागात्मकता की स्वीकृति के साथ-साथ इस बात पर बल अवश्य दिया कि उन्हें उभारने वाले जटिल-जटिलतर रागात्मक सम्बन्धों को अधिक प्रकाश में लाया जाय। इसीलिए अज्ञेय प्रभृति लक्ष्यकारों का कहना है कि नई काव्यधारा में राग की जगह रागात्मक सम्बन्धों ने महत्त्व पा लिया है। कविता इसीलिए आज पहले की तुलना में जटिल-जटिलतर हो रही है क्योंकि सम्बन्ध वैसे हो गये हैं। पुरानी कविता जहाँ भीतर (भाव) से बाहर (रूप) की ओर आती थी, नयी कविता बाहर (जटिल संबंधों) से भीतर (भाव) की ओर आ रही है। भोगे हुए जीवन से उपलब्ध राग या भाव को उसकी प्रामाणिक यथार्थता में चित्रित करने के लिए यह प्रयत्न अवश्य हुआ है कि उसे न तो गलदश्रुभावुकता से रँगा जाय और न तो ओढ़ी हुई आइडियोलाजी से विकृत किया जाय। नई कविता की दिशा में दिखाई पड़ने वाली कतिपय शिथिलताओं की प्रतिक्रिया में युवा-कवि अपने आक्रोश और अनौपचारिक अभिव्यक्ति में आगे बढ़े और 'अकविता' या 'कवितांतर' तक पहुँच गये। दूसरी ओर नयी कविता में जिस भावुकता या भावना का स्वर दबे-मुंदे ढंग से रिस रहा था—नवगीत में वह समस्त युगानुरूप कलात्मक उपकरणों के साथ अपना स्वतंत्र प्रस्थान लेकर चला। नई कविता के भावात्मक और अ-भावात्मक प्रवृत्तियों के ये दो सीमान्तगामी शिखर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं—इनके बीच अन्यान्य प्रवृत्तियों की हरी-भरी घाटियाँ भी हैं।

युवा लेखन के विषय में मर्मज्ञों की विविध धारणाएँ मिलती हैं। श्री ओमानन्द सारस्वत आदि की धारणा है कि युवालेखन में कतिपय कृतियाँ या कृतिकार ऐसे हैं जिनमें काव्य या कवि का अन्वेष्य 'सहज' उभरता हुआ लक्षित हो रहा है। 'क्ष त्र ज्ञ' के संपादक को डर है कि समकालीन जीवन संदर्भों और केन्द्रीय स्थितियों से सीधे साक्षात्कार की चुनौती को अप्रासंगिक करने पर युवालेखन कहीं सम्भावनाहीन एकरसता का शिकार न हो जाय। उनकी धारणा यह है कि आक्रोश और विद्रोह का बेमानीपन अब स्वत:सिद्ध हो चुका है, चूँकि किसी ठोस बुनियादी चिन्तन के अभाव में नाराज़ भंगिमाओं की कोई तर्क-संगति नहीं है।

इस प्रकार नई काव्य-प्रवृत्ति में युवालेखन की अभी इतनी समीपी प्रवृत्ति है कि उसकी वयस्कता परीक्षणीय है। इसकी ऊँचाई, गहराई तथा प्रसार और व्यापकता अभी कोई सुस्थिर रूप नहीं ग्रहण कर सके हैं। फलतः न तो इस पर कोई प्रतिमान लागू किया जा सकता है और न इससे कोई प्रतिमान गढ़ा जा सकता है। दूसरी बात यह कि उस विद्रोह और विरोध में संभावनाहीन एकरसता का भय होता है, जिसके मूल में किसी मूल्य के प्रति आस्था नहीं है। ऐसा आस्थाहीन संघर्ष क्षयी और शुष्क हो जाता है। जहाँ मूल्यान्वेषण का बीज भाव नहीं है—वहाँ का विद्रोह और संघर्ष सर्जनात्मक नहीं वरन् अराजक और विध्वंसक होता है। एक तरफ भारत के सामूहिक मन में व्यवसायी युग द्वारा दमित मूल्य-प्राण जातीय मनोवृत्ति का बाहर आने के लिए द्वन्द्व और संघर्ष तथा दूसरी ओर व्यवसायी और अवसरवादी बलवती शक्तियों से पराजित—फलतः आकार ग्रहण करने में असमर्थ—इस दलदल का युवालेखन अजीब फाँसी भोग रहा है। इस संघर्ष का सर्वाधिक प्राणवत्ता में भोग निराला और मुक्तिबोध ने किया था—उनकी रचना ही इसकी साक्षी है। इसीलिए नई काव्य-प्रवृत्तियों के मर्मज्ञों का निर्णय है कि मुक्तिबोध और उनकी रचनाएँ नई काव्यधारा की चरम उपलब्धि हैं।

क्या ही अच्छा हो कि इसी चरम उपलब्धि को केन्द्र में रखकर भारतीय काव्य-शास्त्र के प्रतिमानों की परीक्षा की जाय और देखा जाय कि वे अपने पूर्व-व्याख्यात रूप में ही यहाँ लागू हो सकते हैं अथवा नई व्याख्या के साथ? निराला से लेकर मुक्तिबोध तक 'राम की शक्ति पूजा', 'असाध्य वीणा' एवं 'आशंका के दीप : अँधेरे में' अथवा 'ब्रह्मराक्षस' को विभिन्न रुचियों के लोगों ने एकमत से कविता और उत्कृष्ट कविता कहा है। विचारणीय है कि इन्हें कविता या उत्कृष्ट कविता कहने का आधार क्या माना गया है? क्या इसलिए कि इनमें घुटन, त्रास, खंड, वैयक्तिकता, असौन्दर्य, असामंजस्य, असमाहिति, द्वन्द्व, बौद्धिकता, निर्मूल्य विद्रोह, संघर्ष और रुक्षता है? या कोई इनसे बड़ी चीज है? क्या ये रचनाएँ इसलिए उत्कृष्ट हैं कि इनमें कोई आकर्षण नहीं है—एक बार पढ़ने पर ये बासी लगने लगती हैं? क्या है इन रचनाओं में जो इन्हें निरन्तर नवता और ताज़गी दे रहा है?

काव्य के सम्बन्ध में विचार करने वाला प्रत्येक आलोचक इस बात से सहमत है कि काव्य और अनुभूति (या संवेदना) का सहज तथा अविच्छेद्य सम्बन्ध है। बहस और विवाद केवल इस बात पर है कि आज काव्य में अनुभूति और संवेदना का अनुपात क्या है? उसका नियोजन किस स्तर पर है—साथ ही उसकी बुनावट और बनावट कैसी है? विचारणीय यह है कि 'नई कविता' और 'युवाकविता' की केन्द्रीय वृत्ति क्या है—संवेदना या ज्ञान? यहाँ 'संवेदना' और 'अनुभूति' की चर्चा विशेषतः इसलिए की जा रही है कि 'रस' से उसका सीधा सम्बन्ध है। संवेदना और अनुभूति पहले भी काव्य में महत्त्वपूर्ण थी और आज भी अन्तर यह आ गया है कि जहाँ पहले रूप और व्यापार की योजना संवेदना, अनुभूति राग या भाव से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखती थी—आज वे सम्बन्ध जटिल-जटिलतर हो गये हैं। इसीलिए जो (राग) वस्तु काव्य में सदा से अविशेष नहीं है—वह तो अविशेष है ही—पर युगीन प्रभाव के रूप में आज महत्त्व पा गये हैं—ये जटिलतर रागात्मक सम्बन्ध। अद्यतन कविता में 'अनुभूति' के स्वरूप पर विचार करते हुए भी श्री विजयदेव नारायण साही एवं डॉ० नामवरसिंह तो उसे हीरे की संरचना से उपमित करते हैं—जहाँ संरचना ही संरचना है और कुछ है ही नहीं। यदि आज की उत्कृष्ट कविता में अनुभूति ही निखालिस है—किसी अन्य विजातीय द्रव्य का वहाँ मिश्रण ही नहीं है—तब तो 'रस' (अनुभूतिमात्र) के विपक्ष में कुछ कहने को मिलता ही नहीं। यदि 'अनुभूति' के स्वरूप के विषय में ही कोई गहरा मतभेद हो तो उसे स्पष्ट उभरकर आना चाहिए। जिस प्रकार 'रस' का विरोध करते हुए उसकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वीकृति में अर्थवाद (व्याख्या) की अपेक्षा शर्त के रूप में प्रस्तुत की जाती है, वैसे ही मेरी भी जिज्ञासा है कि ये नव्य समीक्षक जिस 'अनुभूति' की बुनावट को हीरे की संरचना से उपमित करते हैं उसका भी विवरण और समन्वय व्याख्या के आधार पर दें तभी बात आगे बढ़ सकती है।

जब डॉ० नामवरसिंह उत्कृष्ट काव्य के प्रतिमान के रूप में अर्थवान् शब्द के माध्यम से आवयविक अखण्डता की बात करते हैं, मुक्तिबोध ज्ञानात्मक संवेदना और संवेदनात्मक ज्ञान की चर्चा चलाते हैं—ध्वनियों और चित्रों के साथ संवेदना प्रभाव के संवाद और आनुरूप्य पर बल देते हैं, गिरिजाकुमार माथुर संवेदना की कलात्मक अभिव्यक्ति को काव्य कहते हैं, काव्य के संदर्भ में भावपक्ष, बिम्बपक्ष और नादपक्ष के पारस्परिक सम्बन्ध की प्रत्याभिज्ञा को महत्त्व देते हैं, जब जगदीश गुप्त अनुभूति और अभिव्यक्ति की सच्चाई को ही काव्योचित 'नवता' का मूलमंत्र कहते हैं, जब अज्ञेय सर्जनात्मक शक्ति के अस्तित्व की पहचान एकांगिता की संभावना के निःशेष होने में स्वीकार करते हैं—जब 'पंत' आदि छायावादी झंकार में चित्र और चित्र में झंकार की समरसता को काव्य का निकष मानते हैं, तब सुदूरवर्ती भारतीय आचार्य—कुंतक, अभिनवगुप्त और आनंदवर्धन—का यह उद्घोष कि अलंकार और अलंकार्य की तात्त्विक भूमि पर अखण्डता, काव्योचित उपकरणों की परिवृत्यसहता, काव्य की सहज स्फूर्ति भी हमें निराश नहीं करते। अन्दर प्रविष्ट होकर सहानुभूति के साथ देखने पर ये सारे-के-सारे प्रतिमान काव्य के समस्त उपकरणों में एक सहजता की माँग पर केन्द्रित जान पड़ते हैं। भेद प्रतिमानों की मूल वृत्ति में नहीं है—युगोचित काव्यकृतियों के अनुरूप उनसे निर्गत अनुरूपों में है। ये उपरूप जड़ और विकृत हो सकते हैं—इन्हीं को मूल वृत्ति मानकर एक-दूसरे का खण्डन हो सकता है, पर यह सब स्वयं का अज्ञान है जो खाने खींचता है और कलह करवाता है। संदर्भ-सापेक्ष प्रतिमान भी प्रतिमान है, पर देखना यह है कि संदर्भ-सापेक्ष रश्मियों के विकरण की क्षमता प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र में है या नहीं—यदि नहीं तो नई व्याख्या की बात ही व्यर्थ है और हाँ तो अभी तो वे सम्भावनाएँ ही युगोचित रंगों में व्यक्त हो सकती हैं—नई व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि उन प्रतिमानों की मूलवृत्ति को परखा जाय और उसे सामयिक काव्य पर लागू किया जाय—उसके उपरूप निर्मित किये जाएँ।

भारतीय काव्यशास्त्र या कोई काव्यशास्त्र आलोचक का बौद्धिक प्रयास है। बुद्धि द्वारा ऐसे प्रतिमान का निर्माण है जो यथासम्भव काव्य के सौन्दर्य को अपरिणत प्रज्ञ जन तक भी पहुँचा दे। यदि सर्जनात्मक शक्ति बुद्धि से परे कोई क्षमता है तो बौद्धिक ढाँचों में काव्य का बहुत-कुछ आ जाने पर भी कुछ शेष रह ही जाएगा, इसीलिए इस भूमि तक पहुँचकर जो लोग मूल्यांकन, मानदण्ड और प्रतिमान पर प्रश्नवाचक चिह्न लगाना चाहते हैं—वे गलत नहीं हैं। बुद्धि और सर्जनात्मक अनुभूति—द्विविध शक्तियों का अर्ध-नारीश्वर मनुष्य एक तरफ अपने अथाह आत्माभिव्यंजन में स्वभावानुसार संतोष पाता है तो दूसरी ओर उसको बौद्धिक ढाँचों या खानों में बाँधने के प्रयास में भी; दोनों ही उसका स्वभाव हैं। तत्त्वतः जो भी सही हो—स्वभावतः दोनों चलते रहेंगे। अन्ततः प्रतिमान भी अपनी अखण्डता में उसी सहज और अथाह की ओर संकेत करके अपनी सीमा स्पष्ट करते हैं।

अभिप्राय यह कि बौद्धिक वैभव के प्रदर्शन का मानवीय स्वभाव शास्त्र-निर्माण की प्रेरणा देता है। काव्यशास्त्र का निर्माण करते हुए बुद्धि ने पहला खाना खींचा कथ्य और कथन सरणि का, वर्ण्य और वर्णना का। काव्य इन दोनों की अखण्ड स्थिति है फिर भी महत्त्व इसी वर्ण्य (अनुभूति) को दिया गया और कभी 'वर्णना' को। (संकल्पात्मक अनुभूति ही काव्य है, 'वर्णनाकाव्यमुच्यते')। 'वर्णनाकाव्यमुच्यते' की वर्तमान प्रतिध्वनि 'भाषिक सर्जनात्मकता' है। आनन्दवर्धन ने भी ध्वन्यालोक के चतुर्थ उद्योत में दो ऐसे उदाहरणों को लेकर जिनमें वर्ण्य एक है—फिर भी 'नवता' काव्य की आत्मा को लेकर, पूर्व पक्ष के रूप में उसका भार 'उक्ति वैचित्र्य' पर मढ़ा है। बाद में विचार किया है—"किमिद-मुक्तिवैचित्र्यम्? उक्तिर्हि वाच्यविशेषप्रतिपादिवचनम्। तद्-वैचित्र्ये कथनं वाच्यवैचित्र्यम्। वाच्यवाचकमोरविनाभावेन प्रवृत्तेः, वाच्यानां च काव्ये प्रतिभासमानानां यद्रूपं तत्तु ग्राह्याविशेषाभेदेनैव प्रतीयते तेनोक्तिवैचित्र्यवादिना वाच्य-वैचित्र्यमनिच्छताप्यवश्यमेवाभ्युगन्तव्यम्" अर्थात् यह उक्ति गत काव्योचित 'नवता' (भाषिक सर्जनात्मकता) है क्या? उक्ति वही न जो वाच्यविशेष का प्रतिपादन करने वाली वाणी होती है? तो फिर उक्तिवैचित्र्य का मतलब वाच्यवैचित्र्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं है ? क्या कभी वाच्यनिरपेक्ष वाचक की ओर वाचक-निरपेक्ष वाच्य की कल्पना संभव है ? एक-दूसरे का प्रयोग तो परस्पर सापेक्ष ही होता है। काव्य में वाच्य वस्तु और व्यापार जब बिंबात्मक रूप में ग्राहक की प्रतिभा पर प्रतिभासित होते हैं तब वैयक्तिक विशेषता को साथ लिये हुए। निष्कर्ष यह कि उक्तिवैचित्र्य या भाषिक सर्जनात्मकता की बात करने वाले को चाहे अनचाहे वाच्यवैचित्र्य या वाच्यगत काव्योचित नवता को स्वीकार करना ही पड़ेगा। निष्कर्ष यह कि सर्जना शक्तिजन्य काव्योचित 'नवता' काव्य के समूचे रूप से सम्बद्ध है—उसे काटकर देखना संगत नहीं है।

भारतीय काव्यशास्त्र या काव्य-प्रतिमान की बात करते हुए कहा यह जा रहा था कि बुद्धि कतिपय कल्पित खण्डों को लेकर विश्लेषणार्थ अग्रसर होती है—सर्जनात्मक अनुभूति अपने-आपमें आदि और अन्त में उसी प्रकार अखण्ड होती है जैसे धरती की क्षमता विशेषता (गंध) पुष्प के आदि और अन्त में (आदि में एक सर्जनात्मक शक्ति के रूप में और अंत में सौन्दर्य या गंध के रूप में)। विश्लेषण के लिए इस मध्यवर्ती रूप को खण्ड-खण्ड कर दिया जाता है। काव्य भी अपने आदि रूप में एक सर्जनात्मक क्षमता है और मुक्तिबोध के शब्दों में अन्ततः एक संश्लिष्ट सौन्दर्यानुभव। वे इस सौन्दर्यानुभव को जीवनानुभव द्वारा प्रदत्त मानते हैं। उन्होंने कहा है कि संवेदनात्मक उद्देश्य, विधायक कल्पना की क्रिया को चलित करते हैं। इन संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार जीवनानुभवों के तत्त्व कल्पना के संघटन विधानकारी हाथों से निराले और तरह-तरह के रूपों में प्रकट होते हैं। इस प्रकार जीवनानुभवों के तरह-तरह के पैटर्न कल्पना तैयार करती है, किन्तु उसकी क्रिया संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुशासन में रहती है। उनके अनुसार इस पूरी प्रक्रिया में सौन्दर्यानुभाव तब घटित होता है जब मनः पटल पर बिंबित कल्पनाओं, रूपों में डूबकर मन साधारण जीवन की अपनी निजबद्धता का परित्याग कर देता है'''संक्षेप में तन्मयता और तटस्थता-निजबद्धता से मनःपटल पर अंकित बिंबों में अपने स्वयं की व्यस्तता-संलग्नता—इन दो द्वन्द्वों की एक मनोदशात्मक परिणति ही सौन्दर्यानुभाव है।'''इसीलिए सौन्दर्यानुभव जीवन के सारस्वरूप का प्रगाढ़मार्मिक अनुभव है।" मुक्तिबोध को इतना लंबा सोद्देश्य उद्धरित किया गया है।

भारतीय काव्यशास्त्र ने भी एक **मनोदशात्मक परिणति विशेष** (चित्तवृत्तिविशेषा हि रसादयः न च तदस्ति वस्तु किञ्चियधन्न चित्रवृत्तिविशेषमुपजनयति, तदनुत्पादनेवा कवि-विषयतैव तस्यन स्यात्) को ही काव्य का लक्ष्य कहा है। अन्तर वहाँ आ गया है जहाँ युगोचित रूप, व्यापार और मानवीय सम्बन्ध बदल गए हैं—अन्तर सामग्री का है। इसी सामग्री को कथ्य और कथन में बाँटकर भारतीय काव्यशास्त्र ने जिन प्रतिमानों (वस्तुपरक रस सिद्धान्त, कलापरक-अलंकार, रीति, वक्रोक्ति) की चर्चा की थी 'ध्वनिसिद्धान्त' ने सबको आत्मसात् कर एक स्वस्थ रूप दिया। ध्वनिसिद्धान्त अपनी समग्रता से एक सशक्त काव्य प्रतिमान है—और खण्डता में—वस्तुसिद्धान्त (रस ध्वनि) और कलासिद्धान्त (वस्तु ध्वनि अलंकार ध्वनि)। इसीलिए ध्वन्यालोककार ने कहा है कि अभ्यास काल, पुनः प्राणार्जन काल या संक्रान्ति-काल में कविता चाहे जैसी हो किन्तु 'प्राप्तपरिणतीनां तु ध्वनिरवकाव्यमितिस्थितमेतत्" अर्थात् अभ्यासार्थियों के काव्य को आप चाहे जो कहें—पर परिणतावस्था में तो जो काव्य होता है, वह 'ध्वनि' ही है—ध्वनिकाव्य ही है।

ऊपर जिन तीन आधुनिक उत्कृष्ट रचनाओं की बात कही गई है उस पर भारतीय काव्यशास्त्र अर्थात् ध्वन्यात्मक प्रतिमान पूरे तौर पर लागू होता है। कविता वही **उत्कृष्ट होती है जो अभिव्यक्तिगत सहजता से हर समय के लोगों के संवेदना तंतुओं को स्पंदित कर सके (जिनके तंतु मर चुके हों उनकी बात अलग है)** अथवा **हर युग के अनुरूप, प्रत्येक परिवेश के अनुरूप व्याख्या की संभावनाएँ अपने भीतर रखे**। इन तीनों परिणत कविताओं में ये दोनों शर्तें मिलती हैं जो ध्वन्यात्मक प्रतिमान में निहित हैं। ध्वन्यालोककार ने ही कहा है कि महाकवि वह है जिसके शब्दों की झंकार हर युग वाले को अनुरूप सुनाई दे और पुनः-पुनः तन्मयकारिता पैदा कर सके। 'निराला' की 'राम की शक्ति पूजा', 'अज्ञेय' की 'असाध्य वीणा' और मुक्तिबोध की 'ब्रह्मराक्षस' या 'आशंका के दीप अँधेरे में'—इन सबमें दोनों बातें लागू होती हैं। 'राम की शक्ति पूजा' में राम के साथ तादात्म्य अनुभव करता हुआ पाठक बार-बार करुणा से भर उठता है। राम के आँसू के साथ-साथ पाठक के आँसू ढुलक पड़ते हैं। ब्रह्मराक्षस में कुबेरनाथ राय ने रसबोधक तत्त्वों का अस्तित्व देखा है जिनके कारण उन्हें (या किसी को)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुक्तिबोध की रचनाएँ बासी नहीं लगतीं। 'असाध्य वीणा' में भी कोई ऐसी चीज़ है जो उसे कोरी दार्शनिक स्थापना होने से बचाती है। व्यक्तित्व विलयन अथवा समर्पण जो रस सिद्धान्त की एक शर्त है—वह 'असाध्य वीणा' की रीढ़ है। निष्कर्ष यह कि जहाँ एक ओर इन कविताओं में मानवीय संवेदन तंतुओं को स्पंदित कर अपने को निरन्तर ताजी बनाये रखने की क्षमता है—वहाँ बदलते हुए परिवेशों के अनुरूप नई 'वस्तु' झंकृत करने की भी क्षमता है। 'राम की शक्ति पूजा' में निराला का वैयक्तिक जीवन-संघर्ष तात्कालिक स्वातंत्र्य-संग्राम में विदेशी आसुरी शक्ति के समक्ष नैतिक शक्ति से जूझते हुए गांधी, मानस जगत् में निरन्तर चल रहे आसुरी और मानवी शक्ति का द्वन्द्व और संकल्प की अंततः विजय अथवा सार्वभौम भूमिका पर चल रहे निरन्तर सत् और असत् का संघर्ष—कुछ भी बदलते परिवेशों के अनुरूप वस्तुध्वनि निकाली जा सकती है। इसी प्रकार 'असाध्य वीणा' से भी काव्यात्मक सर्जना के माध्यम से शाश्वत विराट् सर्जना की रहस्यमयी प्रक्रिया का संकेत झंकृत है। 'ब्रह्मराक्षस' में एक शाश्वत सत्य तो यही है जो सदा-सदा के लिए मनो-विज्ञान-सिद्ध उतर सकता है कि जातीय दमित वृत्तियाँ दोहरी यातना भोगती हैं—एक तरफ अकालग्रस्त जातीय सात्विक वृत्तियों का भारतीय ब्रह्मराक्षस मन की बावली में निवास करता है और दूसरी ओर उसके बाहर आती आवाजें साम्प्र-तिक व्यवसायवादी वृत्ति से दबा दी जाती हैं। इस वस्तु ध्वनि के अतिरिक्त अन्य प्रकार की ध्वनियाँ भी यहाँ संभा-वित हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि वस्तुपक्ष और कलापक्ष—दोनों को आत्मसात् करता हुआ तात्विक भूमिका का संकेतक ध्वनिसिद्धान्त आज भी अपने मूलरूप में ज्यों-का-त्यों प्रति-मान के रूप में ग्राह्य है। हां, तात्कालिक लक्ष्यों को देखकर जो खाने और ढाँचे तात्कालिक विवेचकों ने अवान्तर उपभेद के रूप में कहे हैं—उन्हें यथासंभव मानकर या लाँघकर नये उपरूपों की रचना का दायित्व आज के स्वस्थ समीक्षक पर है। अभिप्राय यह कि भारतीय साहित्य शास्त्र की मूल वृत्ति तो आज भी यथावत् ग्राह्य है—उपरूप नये हो सकते हैं।

काव्य में जिस अभिधा और लक्षणा की बात कही गई है—उन्हें व्यंजनामुखी कर दिया गया है और व्यंजना के ग्रहण की सामर्थ्य अंततः प्रतिभा पर छोड़कर उसकी संभावनाओं का द्वार उन्मुक्त रखा गया है। कहा है—

> **"…प्रतिभाजुषाम् योऽन्योर्थो व्यज्यते यत्र**
> **व्यापारो व्यतिरेव सा।"**

भारतीय काव्यशास्त्र में 'प्रतिभा' को अनन्त सिद्ध करने के लिए ही ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना कर रखी है। कहा जाता है कि गैर रोमांटिक 'नई कविता' अथवा 'युवालेखन' का मूल्यांकन छायावादी छद्म संस्कारों से मुक्त समझदार ही कर सकते हैं। ऐसे छद्म संस्कारों से आक्रान्त भावुक सहृदय नई कविता का मूल्यांकन नहीं, अवमूल्यन कर बैठते हैं। ऐसे लोगों को छायावादी रोमानियत और सौन्दर्यबोध तथा आइ-डियालाजी के अवशेष ही आकृष्ट करते हैं, नई धारा के प्रासाद नहीं। इसीलिए मैंने प्रतिमानों पर विचार करने के लिए कविता (चरम उपलब्धि) चुनी है—छायावादी या किसी वाद से आक्रान्त रचना नहीं।

मुक्तिबोध का 'अँधेरे में' युग के यथार्थ की परिणति है। इसमें छायावाद और नई कविता में उपलब्ध रोमानियत की संगीतात्मक परिणति का निषेध है। संगीत के हट जाने से उत्पन्न शून्यता को तनाव से भरा गया है। यह तनाव ही है जिसके कारण यह कविता गद्य नहीं हो सकी है। इसकी इन्हीं विशेषताओं ने इस कविता को नई कविता की चरम उपलब्धि और युवा कविता का संदर्भ ग्रन्थ बना दिया है। जिस प्रकार 'ब्रह्मराक्षस' का नायक भारतीय जातीय दमित वृत्ति है, इसी प्रकार इसका काव्य नायक श्रीकान्त वर्मा के शब्दों में "बेचैन, खण्डित, जर्जर, व्यग्र, स्वाधीनता के बाद का हिन्दुस्तान है जिसका शरीर और मन क्षत-विक्षत है। उसके चेहरे पर इतिहास की झुर्रियां, सीने पर गोली के घाव और अंतरात्मा में बेचैनी है। इस कविता की बनावट के जरिए अपने युग की मानसिक बुनावट का आभास दिया गया है। वह कविता मनुष्य के आत्मसंहार का भयानक और आक्रामक चित्र है।" मुक्तिबोध का दावा है कि यथार्थ अपनी कलात्मक परिणति में फैंटेसी बन जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविकर्म : सौन्दर्य का उत्स

विजेन्द्रनारायण सिंह

आधुनिक आलोचना के प्रसंग में यह भी विचारणीय है कि कविता में कवि के प्रच्छन्न व्यक्तित्व का क्या स्थान है। संस्कृत का काव्यशास्त्र समग्र सौन्दर्यशास्त्र में इसलिए भी विकसित नहीं हो सका कि उसने कवि-व्यक्तित्व के उस पक्ष पर विचार नहीं किया जिससे कविता में कवि के आभ्यन्तरिक संस्कार की खुशबू रहती है। नई समीक्षा का यह अति स्वीकृत मत है कि प्रत्येक अच्छी और मौलिक रचना अपने-आप में पूर्ण एक नया संसार है और उसकी परीक्षा के लिए नये नियमों की खोज उसी रचना में करनी पड़ती है। यदि विज्ञान का कोई नियम सुन्दर है तो इसका तात्पर्य यह होता है कि यदि कोई दूसरा वैज्ञानिक भी उस खोज में लगा होता तो परिणाम वही आता। यह वस्तुगत वैज्ञानिक तथ्य कविता पर लागू नहीं होता। यदि कोई कविता सुन्दर है तो इसका मतलब यह है कि उसी विषय पर यदि कोई दूसरा कवि लिखता तो कविता भिन्न हो जाती। इसलिए 'रामचरितमानस' वाल्मीकि की 'रामायण' से भिन्न रचना है और ताजमहल पर रवीन्द्रनाथ और पन्त की कविताओं में तात्त्विक अन्तर है। प्रत्येक कवि वस्तु के सौन्दर्य का भावन अपने ढंग से करता है और वस्तुवक्रता के नए-नए आयामों का उद्घाटन होता चलता है। संक्षेप में, 'कविता कवि के आन्तरिक व्यक्तित्व का प्रस्वेद' होती है।

संस्कृत काव्यशास्त्र इस बात की सन्तोषप्रद व्याख्या नहीं कर पाता है क्योंकि एक कवि की रचना दूसरे कवि की रचना से भिन्न होती है। यदि किसी भी रचना में गुणों एवं अलंकारों का उचित सन्निवेश और व्यंजना की शक्ति है तो वह उसे काव्य मान लेता है। आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' के प्रारम्भ में ही ध्वनि के जो उदाहरण दिए हैं उन्हें आज का समीक्षक ऊँची कविता का उदाहरण स्वीकार नहीं करेगा। इन आचार्यों ने इस समस्या पर सोचने का कष्ट ही नहीं किया कि वह कौन-सी चीज़ है जिससे 'रघुवंश' और 'नैषध' जैसे ग्रन्थ एक ही कोटि की रचना नहीं हो पाए। अभिव्यंजना के बहिरंग उपादानों के वर्गीकरण में संस्कृत के आचार्य इस कदर भिड़े रहे कि कविकर्म के इस पक्ष की ओर उनका ध्यान ही नहीं गया। संस्कृत काव्यशास्त्र का यह एक बड़ा अभाव है और इसका परिणाम यह हुआ कि कई बातें अविवेचित ही रह गईं।

कुन्तक से पहले के आलंकारिकों ने यह तो बतलाया था कि गुण और अलंकार काव्यशोभा के विधायक हैं लेकिन उन्होंने इस मौलिक प्रश्न को समझा ही नहीं था कि काव्य में वे किस वस्तु में शोभा का विधायन करते हैं। वे इस बात का अनुभव नहीं कर सके कि गुण और अलंकार सापेक्षिक शब्द हैं, वे गुणी और अलंकार्य की अपेक्षा रखते हैं। हालाँकि वामन गुण और अलंकार से परे किसी चीज़ की अपेक्षा कर रहे थे जिसे उन्होंने रीति की संज्ञा दी है, किन्तु आनन्दवर्धन ने उनकी उचित ही आलोचना की है कि रीतिवादियों ने काव्य की आत्मा का स्पष्ट रूप से साक्षात्कार किया ही नहीं था। देश के आधार पर वैदर्भी, गौडी और पांचाली आदि वर्गीकरण की निस्सारता कुन्तक ने उचित ही प्रमाणित की। उन्होंने पहली बार यह स्पष्ट किया कि रीति, गुण और अलंकार की धारणा कविकौशल से युक्त होकर ही औचित्य प्राप्त करती है।

रस-ध्वनिवादियों ने इस समस्या पर कवि नहीं बल्कि केवल सहृदय की दृष्टि से विचार किया है। यों, यह बात तो ठीक ही है कि कविपक्ष और सहृदय पक्ष में परस्पर कोई विरोध नहीं है। किन्तु विचार करने की प्रक्रिया में रसवादियों ने सामान्यतया कविपक्ष पर विचार नहीं किया है। लेकिन ऐसा लगता है कि काव्य में विभाव-पक्ष के द्वारा उन्होंने कविकर्म का संकेत किया है। तो भी यह सच है कि उन्होंने इस पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वतन्त्र रूप से विचार नहीं किया है। इसी तरह काव्य-प्रयोजन पर भी इन आचार्यों ने जो विचार किया है उससे भी यह प्रमाणित होता है कि वे समस्या के वास्तविक पहलू से कतरा रहे थे। कवि कविता इसलिए नहीं लिखता है कि उससे यश, अर्थ, व्यवहारकुशलता अथवा मंगल की प्राप्ति होती है। ये सब तो रचना के आनुषंगिक परिणाम हैं। कवि रचना इसलिए करता है कि उसके भीतर कोई चीज़ होती है जिसे सम्प्रेषित करने के लिए वह कुलबुलाया करता है। एक कवि जब रचना की पीड़ा से बेचैन हो जाता है तब वह रचे बिना रह ही नहीं पाता है। उस समय वह अर्थ या यश की एषणा से नहीं प्रत्युत् केवल सृजन की पीड़ा से रचता है।

यही त्रुटि काव्यहेतु—शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास के सिद्धान्त में भी दीखती है। शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास को सभी आचार्यों ने काव्य का हेतु माना था, किन्तु किसी ने भी कवि के व्यक्तित्व के संदर्भ में उसे देखने की कोशिश नहीं की। यह सही है कि कवि जब रचता है तब उसकी तरह-तरह की अनुभूतियाँ, उसके संस्कार, उसके अध्ययन आदि उसकी रचना के उत्पादन बनकर उपस्थित होते हैं। इसलिए रचना का रूप-रंग ग्रहण करने में उनका योग अवश्य है। अतएव ये आचार्य जब यह कहते हैं कि शक्ति के साथ व्युत्पत्ति और अभ्यास का भी योग होना चाहिए तब वे समस्या का सटीक विश्लेषण करते हैं। किन्तु कठिनाई वहाँ से शुरू हो जाती है जहाँ वे 'कवि को कवि बनाने' की बात करने लगते हैं। उदाहरण के लिए रुद्रट ने कविप्रतिभा को सहजा के साथ उत्पाद्या भी माना है। यह उत्पाद्या प्रतिभा व्युत्पत्ति द्वारा अर्जित होती है। इसी प्रकार यह अपेक्षा की गई कि कवि को सर्वज्ञ होना चाहिए। राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा' में रचना के स्रोतों में वेद, स्मृति, इतिहास, पुराण, मीमांसा और छह प्रकार का तर्कशास्त्र, अर्थशास्त्र, नाट्यशास्त्र और कामशास्त्र, लोकवृत्त, अन्य कवियों की रचनाएँ, चौंसठ कलाएँ आदि का उल्लेख किया है। इतना ही नहीं, उसे आयुर्वेद, ज्योतिष, वनस्पतिशास्त्र, अश्वगज लक्षण आदि में भी पारंगत होना चाहिए। आलंकारिकों का एक ऐसा भी वर्ग है जो कविशिक्षा को ही मुख्य बना लेता है। राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' काव्यशास्त्र से अधिक कवि-शिक्षा का ही ग्रंथ है। उसी प्रकार क्षेमेन्द्र ने भी 'कविकण्ठाभरण' में कविशिक्षा पर ही अधिक विचार किया है। वस्तुतः काव्यशास्त्र में यह दोष संस्कृत के उत्तरकालीन व्याकरण ग्रन्थों से संक्रमित हुआ है। अवश्य ही ऐसे विश्लेषणों और वर्गीकरणों का वैदुष्य के क्षेत्र में अपना महत्त्व और उपयोगिता है। किन्तु सम्प्रति हम यही कहना चाहते हैं कि इन आचार्यों ने कविकर्म के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पक्ष की उपेक्षा कर दी है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में कुन्तक का महत्त्व इसलिए भी है कि उन्होंने काव्य में कवि के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की। उनके एतद्विषयक मत को स्पष्ट करते हुए रुय्यक ने लिखा है—**'व्यापारप्राधान्यं च काव्यस्य प्रतिपेदे।'**[1] कुन्तक कविकर्म को ही काव्य मानते हैं: **'कवेः कर्म काव्यं।'**[2] उन्होंने 'यह उद्भावना की कि शक्ति और शक्तिमान दो नहीं, एक हैं। कवि की शक्ति उसके आन्तरिक व्यक्तित्व से उत्पन्न होती है। कविता और कुछ नहीं, कवि का कर्म है अर्थात् कविता उसके आन्तरिक व्यक्तित्व का प्रस्वेद है, उसकी आत्मा का रंग है, उसके संस्कारों की खुशबू है। कवि की शक्ति उसके स्वभाव से उत्पन्न होती है, कवि की व्युत्पत्ति उसके संस्कार से आती है तथा कवि का अभ्यास उसकी अपनी प्रकृति के अनुसार चलता है।"[3] इस प्रकार कुन्तक सौन्दर्य को वस्तुगत नहीं मानकर आत्मगत मानते हैं।

काव्य को कवि का कर्म मानना सौन्दर्यानुभूति के मूल स्रोत ही इंगित कर देना है। इस प्रकार कुन्तक की ओर भारतीय काव्यशास्त्र में चिन्तन की एक नई पद्धति का प्रवर्त्तन करते हैं। अपने 'जीवित' में वह जगह-जगह कविव्यापार की महिमा का व्याख्यान करते हैं। यथा:

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।

—हि० वक्रो० ।।७।।

फिर प्रथम उन्मेष की १४-१५वीं कारिकाओं की वृत्ति में वह लिखते हैं कि सब प्रकार से किसी भी पदार्थ के कवि-व्यापार के विषय रूप से वर्णनीयता को प्राप्त होने पर उसका सहृदयाह्लादकारी स्वभाव ही काव्य के शरीर रूप में वर्णनीयता को प्राप्त होता है। इसी बात की आवृत्ति वे प्रथम उन्मेष की सत्रहवीं कारिका की वृत्ति में करते हैं कि सारे वाङ्मय के प्राणभूत 'साहित्य' रूप कविव्यापार का ही वस्तुतः सबसे अधिक महत्त्व है। कारिका १८ की वृत्ति में वह कहते हैं कि कवियों का व्यापार ही कवि व्यापार है। कारिका २२ के 'व्यापारशाली वाक्यस्य' के व्यापार की व्याख्या करते हुए वह वृत्ति में लिखते हैं कि व्यापार यहाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तुत रचना रूप है : 'व्यापारोऽत्र प्रस्तुत काव्यक्रिया-लक्षणः।'

इस प्रकार कुन्तक की दृष्टि में काव्य में व्यापार की प्रधानता ही नहीं रहती है प्रत्युत् रचना ही कवि का व्यापार है।

यह कविकर्म या व्यापार ही मुख्य है। यह सभी सौंदर्य का मूल स्रोत है। इसके बिना काव्य वैचित्र्य या रमणीयता प्राप्त नहीं करता है। कुन्तक तीसरे उन्मेष की चौथी कारिका की वृत्ति में इस कविव्यापार की महिमा पर पूरा प्रकाश डालते हैं। उनके अनुसार रस, स्वभाव तथा अलंकार सबका कविकौशल ही प्राणभूत होता है। वह रस, स्वभाव तथा अलंकार तीनों में कवि व्यापार के चमत्कार का उदाहरण देकर अपने मंतव्य को स्पष्ट करते हैं। कविव्यापार की महत्ता को और भी स्पष्ट करने के लिए उन्होंने इसी कारिका के अन्त में दो अन्तरश्लोक भी दिये हैं। यथा—

वक्रतायाः प्रकाराणामौचित्यगुणशालिनाम्।
एतदुत्तेजनायातं स्वस्पन्दमहतामपि ॥२३॥

अर्थात् 'यह कविकौशल, अपने स्वाभाविक महत्त्व से युक्त और औचित्यशाली वक्रता के प्रकारों को भी उत्तेजित करने में समर्थ है।'

रसस्वभावालंकारा आसंसारमपि स्थिताः।
अनेन नवतां यान्ति तद्विदाह्लाददायिनीम् ॥२४॥

अर्थात् 'सृष्टि के आदि से स्थित रस, स्वभाव तथा अलंकार इस कविकौशल के द्वारा सहृदयों को आह्लाद देने वाली अपूर्वता को प्राप्त हो जाते हैं।' उनके शब्दों में अनगढ़ पत्थर के टुकड़े-सी मणि के समान, प्रतिभा से प्रतिभासमान वस्तु विदग्ध कविरचित वाक्य में उपारूढ़ होकर सान पर घिसे हुए मणि के समान मनोहर होकर सहृदयों के आह्लादकारित्व को प्राप्त करती है। कुन्तक का कहना है कि एक ही विषय में सावधान और असावधान कवि द्वारा रचित दो वाक्य प्रचुर भेद प्रदर्शित करते हैं। इस प्रकार वह कविप्रतिभा के अतिरिक्त एक स्वतंत्र कविव्यापार की उद्भावना करते हुए उससे काव्यसृष्टि संभावित मानते हैं। उनका यह कवि-व्यापार ही सभी प्रकार की रमणीयता का उत्स है।

जिस कविव्यापार को कुन्तक ने इतना महत्त्व दिया उसका बीज 'काव्यकौतुक' के रचयिता भट्टतौत में मिलता है। कुन्तक और अभिनवगुप्त दोनों ने इसी स्रोत से प्रेरणा ग्रहण कर इसकी व्याख्या अपने-अपने ढंग से की। भट्टतौत का 'काव्यकौतुक' अब प्राप्य नहीं है। अभिनव ने अपनी 'भारती' में भट्टतौत को जितना उद्धृत किया है उतने से ही स्पष्ट रूप से पता चलता है कि वह काव्य में कविकर्म की महिमा स्वीकार करते थे (तस्य कर्म स्मृतंकाव्यम्)। निश्चय ही इस तत्त्व को कदाचित् उन्होंने ही पहली बार उजागर किया और कुन्तक ने यह चीज वहीं से ली है। भट्टतौत ने यह बतलाया है अभिनय को प्राप्त हुए बिना काव्य से आस्वाद संभव है। यह कैसे हो पाता है? इसका उत्तर देते हुए वह कहते हैं कि वर्णनशैली के विस्तार एवं प्रौढ़ता के कारण सुन्दर रूप से अंकित उद्यानकान्ता, चन्द्रमा आदि प्रत्यक्ष के समान स्पष्ट प्रतीत होते हैं।[४] उनका तात्पर्य यह है कविकौशल से काव्य अभिनय को प्राप्त हुए बिना भी आस्वाद्य हो जाता है।

हेमचन्द्र ने भट्टतौत का एक श्लोक उद्धृत किया है। उस श्लोक का तात्पर्य है कि जब किसी को केवल दृष्टि है, तब तक ऋषि मात्र है, वह कवि तभी हो पाता है जब वह उस दर्शन को सुन्दर भाषा में व्यक्त करे, यानी कवि में वर्णन की सामर्थ्य होनी चाहिए। वर्णन के इसी माहात्म्य के कारण महाकाव्यों और प्रबन्धकाव्यों का सृजन हुआ। लगता है कि वाल्मीकि को जब आदि कवि की संज्ञा दी गई तब वर्णन की इस महिमा की ओर कहने वालों का ध्यान रहा होगा। ऋग्वेद के द्रष्टा ऋषियों ने वर्णन को प्रधानता नहीं दी है। अपने दर्शन (विजन) को कुछ मंत्रों में बाँधकर ही वे छोड़ देते हैं। तो भी यह सच है कि वर्णन की शक्ति दर्शन से ही प्राप्त होती है। भट्टतौत का श्लोक यों है :

नानृषिः कविरित्युक्तं ऋषिश्च किल दर्शनात्।
विचित्रभावधर्मांशतत्त्वप्रख्या च दर्शनम्।
स तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः।
दर्शनात् वर्णनाच्चाथ रूढ़ा लोके कविश्रुतिः ॥[५]

डॉ॰ प्रकाशचन्द्र लाहिरी का मत है कि लक्षण और वक्रोक्ति दोनों सिद्धान्तों में कविव्यापार की अप्रतिम महिमा को देखते हुए भट्टतौत के प्रभाव को अस्वीकारा नहीं जा सकता है। उनके अनुसार कुन्तक ने भट्टतौत के कविव्यापार के सिद्धान्त से प्रेरणा ग्रहण कर उसका भामह की वक्रोक्ति से तालमेल बैठा दिया है। यद्यपि उन्होंने वक्रोक्ति-सिद्धान्त के द्वारा पुराणरीति का व्यतिक्रम किया था तथा अभिनव ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसे इसलिए नहीं अस्वीकारा कि इसका मुख्य तत्त्व उनके गुरु भट्टतौत से ही ग्रहण किया गया था।

अभिनवगुप्त के अनुसार बन्ध, गुम्फ, भणिति, वक्रोक्ति, कविव्यापार ये पर्याय हैं।[६] अभिनवगुप्त कहते हैं कि काव्य में शब्द और अर्थ का कोई स्निग्ध स्पर्श होता है जो लक्षणों में स्थित रहकर श्लेषादि गुणों को व्यक्त करने में दक्ष होता है। काव्यपक्ष में कविव्यापार भेद से गुणालंकार के लक्षणों का विभाग किया गया है।[७] भामह की कारिका 'सैषा सर्वेव वक्रोक्तिः' पर विचार करते हुए अभिनव ने लिखा है कि परमार्थ में व्यापार ही लक्षण है जो विषय द्वारा विशेष लक्षण में कहा गया। इस प्रकार स्वीकार करने में अर्थ भी लक्षण है। उसी प्रकार निरन्तर अभ्यास में लगे रहने वाले तद्विदों का व्यापार भी क्योंकि वे जब वैसे काव्यात्मक विषय का अवलोकन करने लगते हैं तो झट से झलक जाता है। कुशल शिक्षित व्यापार तो काव्य की दृष्टि से झलकता ही है। काव्य में मुख्य है कविव्यापार। गुण और अलंकार तो उसके आश्रित होते हैं। अभिनवगुप्त कहते हैं कि यहाँ कोई अलंकार नहीं होता बल्कि कविव्यापार के साथ जो शब्द-व्यापार होता है उसी से अर्थ घटित होता है। यह अर्थ स्वयं हृदय हो जाता है। इस प्रकार अभिनवगुप्त भी व्यापार के महत्त्व को समग्रतः स्वीकारते हैं।

रुय्यक के 'अलंकारसर्वस्व' के टीकाकार समुद्रबन्ध के अनुसार विशिष्ट शब्द और अर्थ काव्य है। उन दोनों का वैशिष्ट्य धर्म-व्यापार और व्यंग्य द्वारा व्यक्त होता है। व्यापारमूलक वैशिष्ट्य भी दो प्रकार का होता है—भणिति वैचित्र्य (वक्रोक्ति) तथा भोगकृत्व। इस तरह व्यापार-मूलक वैशिष्ट्य प्रतिपादक दो सम्प्रदाय हो जाते हैं। एक वक्रोक्ति सम्प्रदाय है और दूसरा भोग सम्प्रदाय। इस भोग सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक भट्टनायक माने जाते हैं। भट्टनायक रसनिष्पत्ति में सहायक तीन व्यापारों का उल्लेख करते हैं—अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व। भरत के लक्षणों पर विचार करते हुए अभिनव भट्टनायक की पंक्तियों को उद्धृत करते हैं और इस व्यापार की समता वे भामह की वक्रोक्ति से बतलाते हैं। इस प्रकार अभिनवगुप्त के अनुसार भट्टनायक का व्यापार भामह की वक्रोक्ति का ही पर्याय है। भट्टनायक के व्यापार का रहस्य विन्यास-विशेष ही है। इसी को भामह ने वक्रोक्ति और राजशेखर ने केवल उक्ति कहा है।

यह भावकत्व ही वास्तविक कविकर्म है। यह गुणा-लंकारपरिग्रहात्मक ही होता है।[८] भट्टनायक बतलाते हैं कि निविड़ निजत्व का मोह तथा संकट आदि के निवारण में यह भावकत्व काव्य और नाटक में दो दिशाओं में कार्य करता है। काव्य में दोषाभाव, गुण और अलंकार रूप और नाटक में चतुर्विध अभिनय रूप ही भावकत्व अपना कार्य सम्पादित करता है।[९]

जब भट्टनायक नाटक में चतुर्विध अभिनय रूप भाव-कत्व के कार्य का उल्लेख करते हैं तब इसका अर्थ नहीं मान लेना चाहिए कि वह नाटक में काव्यवाले दोषाभाव, गुण तथा अलंकार रूप कार्य का निषेध कर रहे हैं। नाटक में भी यह होता है। अभिनय रूप कार्य तो दोषाभाव आदि के अति-रिक्त नाटक में सम्पादित होता है। यह श्रव्य काव्य की तुलना में दृश्य काव्य की अतिरिक्त विशेषता है। नाटक भी काव्य ही है, यह संस्कृत काव्यशास्त्र का सहज स्वीकृत मत है। इस प्रकार भावकत्व कवि का व्यापार है। कवि का यही व्यापार सहृदय के पक्ष में भोजकत्व व्यापार को सम्भव बनाता है। चूंकि इसकी सत्ता केवल काव्य-नाट्य में ही मिलती है इसलिए यह कवि का ही कर्तृत्व है।

यदि हम भावकत्व के अर्थ पर विचार करें तो इसी मत की पुष्टि होती है। आचार्य विश्वेश्वर ने इसका अर्थ किया है 'साधारणीकरण'। डा० नगेन्द्र ने लिखा है कि "मोनियर विलियम्स आदि के कोशों में 'भावन' के अनेक अर्थ मिलते हैं—उनमें से प्रसंग के अनुकूल दो-तीन ही हैं, यथा 'चिन्तन का विषय होना', 'कल्पना का विषय होना', 'व्यक्त होना' आदि। इनमें से दूसरा अर्थ अर्थात् 'कल्पना का विषय होना' भट्टनायक के भावकत्व व्यापार के सर्वथा निकट है। अतः आधुनिक शब्दावली में भावन का अर्थ है "कल्पनात्मक प्रतीति और स्थायीभाव के भावन का अर्थ है—भावकत्व व्यापार के फलस्वरूप रत्यादि की प्रत्यक्ष प्रतीति की कल्पनात्मक प्रतीति में परिणति।" डॉ० नगेन्द्र आगे लिखते हैं कि "भावकत्व व्यापार का कारण है, आधुनिक शब्दावली में कल्पनातत्त्व का समावेश और कार्य है कार्यसामग्री का साधा-रणीकरण।" आधुनिक समालोचना की भाषा में कल्पना तत्त्व का समावेश ही कवि का कर्तृत्व है।

डॉ० नगेन्द्र जब भट्टनायक के भावन व्यापार को कल्पना-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्त्व के रूप में व्याख्यायित करते हैं तब वह भारतीय काव्य-शास्त्र के पुनराख्यान में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान करते हैं। इस प्रकार भावकत्व सृजन व्यापार हो जाता है। कल्पना 'कल्पृ' धातु से व्युत्पन्न होने के कारण सृजन का बोधक है। भट्टनायक को आधुनिक समीक्षा की मुख्य चिंताधारा के साथ संयोजित करने में यह व्याख्या अत्यन्त सहायक सिद्ध होती है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने पहली बार यह लक्ष्य किया था कि कवि जब विभावानुभाव की योजना—यानी कविकर्म में प्रवृत्त होता है तब कल्पना उसकी सहायिका बनती है। 'काव्य में रहस्यवाद' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने लिखा है : "…जो लोग रस-पद्धति को जानते हैं, वे आधुनिक मनोविज्ञान द्वारा निरूपित भाव के स्वरूप से भी परिचित हैं। वह एक वृत्तिचक्र है, जिसके अन्तर्गत प्रत्यय, अनुभूति, इच्छा, गति या प्रकृति और शरीर-धर्म आते हैं। हमारे यहाँ रस-निष्पन्न करनेवाली भाव-पद्धति में ये सब अवयव रखे हुए हैं। विभावों और अनुभावों की प्रतिष्ठा कवि की कल्पना द्वारा ही होती है और श्रोता या पाठक भी उनकी मूर्ति या रूप का ग्रहण अच्छी कल्पना के बिना पूरा नहीं कर सकता। विभाव और अनुभाव कल्पनासाध्य हैं।" इस प्रकार स्पष्ट है कि काव्य में सम्पूर्ण विभाव और अनुभाव कल्पना द्वारा ही नियोजित होते हैं। शुक्लजी ने काव्य के उपादानों को कल्पना द्वारा अनुशासित माना है। उन्होंने कवि और सहृदय दोनों पक्षों पर विचार करते हुए कल्पना के दो मुख्य प्रकारों का निरूपण किया है। उन्होंने लिखा कि "विधान के लिए कवि में विधायक कल्पना अपेक्षित होती है और सम्यक् ग्रहण करने के लिए पाठक या श्रोता में ग्राहक कल्पना।"[१०] सच पूछिये तो भट्टनायक का भावन-व्यापार विधायक कल्पना है और भोजकत्व ग्राहक कल्पना। इन दोनों कल्पनाओं के कार्य की शुक्लजी बड़ी ही स्वच्छ मीमांसा करते हैं। उनके अनुसार "श्रोता या पाठक में सहृदयता या भावुकता अधिक अपेक्षित होती है, कल्पना-क्रिया कम। कवि की विधायक कल्पना रस की तैयार सामग्री उनके सामने रख देती है।" यही बात भट्टनायक की भाषा में इस प्रकार कही जाएगी कि भावकत्व भोजकत्व को सम्भव बनाता है। शुक्लजी मानते हैं कि भाव काव्य का मूल उपादान है। इसलिए इसके बिना काव्य का अस्तित्व सम्भव नहीं है। किन्तु भाव का जब तक कल्पना के साथ संयोग नहीं होता है तब तक काव्य सम्भव नहीं हो पाता। "जब भाव की उमंग ही कल्पना को प्रेरित करती है, तब कवि का मूल गुण भावुकता अर्थात् अनुभूति की तीव्रता है। कल्पना उसकी सहयोगिनी है। पर ऐसी सहयोगिनी है, जिसके बिना कवि अपनी अनुभूति को दूसरे तक पहुँचा ही नहीं सकता। अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाना ही कविकर्म है। अतः हम कह सकते हैं कि कल्पना और भावुकता कवि के लिए दोनों अनिवार्य हैं। भावुक जब कल्पना-सम्पन्न और भाषा पर अधिकार रखने वाला होता है, तभी कवि होता है।" इस प्रकार शुक्लजी ने कविकर्म के लिए भाव और कल्पना के समीकरण तथा भाषाधिकार को परमावश्यक माना है।

कविकर्म के सिद्धान्त की पुष्टि दोषों की विचिकित्सा से भी होती है। भरत ने दस गुणों और दस दोषों का उल्लेख किया है। ये गुण और दोष शब्द और अर्थ दोनों के होते हैं। दण्डी ने बतलाया है कि यद्यपि माधुर्य शब्द का गुण है तथापि वह रसवद् है। सानुप्रास होने से भी इसकी रसावहता बहुत बढ़ जाती है।[११] लेकिन अर्थ में रस-निषेध का भार अग्राम्यता ही ढोती है। इस प्रकार अर्थालोक से भी माधुर्य का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इसीसे सीधा यह प्रश्न उठता है कि दोष नित्य हैं अथवा अनित्य। दण्डी ने रचयिता की दृष्टि से इस समस्या पर बहुत ही तात्त्विक ढंग से विचार किया है। 'काव्यादर्श' के तृतीय परिच्छेद के उत्तरार्द्ध में उन्होंने दोषों पर विस्तार से विचार किया है। प्रत्येक दोष के विवेचन-क्रम में वह यह बतलाते गए हैं कि कुछ विशेष-विशेष सन्दर्भों में वे दोष गुणवत् हो जाते हैं। उन्होंने प्रथम परिच्छेद में ही "तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा (१।६२)" में 'भूयसा' द्वारा संकेत किया है कि कहीं-कहीं ग्राम्यता और अश्लीलता भी दोषस्वरूप नहीं होती है। अपार्थ नाम के दोष का उल्लेख दण्डी में मिलता है जिसमें पद या वाक्य का अर्थ तो होता है परन्तु समुदाय वाक्य या महावाक्य का अर्थ नहीं होता है। काव्य का गद्य में भी इस दोष से बचना श्रेयस्कर है। किन्तु, दण्डी बतलाते हैं कि उन्मत्त मत्त बालोक्ति में परस्पर असम्बद्धत्व दोष नहीं प्रत्युत स्वाभाविक गुण ही है (३।१२८)। दण्डी का विश्लेषण विरुद्धार्थ के विवेचन में और भी उपादेय हो जाता है। इस दोष में किसी पात्र के साभिप्राय छद्म कथन से उनका अभिप्राय है प्रत्युत उनका अभिप्राय तो प्रचण्ड आवेश में निःसृत सहज उक्ति से है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु वह बतलाते हैं कि यदि दुखाभिभूत जन की उक्ति में विरुद्धार्थ दोष पाया जाए तो उसे दोष नहीं प्रत्युत् गुण माना जाएगा। कारण यह कि उस तरह की उक्ति से उसकी आन्तरिक अस्तव्यस्तता प्रतीत होती है (३।१३३)। इस प्रकार रचयिता के किंचित् कौशल के स्पर्श से भी दोष गुण में रूपान्तरित हो जा सकते हैं।

विश्वनाथ ने इस समस्या पर अधिक गहराई से विचार किया है। ख़तरनाक सरलीकरण से बचने के लिए दोष की नित्यता की धारणा का वह पूर्ण परित्याग कर देते हैं। काव्य की परिभाषा देते हुए पहली साँस में वह कहते हैं कि 'दोषास्तस्यापकर्षकाः।' किन्तु कदाचित् विश्वनाथ ने स्वयं यह अनुभव किया कि इससे तो दोष नित्य सिद्ध हो जाते हैं। अतः अपने मन्तव्य को संशोधित रूप में उपस्थित करते हुए वह कहते हैं कि दोष तो वे हैं जो रस के अपकर्षक हुआ करते हैं—'रसापकर्षकादोषाः'। इससे ध्वनि यह निकलती है कि दोष नित्य नहीं हैं। इस प्रकार विश्वनाथ के मत से कोई दोष यदि किसी प्रसंग में रसोपकारक है तो वह दोष न होकर गुण ही हो जाता है। इसीको ध्यान में रखकर उन्होंने कहा है—'सुरतारम्भगोष्ठ्यादावश्लीलत्वं तथा पुनः (गुणो भवेत्)।' तात्पर्य यह कि कविकर्म की ऊर्जा ही काव्य में मुख्य है।

यह बात नहीं है कि इस सत्य का साक्षात्कार विश्वनाथ ने ही पहली बार किया था। सातवीं सदी में ही, जब श्रुतिमधुर को गुण और श्रुतिकष्ट या श्रुतिदुष्ट को दोष माना जाता था, भामह कहते हैं कि सन्निवेश की विशेषता के कारण फूलों की माला के बीच गुंथे हरे पन्ने के समान सदोष अभिव्यंजना भी सुन्दर बन जाती है। कुन्तक के अनुसार वर्ण और ध्वनि को प्रस्तुत के औचित्य से शोभित होना चाहिए। वह कठोर रस के प्रसंग में कर्णकटु वर्णों के प्रयोग से उत्पन्न वक्रता का उदाहरण भी देते हैं।

राजशेखर इन सभी विचिकित्साओं का समाधान कवि-प्रतिभा में देखते हैं। वे बड़ी ही प्रसन्न मुद्रा में साहित्यिक चौर्य की महिमा का बखान करते हैं और उसके उपादेय पक्ष की सार्थकता बत्तीस प्रकारों से प्रमाणित करते हैं। यायावरीय का मत है कि दूसरे कवियों की अलौकिक कल्पनाओं को लेकर यदि विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया जाय तो वे हरण के रूप में पहचानी तो नहीं ही जा सकतीं अपितु सरस और आकर्षक भी हो जाती हैं। काव्य-रचना करने वाले कवि और व्यापारी—ये दोनों चोर न हों—ऐसा दावा नहीं किया जा सकता। इनमें प्रशंसनीय वह है जो चोरी को छिपा सके और जिसकी निन्दा न हो।

नास्त्यचौरः कविजनो नास्त्यचौरो वणिग्जनः।
स नन्दति विना वाच्यं यो जानाति निगूहितम् ॥

राजशेखर ने इसी निगूहन की कला में दक्ष कवि को उत्पादक कवि कहा है। चौर्य कर्म तो अनेक कवि करते हैं, कुछ कवि परिवर्त्तक होते हैं, कुछ आच्छादक, कुछ संवर्गक; किन्तु चौर्य कला की महिमा तो उत्पादक कवि में ही सिद्ध होती है। उत्पादक कवि के सम्बन्ध में बाणभट्ट ने इस प्रकार लिखा है—

सन्ति श्वान इवासंख्या जातिभाजो गृहे-गृहे।
उत्पादका न बहवः कवयः शरभा इव।

—हर्षचरित। ५।

राजशेखर कहते हैं कि जो कवि शब्दों, अर्थों और उक्तियों में कुछ नए भावों को देखने की शक्ति रखता है और अपने प्रतिभा-प्रकर्ष से किसी अलौकिक वस्तु का उन्मेष करता है, उसे महाकवि कहना चाहिए। वह कहते हैं कि कवि में मुख्य चीज़ है शक्ति। शक्ति यानी प्रतिभा कवि के अव्युत्पत्तिजन्य दोष को भी आच्छादित कर देती है।

इसी सत्य का निर्भ्रान्ति साक्षात्कार कुन्तक भी करते हैं। वह कहते हैं कि अनूतन वस्तु भी केवल शक्ति के वैचित्र्य मात्र से सौन्दर्य की काष्ठाप्राप्ति कर लेती है। जिन्हें यह सब कुछ जँचता नहीं हो वे तुलसीदास के कौशल को देखकर आश्वस्त हो सकते हैं। उन्होंने केवल कथा ही नहीं, नाना-पुराणनिगमागम से शब्द ही प्रत्युत पूरे-का-पूरा अनुच्छेद ही उठाकर अपने मानस में रख दिया है। किन्तु रचयिता के कौशल के स्पर्श से 'मानस' में यह निर्धन चौर्यकला सौन्दर्य की पर्त-पर-पर्त गढ़ती चली गई है। क्षुद्र कवि की पहचान यह है कि काव्यमार्ग में स्वीकृत गुणों का उपयोग कर भी वह रचना को चौपट कर देता है।

इस प्रसंग में हम यह भी विचार कर लें कि कुन्तक ने कविकर्म का हेतु क्या माना है। वह सिद्धान्ततः यह मान लेते हैं कि रचना में शक्ति के साथ व्युत्पत्ति और अभ्यास का भी योग रहता है। वह कहते हैं कि उस सबल शक्ति से कवि उन दोनों प्रकार के स्वभाव से सुन्दर व्युत्पत्ति को प्राप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करता है और उसके बाद उन दोनों की छाया के परिपोष से सुन्दर अभ्यास करने वाला हो जाता है। कुन्तक व्युत्पत्ति और अभ्यास को स्वभाव से ही सम्बद्ध कर अपने सम्पूर्ण विश्लेषण को मनोवैज्ञानिक गहराई दे देते हैं। वह कहते हैं कि अनादि वासना के अभ्यास से संस्कृत चित्त वाले व्यक्ति को अपने स्वभाव के अनुरूप ही व्युत्पत्ति तथा अभ्यास प्राप्त होता है। साथ ही व्युत्पत्ति तथा अभ्यास स्वभाव की अभिव्यक्ति द्वारा ही सफलता प्राप्त करते हैं। स्वभाव हेतुद्वय (व्युत्पत्ति और अभ्यास) को उत्पन्न करता है और ये दोनों उसे परिपुष्ट करते हैं। इस प्रकार कुन्तक हेतुद्वय को कवि व्यक्तित्व के आन्तरीण धर्म से सम्बद्ध कर इन दोनों की जड़ता और यान्त्रिकता का निरसन करते हैं और संस्कृत काव्यशास्त्र के परम्परायुक्त चिन्तन को नई अर्थवत्ता प्रदान करते हैं।

किन्तु, व्युत्पत्ति और अभ्यास तो काव्य-भवन के गारा ढोने वाले मजदूर हैं। इस महल का वास्तविक शिल्पी तो प्रतिभा है। रुय्यक के टीकाकार जयरथ ने उनकी पंक्ति 'व्यापारस्य प्राधान्यं च काव्यस्य प्रतिपेदे' पर टिप्पणी देते हुए लिखा है कि कविकर्म प्रतिभा के द्वारा विकसित होता है। इस व्यापार के साथ वक्रोक्ति का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि कविप्रतिभा के द्वारा निर्वर्तित वस्तु के बिना वक्रोक्ति की सिद्धि नहीं हो सकती।[१२] स्वयं कुन्तक प्रतिभा को इतना ही महत्त्व देते हैं। उनकी प्रतिभा पूर्वजन्म और इस जन्म के संस्कारों के परिपाक से प्रौढ़ि-प्राप्त है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वह प्रतिभा को सहजा के साथ आहार्या भी मानते हैं। उनके मतानुसार काव्यनिर्माण में यही प्रतिभा सर्वोपरि वस्तु है। कुन्तक के कहने का तात्पर्य यह है कि अत्यन्त सुन्दर रचना कवि-प्रतिभा प्रसूत होती है और उसमें कविकर्म आहार्य नहीं होता है। दूसरे शब्दों में, कविकर्म जहाँ केवल आहार्य होता है वहाँ रचना सौन्दर्य की काष्ठाप्राप्ति नहीं करती है। रचना में सौन्दर्य का उन्मेष प्रतिभा के संस्पर्श से ही होता है। वह बतलाते हैं कि शब्द और अर्थ में सौन्दर्य के स्फुरण में ही कविकर्म में प्रतिभा का योग होता है। प्रतिभा का प्राथमिक विलास भी शब्दार्थ को रमणीय बना देता है। निष्कर्षतः कुन्तक काव्यहेतु में व्युत्पत्ति और अभ्यास को स्वभाव से सम्बद्ध कर देते हैं और रचना में सौन्दर्य के उन्मेष के वास्तविक हेतु के रूप में प्रतिभा को ही स्वीकारते हैं।

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने यह बतलाया है कि 'कवि-कर्म-विधान के दो पक्ष होते हैं—विभावपक्ष और भावपक्ष। कवि एक ओर तो ऐसी वस्तुओं का चित्रण करता है जो मन में कोई भाव उठाने या उठे हुए भाव को जगाने में समर्थ होती हैं और दूसरी ओर उन वस्तुओं के अनुरूप भावों के अनेक स्वरूप शब्दों द्वारा व्यक्त करता है। एक विभावपक्ष है, दूसरा भावपक्ष। कहने की आवश्यकता नहीं कि काव्य में ये दोनों अन्योन्याश्रित होते हैं, अतः दोनों रहते हैं।" शुक्लजी जब भावपक्ष और विभावपक्ष को अन्योन्याश्रित कहते हैं तब वे काव्य-समीक्षा के गहन-तत्त्व का ही उन्मूलन करने में समर्थ सिद्ध होते हैं। विभाव की योजना भावों की अभिव्यक्ति के लिए ही की जाती है। इसलिए कुछ विभाव भावों के आलंबन होते हैं और कुछ उद्दीपन। भाव लोकधर्मी हैं। लोक में तो उनका अस्तित्व ऐसे भी है किन्तु काव्य में विभावों के आश्रित होकर ही आते हैं। भरत ने विभावों को ऐसे परिभाषित किया है—'विभावैराहृतो योऽर्थो'। अर्थात् भाव वह अर्थ है जो विभावों के द्वारा निष्पन्न होता है। इसलिए भाव विभावों के आधार हैं और विभाव भावों के आश्रित हैं। इसीसे शुक्लजी उन्हें अन्योन्याश्रित कहते हैं। उन्होंने इस बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है: 'जहाँ एक ही पक्ष का वर्णन रहता है वहाँ भी दूसरा पक्ष अव्यक्त रूप में रहता है। जैसे, नायिका के रूप में या नख-शिख का कोरा वर्णन लें तो उसमें भी आश्रय का रतिभाव अव्यक्त रूप में वर्तमान रहता है।' इस प्रकार काव्य में भाव और विभाव का युगपत् अस्तित्व रहता है।

आधुनिक आलोचना की भाषा में विभाव भाव का 'वस्तुगत प्रतिरूप' (ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव) है। यह पदोच्च इलियट का अपना आविष्कार है। कविता लिखने के लिए भाव, अनुभूति, संवेग आदि का अनुभावन तो आवश्यक है ही, उससे भी कहीं अधिक आवश्यक है उस अनुभूति को दूसरों तक प्रेषित करना। 'अनुभूति को दूसरों तक पहुँचाना ही', शुक्लजी के शब्दों में 'कविकर्म है'। आत्मनिष्ठ भावों को वस्तुनिष्ठ तत्वों के द्वारा प्रेषणीय बनाया जाता है। इसे ही इलियट ने 'वस्तुगत प्रतिरूप' नाम दिया है। उनके अनुसार कला के रूप में भावना को अभिव्यक्त करने का एकमात्र उपाय यही है कि "किसी वस्तुगत प्रतिरूप को, दूसरे शब्दों में, वस्तुओं की एक ऐसी श्रेणी, एक ऐसी परिस्थिति, घटनाओं की एक शृंखला को, ढूंढ़ा जा सके, जो भावना-विशेष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का इस तरह आधार हो कि जब बाह्य तथ्य, जिनकी परिणति ऐन्द्रिक अनुभूति में होनी ही है, दे दिये जाएँ, तब तत्क्षण वह भाव उद्बुद्ध हो जाए।" इस प्रकार पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र में अतिख्यात इलियट का यह सिद्धान्त भारतीय रसचक्र के विभाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

कविकर्म का चमत्कार वस्तु-विन्यास के क्षेत्र में भी प्रकट होता है। काव्य में महिमा वस्तु की नहीं कविकर्म की होती है। अतएव काव्यात्मक और अकाव्यात्मक वस्तुओं का पार्थक्य निस्सार है। भामह के अनुसार ऐसा न कोई शब्द है, न अर्थ, न न्याय, न कला जिसका प्रयोग काव्य में नहीं होता हो।

न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्यांगमहो भारो महान्कवेः॥
(काव्यालंकार : ५।१४)

धनंजय भी भामह के इस मत की पुष्टि करते हैं। उनके अनुसार रमणीय हो अथवा घृणित, अच्छी हो या बुरी, उग्र हो अथवा आह्लादकारी, गहन हो अथवा विकृत, विश्व में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, वस्तु ही क्यों अवस्तु भी नहीं है जो कवि और भावना के विषयीभूत होने पर रस और भाव को उत्पन्न न करे।

रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीचमुग्रं
प्रसादि गहनं विकृतं च वस्तु।
यद्वाप्यवस्तु कविभावकभाव्यमानं
तन्नास्ति यन्न रसभावमुपैतिलोके॥

राजशेखर की विदुषी पत्नी अवन्तिसुन्दरी का मत है कि किसी वस्तु का स्वरूप नियत नहीं है। कवि की उक्ति के कारण उसमें गुण या दोष आ जाते हैं—

"वस्तूनो रूपं न नियतस्वभावम्" इति अवन्तिसुन्दरी। तदाह—

वस्तुस्वभावो च कवेरतन्त्रो
गुणागुणायुक्तिवशेन काव्ये।
स्तुवन्निवध्नात्यमृतांगुमिन्दुं
निन्वंस्तु दोषाकरमाह धूर्त्तः॥

मनुष्य की कोई भी कला या विद्या ऐसी नहीं है जिसका मुख्य प्रतिपाद्य प्रकृति का व्यापार नहीं है। प्रकृति के व्यापार को आधार बनाये बिना किसी भी अन्य विद्या का अस्तित्व ही संभव नहीं है। केवल कवि में ही यह सामर्थ्य है कि वह अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के कारण ऐसे किसी भी प्रतिबन्ध से मुक्त हो जाए और प्रकृति के समानान्तर नयी पद्धति में विकसित हो। वह या तो प्रकृति के उपादानों की तुलना में सुन्दरतर सृष्टि करता है अथवा ऐसा नूतन सृजन करता है जैसा प्रकृति में कहीं भी विद्यमान नहीं है। इसीलिए धनंजय कहते हैं कि अवस्तु भी कवि की भावना से सिक्त होकर भाव और रस उत्पन्न करती है। इस प्रकार काव्य में वस्तुयोजना सृजन का रूप प्राप्त कर लेती है। अपने कर्म की महिमा में कवि स्वयं प्रजापति बन जाता है।

इसका सीधा मतलब यह है कि काव्य सृजन है, अनुकरण नहीं। लेकिन अरस्तू का कहना है कि काव्य प्रकृति का अनुकरण है। अरस्तू के व्याख्याकार बुचर के अनुसार अरस्तू के अनुकरण शब्द का अर्थ है 'सादृश्य विधान अथवा मूल का पुनरुत्पादन—सांकेतिक उल्लेख नहीं।' कलाकृति मूल वस्तु का पुनरुत्पादन करती है, अर्थात् कवि मूल वस्तु का यथातथ्य रूप खड़ा नहीं करता बल्कि वह उसके उस रूप को प्रस्तुत करता है जो इन्द्रियों को प्रतीत हुआ करता है। स्काट-जेम्स के अनुसार, "अरस्तू के अनुकरण का तात्पर्य है साहित्य में जीवन का वस्तुपरक अंकन, जिसे हम अपनी भाषा में जीवन का कल्पनात्मक पुनर्निर्माण कह सकते हैं।"[१३] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि, अरस्तू 'अनुकरण' का प्रयोग सृजन के अर्थ में ही करते हैं। हाँ, ऐसा अनुमान किया जा सकता है या तो उनकी भाषा में सृजन के उपयुक्त कोई शब्द नहीं था अथवा वह अपने शब्द का चयन बहुत सावधान मनोदशा में नहीं कर सके थे। इसलिए उनके व्याख्याकारों को 'अनुकरण' का अर्थ करने में इतनी माथापच्ची करनी पड़ी है।

अरस्तू को जो भाषा नहीं सूझी वह अभिनवगुप्त को सूझ गयी थी। भरत ने लिखा है कि सम्पूर्ण त्रैलोक्य का भावानुकीर्तन नाट्य है।[१४] ऐसा लगता है कि अभिनवगुप्त को जो पाठ प्राप्त हुआ था उसमें 'अनुकीर्तन' नहीं 'अनुकरण' रहा होगा। अतएव उसपर विमर्श करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि अनुकरण नहीं, अनुकीर्तन ही होगा। वह स्वयं यह प्रश्न उठाते हैं कि अनुकरण ने आखिर ऐसा क्या अपराध किया है जिससे उसका वर्जन किया जाता है। अभिनवगुप्त का मत है कि अनुकरण करना अपराध नहीं है। वास्तविक कठिनाई तो यह है कि अनुकरण असम्भव व्यापार है। यह इसलिए कि भाव का अनुकरण नहीं हो सकता। अनुकरण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो सदृशकरण है। तो यह अनुकरण किसका होता है? अनुकरण रामादि का नहीं होता। यह इसलिए कि रामादि अनुकार्य हैं। इससे प्रमदादि विभावों का अनुकरण खंडित हो गया। और क्रोध-शोकादि रूप चित्तवृत्तियों का भी अनुकरण नहीं होता। नट रामादि के समान ही अपना शोक नहीं करता। यह इसलिए कि उस शोक का उसमें सर्वथा अभाव रहता है। भाव में अनुकरण नहीं हो सकता। फिर ऐसी कोई दूसरी वस्तु नहीं मिलती जो शोक के सदृश हो। अतः उसका अनुकरण संभव नहीं है। यह ठीक है कि अनुभावों का अनुकरण किया जा सकता है। लेकिन यहाँ यह याद रखना है कि यह भी सजातीयों का ही हो सकता है न कि तत्सदृशों का। अभिनवगुप्त प्रश्न उठाते हैं कि साधारण रूप का कौन-सा किसके साथ सादृश्य सादृश्यार्थ होता है? त्रैलोक्यवर्ती का सादृश्य तो विशेष रूप से एक साथ नहीं हो सकता। शायद क्रम से नियत का ही अनुकरण हो सकता है।[15]

अभिनवगुप्त की मुख्य शंका यह है कि सामान्य रूप में अनुकारार्थ क्या होगा? उनका प्रस्ताव है कि यह भ्रम नहीं पालना चाहिए कि अनियत का अनुकरण नाट्य है। उन्होंने अपने उपाध्याय भट्टतौत के 'काव्यकौतुक' का अपने कथन के समर्थन में हवाला दिया है। उनका कहना है कि नियतानुकार होता है न कि अनियतानुकार। अभिनव के अनुसार अध्यवसायवान विशेष-विषयी कार्य नाट्य है। इसे यों भी कह सकते हैं कि अनुव्यवसायात्मक कीर्तन, रूपित विकल्प संवेदन नाट्य है। यह इसलिए कि वह वेदन संवेद्य है न कि अनुकरण रूप।[16] इस प्रकार अभिनवगुप्त यह स्थिर करते हैं कि जिस किसी ने नाट्य को अनुकरण कहा है, वह सही नहीं है।[17] इस प्रकार अनुकीर्तन भावों का अनुकरण नहीं प्रत्युत उनका गुणगान है। इसमें भाव कई तरह से गूँजते हैं, उनकी प्रसुप्त शक्तियाँ और भी जागरित हो जाती हैं। इस प्रकार भावनाट्य में 'अन्यथाकरण' की प्राप्ति कर लेते हैं।

भरत ने अभिनय को अर्थाश्रित माना है। अर्थ से उनका तात्पर्य लोक से है।[18] लेकिन प्रश्न उठता है कि क्या अभिनय वस्तु का हू-ब-हू अनुकरण है? यानी काव्य क्या लोक का अनुकरण मात्र है? यदि अर्थ या लोक काव्य का उपजीव्य है तो जैसा कि अभिनव ने कहा नाट्य भित्तिस्थानीय है।[19] यानी भित्ति तो आधार अवश्य है किन्तु कविकर्म भित्ति पर उभरने वाले चित्र के सदृश भित्ति को अन्यथारूप प्रदान कर देता है। यानी लोकधर्मिता फलक मात्र है। कविकर्म भित्ति पर उभरने वाला चित्र है जो स्वयं भित्ति नहीं। सृजन-प्रक्रिया के क्रम में वस्तु का स्वरूप बदल जाता है। कविकर्म और वस्तु के घात-प्रतिघात से एक नयी चीज उभरती है। भरत ने कहा है कि स्वभाव तो लोकधर्मी है किन्तु विभाव तो नाट्य में ही होते हैं।[20] तात्पर्य यह कि नाट्य में स्वभाव यथावत् ग्रहण नहीं किया जाता है। उसे मनोग्राह्य बनने के लिये विभाव के रूप में आना पड़ता है। अभिनवगुप्त कहते हैं कि लोकप्रसिद्ध द्रव्य को शिल्प, कला, कल्पना के द्वारा जो वांछित रूप दे दिया जाता है वह नाट्यधर्मिता है।[21] यानी लोकप्रसिद्ध वस्तु को काव्य में रुचिकर मूर्ति दे देने की कला ही नाट्यधर्म है। इस प्रकार सौंदर्य कविकर्म का ही प्रपंच ठहरता है।

अनुकरण बाह्यसत्ता का पूर्ण स्वायत्तीकरण है। किन्तु काव्य में, साथ ही चित्र, मूर्ति आदि कलाओं में, बाह्यसत्ता पूरी तरह अँट नहीं पाती है। "मनुष्य जो कुछ भी रचता है उसके लिए वह बाह्य जगत् की वास्तविकता से ही मसाला संग्रह करता है। पर उसे ज्यों-का-त्यों वह ले ही नहीं सकता। उसे चार आयामों के जगत् को तीन, दो या एक में बदलना पड़ता है, वह कुछ-न-कुछ छोड़ने को बाध्य है। वह तथ्यात्मक बाह्यसत्ता को बदलता है, अन्यथा बनाता है। इसलिए उसके इस प्रयत्न को अन्यथाकरण कहते हैं। अन्यथाकरण अर्थात् जैसा है उसे वैसा ही न रहने देना। फिर भी वह वस्तु को यथार्थ रूप में चित्रित करने का प्रयास करता है। रेखा से, रंग से वह कमियों को पूरा करता है। इस कौशल पर ही कलाकार का वैशिष्ट्य है।" कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में एक स्थान पर एक बात बड़े आकर्षक ढंग से कही है। राजा दुष्यंत ने शकुन्तला का चित्र बनाया था। उस चित्र को देखकर राजा ने कहा था कि चित्र में जो कुछ साधु नहीं होता अर्थात् जैसा है वैसा नहीं बन पाता, उसे अन्यथा कर दिया जाता है। फिर उस (शकुन्तला) का लावण्य रेखाओं से कुछ जुड़ ही गया है, बढ़ ही गया है—

यद्यत्साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत्तदन्यथा।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किञ्चिदन्वितम् ॥

यहाँ इस श्लोक को उद्धृत करने का उद्देश्य सिर्फ यही नहीं है कि अन्यथाकरण शब्द के प्रयोग का औचित्य सिद्ध किया जाय बल्कि यह भी है कि इस बात को विशेष रूप से दृष्टिगोचर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया जाए कि कालिदास ऐसा मानते थे कि यद्यपि अन्यथा-करण के द्वारा बाह्य-जगत् ज्यों-का-त्यों नहीं आ जाता बल्कि उत्तम कोटि का चित्रकार उसमें कुछ और जोड़ देता है—'किञ्चित् अन्वितम् ।'[२२] कालिदास ने बात चित्र को लेकर उठायी है किन्तु यह काव्य तथा अन्य सभी कलाओं के विषय में भी उसी प्रकार सच है, यानी अनुकरण असंभव है।

कवि भाव के उपर्युक्त विभाव की योजना में ज्यों ही प्रवृत्त होता है, त्यों ही सृजन-प्रक्रिया का काम शुरू हो जाता है। महिमभट्ट ने कहा है कि विभाव आदि की योजना के अतिरिक्त कविव्यापार और कुछ नहीं है।[२३] मुक्तिबोध ने इस प्रक्रिया पर अच्छा विचार किया है। उनके अनुसार कला के तीन क्षण होते हैं। "कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव-क्षण। दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपने कसकते-दुखते हुए मूलों से पृथक् हो जाना और एक ऐसी फैण्टेसी का रूप धारण कर लेना मानो वह फैण्टेसी अपनी आँखों के सामने ही खड़ी हो। तीसरा और अन्तिम क्षण है इस फैण्टेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का आरम्भ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णावस्था तक की गतिमानता।"[२४] मुक्तिबोध ने जिसे जीवन का 'तीव्र अनुभव-क्षण' कहा है वही काव्य का मूल उपजीव्य है। उनका दूसरा क्षण—'अनुभव का अपने कसकते-दुखते हुए मूलों से पृथक् हो जाना' ही भारतीय रसवाद में साधारणीकरण की स्थिति है। किन्तु कविकर्म का सबसे महत्त्वपूर्ण क्षण है, कला का तीसरा क्षण। इस क्षण की मीमांसा करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है कि "शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया के भीतर जो प्रवाह बहता रहता है वह समस्त व्यक्तित्व और जीवन का प्रवाह होता है। प्रवाह में वह फैण्टेसी अनवरत रूप से विकसित-परिवर्तित होती हुई आगे बढ़ती जाती है। इस प्रकार वह फैण्टेसी अपने मूल रूप को बहुत-कुछ त्यागती हुई नवीन रूप धारण करती है। जिस फैण्टेसी को शब्दबद्ध करने का प्रयत्न किया जा रहा है वह फैण्टेसी अपने मूल रूप से इतनी अधिक दूर चली जाती है कि यह कहना कठिन है कि फैण्टेसी का यह नया रूप अपने मूल रूप की ही प्रतिकृति है।"[२५] विभाव से साधारणतया नायक-नायिका का स्थूल बोध होता है। इसलिए मुक्तिबोध ने नये काव्य के मिज़ाज के अनुकूल इस शब्द का प्रयोग किया है। इस शब्द से नायक-नायिका से परे भी भाव के 'वस्तुगत प्रतिरूप' (ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव) में आये तथ्यों का बोध हो जाता है। किन्तु फैण्टेसी, जैसा कि मुक्तिबोध ने उचित ही कहा, "वास्तविक अनुभूति की प्रतिकृति नहीं हो सकती। वैयक्तिक से निर्वैयक्तिक होने के दौरान ही उस फैण्टेसी ने कुछ ऐसा नवीन ग्रहण कर लिया कि जिससे वह स्वयं भी वास्तविक अनुभव से स्वतंत्र बन बैठी।"[२६] वह कवित्वमय भाषा में लिखते हैं कि "फैण्टेसी अनुभव की कन्या है और उस कन्या का अपना स्वतंत्र विकासमान व्यक्तित्व है। वह अनुभव से प्रसूत है इसलिए वह उससे स्वतंत्र है।"[२७]

इस मत की पुष्टि पं० रामचन्द्र शुक्ल भी करते हैं। "जिस रूप में अनुभूति कवि के हृदय में होती है, उसी रूप में व्यंजना कभी हो नहीं सकती। उसे प्रेषणीय बनाने के लिए—दूसरों के हृदय तक पहुँचाने के लिए—भाषा का सहारा लेना पड़ता है। शब्दों में ढलते ही अनुभूति बहुत विकृत हो जाती है, और की और हो जाती है। इसी से बहुत दिव्य और सुन्दर अनुभूतियों को कवि यों ही छोड़ देते हैं, उनकी व्यंजना का प्रयास ही नहीं करते। वे जीवन-भर एक प्रकार के मूक कवि बने रहते हैं। बहुत-सी कविता अनुभूति-दशा में नहीं होती, स्मृति-दशा में होती है। जो यह कहे कि जो कुछ हमारे भीतर था सब हमारी कविता में आ गया है, उसमें काव्यानुभूति का अभाव समझना चाहिए और उसकी कविता को कवियों की वाणी का अनुकरणमात्र।"[२८] अतएव काव्य अनुकरण नहीं है। कवि-कर्म की प्रक्रिया में मूल जीवानुभव बदल जाता है। इसीलिए भरत ने नाट्य को भावानुकरण नहीं, भावानुकीर्तन कहा है। कवि चेतना-सम्पन्न प्राणी है। सृजन-व्यापार के समय चेतना के कई स्तरों पर वह जीता है। इसलिए उसकी मूल अनुभूतियाँ रचना के समय चेतना की नदी में सिक्त हो जाती हैं। तब जो अनुभूति रहती है वह जीवानुभूति नहीं वरन् काव्यानुभूति है। इस तरह स्वयं काव्यानुभूति कविकर्म की प्रसूति सिद्ध होती है।

हमने ऊपर बतलाया है कि कविकर्म के सिद्धान्त द्वारा कुन्तक ने काव्य में कवि के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की। कवि का यह काव्यात्मक व्यक्तित्व आखिर क्या है? डॉ० सुशील कुमार दे के अनुसार इसका तात्पर्य रचना में अन्विति से है।[२९] तब यह स्थिर हुआ कि अन्विति जिस तरह प्राप्त होती है वही काव्यात्मक व्यक्तित्व है। यह परस्पर-विरोधी व्यक्तित्वों की लस्टम-पस्टम अन्विति नहीं है बल्कि काव्या-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्मक व्यक्तित्व की तात्त्विक अन्विति है। हम देखते हैं कि इस काव्यात्मक व्यक्तित्व का इलियट के अव्यक्तिवाद से कोई विरोध नहीं है। वह कवि के मन की तुलना एक उत्प्रेरक (केटेलिस्ट) से करते हैं। उत्प्रेरक के संयोग से दो गैसों के मिलन में तीसरी गैस उत्पन्न हो जाती है, किन्तु 'उसमें न कोई परिवर्तन आता है, न उस पर इस प्रक्रिया का प्रभाव ही पड़ता है और न वही कुछ प्रभाव डाल पाता है।'[३०] इस प्रकार इलियट जब कवि के मन की तुलना (उत्प्रेरक के रूप में) प्लेटिनम के तन्तु से करते हैं तब वह काव्यात्मक व्यक्तित्व की ठीक-ठीक व्याख्या कर देते हैं। इस प्रकार उनका मुख्य विरोध भोक्ता मन के व्यक्तित्व से हो जाता है। वह मानते हैं कि कवि का मन असंख्य भावनाओं, पदावलियों, बिम्बों के ग्रहण एवं संचयन के निमित्त एक आधानपात्र की भाँति होता है और वे तब तक वहाँ रहते हैं जब तक वे सब घटक, जिनके संयोग से कोई नया यौगिक पदार्थ बन सकता हो, एक साथ एकत्र नहीं हो जाते। इलियट—निर्विकारता और नवोन्मेष को—कविमानस की दो विशेषताएँ मानते हैं। भट्टतौत ने नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा को ही प्रतिभा कहा है। यही कवि का असल व्यक्तित्व है।

इस प्रसंग में हम रचना के साथ रचयिता के सम्बन्ध पर भी विचार कर लें। इलियट बतलाते हैं कि प्रौढ़ और अप्रौढ़ कवि के मानस का अन्तर सर्वथा "व्यक्तित्व के मूल्यांकन में निहित नहीं होता—न वह (प्रौढ़ कवि) आवश्यक रूप से अधिक रोचक होता है, न उसके पास आवश्यक रूप से अधिक कहने को होता है। वस्तुतः वह ऐसा परिष्कृत माध्यम होता है जिसमें विशेष अथवा अत्यन्त वैविध्यपूर्ण भावनाओं को नये संयोगों में ढलने की स्वतन्त्रता होती है।" यही कवि का नवोन्मेष और शक्ति है। इस शक्ति के कार्य की मीमांसा करते हुए इलियट ने अन्यत्र लिखा है: "कवि का मन जब अपने कार्य के लिए पूरी तरह सन्नद्ध हो जाता है तब वह अविच्छिन्न रूप से विरोधी और असदृश अनुभूतियों को समन्वित करता है। साधारण मनुष्य की अनुभूति तो अस्त-व्यस्त, विच्छिन्न और खण्डित होती है। एक साधारण मनुष्य प्रेम में उलझ जाता है या स्पिनोज़ा का अध्ययन करता है, किन्तु इन दो अनुभूतियों का कोई भी परस्पर सम्बन्ध नहीं होता है, अथवा टाइपरायटर की खटखटाहट या पाकशाला की गंध में, किन्तु ये ही अनुभूतियाँ कवि के मन में हमेशा नई समग्रता गढ़ती चलती हैं।"

इस शक्ति के बिना वस्तु और अनुभूति काव्य में चमत्कार दिखला ही नहीं सकती है। हम इसका उदाहरण इलियट की कविता से ही देना चाहेंगे। बूढ़े होने की अनुभूति सभी को उस उम्र में होती है। यह एक तीव्र और महत् अनुभूति है। उसी प्रकार एक क्षुद्र अनुभूति तब भी होती है जब हम अपने पाजामे की क्रीज़ को मुड़ा हुआ देखते हैं। इन दोनों का भोक्ता मन के लिए कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु स्रष्टा मन देखता है कि हम उसी प्रकार बूढ़े हो रहे हैं जिस प्रकार हमारा पाजामा सिकुड़ गया है। इलियट की पंक्तियाँ हैं:

> I grow old...I grow old...
> I shall wear the bottoms of my trousers rolled.

उसी प्रकार राजकमल चौधरी एक ही युद्ध के दर्शन अपनी कमर की हड्डियों और वियतनाम दोनों में करते हैं—'क्यों एक ही युद्ध मेरी कमर की हड्डियों और कभी वियतनाम में।' साधारण व्यक्ति के लिए उपदंशजनित कमर की हड्डियों में दर्द और वियतनाम युद्ध की विभीषिका में कोई संगति नहीं हो सकती है। किन्तु कवि की प्रज्ञा ने यह सहज ही प्रत्यक्ष कर लिया कि सभ्यता का रोग एक ही है। उपदंशजनित कमर की हड्डियों का दर्द और वियतनाम का युद्ध तो उसका बाह्य उपलक्षण मात्र है। यही अनुभूति का नव्य सामग्र्य प्राप्त करना है। इसी अर्थ में काव्य कवि का कर्म है और शक्ति तथा शक्तिमान् एक ही सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार कुन्तक ने समग्र सौन्दर्य को कविकौशल से उत्पन्न होने का कथन किया। भारतीय काव्यशास्त्र की यह एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

पाद-टिप्पणियाँ

१. अलंकारसर्वस्व: सम्पादिका कुमारी एस० एस० जानकी, मेहरचन्द लछमणदास, पृ० १०।
२. हिन्दी वक्रोक्तिजीवितः, पृ० ७।
३. दिनकर: शुद्ध कविता की खोज, पृ० २६।
४. "प्रयोगत्वमनापन्ने काव्येनास्वादसम्भवः।
वर्णनोत्कलिकाभोग—प्रौढोक्त्या सम्यगर्पिताः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उद्यानकान्ताचन्द्राद्या भावाः प्रत्यक्षवत् स्फुटाः ।।''
—हिन्दी अभिनव भारती : आचार्य विश्वेश्वर, पृ० ५०४

५. काव्यानुशासन (काव्यमाला), पृ० ३१६ ।

६. 'बन्धो, गुम्फो, भणितिर्वक्रोक्तिः, कविव्यापार इति पर्यायाः।'
—नाट्यशास्त्र (गायकवाड़)· द्वितीय जिल्द : पृ० ३२२

७. नाट्यशास्त्रम्, (गायकवाड़) दूसरी जिल्द, पृ० २६६ ।

८. ''भावकत्वमपि समुचितगुणालङ्कारपरिग्रहात्मकमस्माभिरेव वितत्य वक्ष्यते ।''
—ध्वन्यालोकलोचन, पूर्वार्ध, डॉ० रामसागर त्रिपाठी, पृ० ३६६

९. ''तस्मात् काव्यं दोषाभावगुणालंकारमयत्वलक्षणेन, नाट्ये चतुर्विधाभिनय रूपेण निविडनिजमोहसंकटतानि वारणकारिणा ।''
—हिन्दी अभिनवभारती, आचार्य विश्वेश्वर, पृ० ४६४

१०. चिंतामणि भाग-२, पृ० ८८ ।

११. हिन्दी काव्यादर्श; आचार्य रामचन्द्र मिश्र, १।५१-५२।

१२. ''व्यापारस्य कविप्रतिभोल्लिखितस्य कर्मणः । कविप्रतिभा निर्वर्तितत्वमन्तरेण वक्रोक्तिरेव न स्यात्।'
—डॉ० सुशील कुमार दे द्वारा 'वक्रोक्तिजीवित' की भूमिका में उद्धृत, पृ० २८ ।

१३. "Imitation, for the poetics, is the objective representation of life in literature—what in our language we might call the imaginative reconstruction of life."
—The Making of Literature : Seekers Warburg 1953, p. 53.

१४. ''त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम् ।''
—नाट्यशास्त्र, १।१०७।

१५. नाट्यशास्त्र (गायकवाड), पहली जिल्द, पृ० ३७ ।

१६. वही, पृ० ३७ ।

१७. वही, पृ० ३८ ।

१८. वही, दूसरी जिल्द, १३।८५ ।

१९. वही, दूसरी जिल्द, पृ० २।८ ।

२०. ''स्वभावो लोकधर्मा तु विभावो नाट्यमेव हि ।''
—नाट्यशास्त्र, जिल्द ३, २१।२०३ ।

२१. ''कलाशिल्पकल्पनाकलितयस्तदपि''
—वही, दूसरी जिल्द, १३।७५ ।

२२. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, आलोचना २८ ।
(सिसृक्षा का स्वरूप), पृ० ९-१० ।

२३. ''विभावाद्युपनिबन्ध एवहि कविव्यापारो नापरः ।''
हिन्दी व्यक्तिविवेक, पृ० १४२ ।

२४. एक साहित्यिक की डायरी (प्र० सं०), पृ० १९ ।

२५. वही, पृ० १९ ।

२६. वही, पृ० २० ।

२७. वही, पृ० २० ।

२८. चिंतामणि भाग-२, पृ० १०४ ।

२९. Sanskrit Poetics As a Study of Aesthetic, Oxford University Press, p. 71.

३० पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, पृ० २८६-८७ ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चौराहे पर ग्रीनविच का एकालाप

श्रीराम वर्मा

तारे गतिमान हैं। सूर्य भी।
पूरा सौरचक्र।
यह पृथिवी भी।—
जिस पर तुम एक चींटी की तरह चल रहे हो :
इतनी ज्वलन्त रश्मि-गति के चक्राकार वर्ष में
स्वयं प्रकाश !

बताओ, मैं कहाँ जाऊँ ?
क्या तुम जा सकते हो ?
क्या तुम सचमुच जा रहे हो ?

तुम मुझे चलते हुए क्षितिज
फिर एक निरीह बिन्दु लगते हो।
क्या मैं वहाँ तक तुमको दिखूँगा ?

क्या तुम चल पाते हो ?
आज़ाद
अपने दिमाग़ से ?

या चलना तुम्हारे लिए आसान है ?
जैसे आदत;
या तुम बेबस हो, आदी हो ?

लेकिन मैं कहाँ जाऊँ, मैं
सोच नहीं पाता।

सुनो, तुम चलते हो तो मैं सिर्फ़ केंचुल छोड़ता
हूँ
चल नहीं पाता, एक लकीर मेरे दिमाग़ से
अनंत तक
तुम तक होती हुई खिंचती है कि आख़िर तुम
कहाँ जा रहे हो ?
चलना क्या अन्ततः एक दिन कम करना नहीं
है ?

मैं हूँ एक नहीं के बराबर
होना चाहता हूँ होने के समानान्तर
रोशनी की त्वरा से रास्ते को
केंचुए-सा चाहता हूँ रेडियम-रेखा
बना देना

पर क्या मैं चल सकता हूँ ?
जो मैं सोचता हूँ कि रास्ता है,
(मेरा ख़ुद का बनाया हुआ)
क्या उस पर मेरा अधिकार भी है
कि कहूँ, वह मेरा है।

मैं एक ख़ालिस वोट हूँ,
(मच्छरों ने सर पे भन्ना के कहा।)
और यह रास्ता पट्टे की तरह टूट जाता है
या बन जाता है गले का फन्दा।
मैं चौराहे पर हूँ अनाथ
देश में, समय में, दुनिया के पेंचदार जहन्नुम
में,
दीखते हुए यान्त्रिक स्वर्ग में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुझे सन्देह है   मैं उतना हूँ
जितना मैं हूँ ।

क्या तुम्हें नहीं लगता कि जूँ तक हमसे ज्यादा
आज़ाद हैं;
सुखी हैं । और दरअस्ल क्या यह सभ्यता उन्हीं
की नहीं है ?

मैं=दायित्व—दायित्व की बेवसी+भौतिक
शारीरिक आवश्यकताएँ
+वोट—सर्जनात्मकता—आर्थिक या बेहूदे
अतिरिक्त तनाव—वोट
की कमन्द के साथ दूसरे देश के बक्से में या
कमीने की आँत
में ढहना—सहना+अहं से, चेतना से होना—
इनसे बचना—तिनके
की तरह बहना—भीड़ का होकर ख़ुश रहना ।

उलट दूँ तो मैं
नहीं रहता मैं ।
—मैं हो जाता हूँ ।

पर वह भी लेकर मैं कहाँ जाऊँ ?
आक्टोपस की तरह वह मुझे आविष्ट करता
मुझ पर थूकता काला थूक

नहीं होने दे सकता जूं । और इस सभ्यता से
बाहर
अकेला रहकर मैं क्या करूंगा ।

टिक-टिक   टिक...

घड़ी ठीक कर लो ।
बदल लो तारीख़ ।
तुम शायद अब रुक नहीं सकते ।

लेकिन तुम कहाँ जा रहे हो ?

कितना तेज़ चला जा सकता है ?

गति के चरम पर क्या स्थिति नहीं है ?

अन्तरिक्ष में तुम
अधिक-से-अधिक
हो
सकते   हो
बस, फिर
एक पेंचदार जहन्नुम शुरू हो जायगा;
जिसे तुम यान्त्रिक स्वर्ग कहोगे ।
कह सको, तो जाओ !
मैं नहीं कहता ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'चिति की लीला में प्रतीक का प्रकार्य'

रमेश कुंतल मेघ

: १ :

क्योंकि इस लेख के संदर्भ में 'साइके' अथवा 'चिति' की मिथक जुड़ी है और वह एक प्रतीक भी है, इसलिए हम भी एक वैसी मिथक (मिथ) से शुरुआत करते हैं। मिथक का असली और अमली धरातल चिंतन (थाट) का नहीं, बल्कि अनुभूति (फ़ीलिंग) का है। मिथक विश्वास के बजाय 'हठात्-विश्वास' (मेक-बिलीफ़) पर टिकी है। इसलिए विज्ञान के सौर धमाके के आगे मिथक की धुँधली यथार्थता की निष्ठा वाली जोत बुझ जाती है। मिथक की भी यथार्थता है। किन्तु वह पुनीत एवं प्रागैतिहासिक (प्रि-हिस्टोरिकल) है। मिथक की भी चेतना है। लेकिन वह प्राक्चिंतनात्मक (प्रि-लॉजिकल) है। मिथक का सम्बन्ध मनुष्य के बजाय मानवता के सामूहिक इतिहास से है। अतः वे सामूहिक चेतना की विरासत हैं। इसीलिए मिथक मानवता के शैशव और शिशु के सार्वभौम (यूनिवर्सल) अनुभव का पुंज है। अतः वे चैतन्य के पहले भी अस्तित्वमान थीं। अतः उनका उद्गम सामूहिक अवचेतन अर्थात् मानवता के प्राथमिक अनुभव रहे हैं। मिथकों के द्वारा ही हम—प्रतीकों के माध्यम से—मानवजाति के पुरातन इतिहास का ऐतिहासिक एवं आधुनिक अनुभवन करते हैं जिनके कई नाम हैं: प्रतीक, आर्केटाइप, मानसिक ऊर्जा (एनर्जी), फान्तासी, रूपक, बिंब, संकेत और शब्द, आदि। अतः मिथक बिंब भी हैं, और संवेग (इमोशंस) भी। अतः ये रूप और भाव, शब्द और अर्थ, बिंब और प्रतीक, भाव और कार्य के द्वंद्व से बँधे हैं। आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने मिथक-रचना के कुछ सूत्र छुए हैं। वे मिथक को अव्यक्त अनुभूति मानते हैं। जिस तरह भाषा में आदिम तत्त्व संगीत (छन्द) था जो विकसित होते-होते अर्थ हो गया, उसी तरह आदिम वृत्त में मिथक (अव्यक्त अनुभूति) था जो विकसित होकर 'माइथोलॉजी' बन गया जिसका प्रतिफलन चित्र, मूर्ति आदि हैं। आदिम मनुष्य ने सुबह की लाली देखकर 'उश्श् !' की अनुभूति की और वही 'उषा' हो गई। सिंधु से घुमड़ता हुआ एक बादल का सफेद टुकड़ा उठा होगा और मिथक-अनुभूति ने उसे ऐरावत हाथी बना दिया होगा क्योंकि मिथकशास्त्र में यह इन्द्र (मेघों के देवता) का वाहन तथा बादलों का वाहक है। उदासी तथा अकेलेपन में डूबे हुए पाषाणकालीन आदमी ने कोई एक ऐसी इच्छा की होगी जो उसे जल से, थल से, नभ से आज़ाद कर सके। तब उसके सामने सूअर ऐसा जानवर और कछुवा ऐसा जीव था। अतः उसने महावाराह और कच्छप के सादृश्य (एनालोजी) लिये। रूपक-तत्त्व (मेटाफोरिज़्म) के द्वारा उसने रूपांतरण-तत्त्व (मेटामारफिज़्म) का अनुभव किया। अतः वाराह और कच्छप के इर्दगिर्द मिथक कथाएँ जुड़ गईं। वे पवित्र और अतिमानवीय और प्रतीक से मंडित होकर 'अवतार' हो गये। आज अर्थ एवं अभिव्यक्ति-प्रधान बौद्धिक भाषा से आदिम मिथक-तत्त्व छूट गये हैं। लेकिन प्रतीकों के रूप में वे बार-बार नया-नया जन्म लेते हैं, नये अर्थ पाते हैं, नये अनुभवों का रहस्योद्घाटन करते हैं। इस रूपांतरण का सूत्र है—रूपक-तत्त्व से रूपांतरण-तत्त्व की ओर प्रयाण। रूपक (मेटाफर) के प्रति मनुष्य का लगाव यही साबित करता है कि जीवन में प्रत्येक वस्तु स्थायी परिवर्तन और पारस्परिक क्रिया की दशा में है। अतः वह रूपांतरित होती है। "रूपक-तत्त्व संबंधवाद की देन है। वह एक ऐसा दर्शन है जो मानता है कि प्रत्येक वस्तु तुलनीय (कम्पेयरेबल) और हर किसी दूसरी वस्तु से विस्थापनीय

* पंजाबी यूनिवर्सिटी, पटियाला, द्वारा आयोजित 'इण्टर-डिसिप्लिनरी सेमिनार' में फरवरी १९६९ को (मानसिक अमल विच परतीक दा कम्) शीर्षक से पठित संलेख।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(रिप्लेसिरेबल) है। इस तरह प्रतिस्थापन (सब्स्टीट्यूशन) का सिद्धांत रूपक तत्व तथा तटस्थीकरण की प्रवृत्ति, दोनों के लिए ही आधार देता है।"[1]

: २ :

तो, हम भी, 'साइके' या 'शक्ति' की चितिमय लीला के मिथक के ज़रिये मानवता, मानवजाति तथा मनुष्य के अनुभवों का मंथन कर सकते हैं और इनकी महानीलिमा के अन्तराल से 'प्रतीकों' के सहस्रदल कमलों को निकलते-डूबते पा सकते हैं। 'साइके' या 'शक्ति' मनुष्य की मानसिक दुनिया में इच्छा-क्रिया ज्ञान के जालों को फैलाती तथा बटोरती है।

यूनानी मिथक के मुताबिक नीले सिंधु और उज्ज्वल झाग पर तैरकर आई 'अफ्रोदीत' (अदिति ?) महान् देवी थी। वह दैवी मातृशक्ति के रूप में पूजित थी। किन्तु ज्यौस के वीर्य से गर्भवती पृथ्वी से 'साइके' (Psyche) उत्पन्न हुई। वह अपने कौमार्य की समस्त शालीनता के साथ द्वितीय वीनस बनी। मानवीय नारीत्व (फ़ेमिनिटी) एवं नारी भावना (वुमेनहुड) के एक क्वाँरे कुसुम के रूप में साइके का अभिषेक हो गया। ईर्ष्या के कारण अफ्रोदीत ने अपने महान् पुत्र देव इरोस (Eros) को यह काम सौंपा कि वह ऐसा विधान रचे कि साइके एक अमानवीय दानव के प्रति प्रणय में फँसे तथा विरह में भस्म हो जाए। इरोस अदृश्य देवता था अनंग की तरह। साइके थी एक सौंदर्यगर्विता देव-मानव किशोरी; लेकिन प्रेम नहीं पा सकी। इरोस उसका अदृश्य पति तथा प्रेमी था। शर्त यही रही कि वह उसे कभी देखने की कोशिश नहीं करे। अतः इरोस अँधेरे में रहा। इस मिथक-कथा में सभी कुछ अर्थ के परे झिलमिला रहा है। साइके एक 'अनाघ्रात पुष्प' है; इरोस से साथ उसका प्रणय निविड़ अन्धकार (अवचेतन) में होता है। साइके अदृश्य देवता और अमानवीय दैत्य के द्वंद्व के बीच में आन्दोलित है; उसमें रूप है किन्तु उसे प्रणय नहीं मिलता··· और···अन्ततः वह मानवीय 'अनादिवासना' या 'रति' ही है। भारतीय मिथकों में शिव और शक्ति की कथा, शिव द्वारा मदन का दहन तथा उसका अनंग हो जाना, काम की रति एवं प्रीति नामक दो पत्नियों का होना भी हमें एक ऐसे ही समानान्तर अनुभव के नज़दीक ले जाते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि मिथकीय चेतना (मिथिक कांशसनेस) हमें मानवीय वैश्वकता (ह्यूमेन यूनिवर्सेलिटी) से जोड़ देती है। इस जोड़ने की प्रक्रिया में मिथकीय नाम या संज्ञाएँ बिंबों की अपेक्षा 'प्रतीक दशा' (सिम्बालिक सिचुएशन) की अभिव्यक्ति करने लगते हैं। अतः 'प्रतीक' अर्थ के दायरे में नहीं बँधते। या तो वे बड़े होते हैं अथवा छोटे; या वे अतिमानवीय होते हैं अथवा अवमानवीय; या वैयक्तिक होते हैं अथवा सार्वजनीन। ये अर्थ को धुँधला अर्थात् दुहरा-तिहरा कई परतों वाला करके अनुभूति (फ़ीलिंग) और मनोवृत्ति (एटीच्यूड) को भी धारण कर लेते हैं। ये पदार्थ की न तो परिभाषा करते हैं न वर्णन। बल्कि ये धारणा (कांसेप्ट) को अनुभूति के धरातल पर प्रतिष्ठित कर देते हैं। सुसाने लैंगर ने प्रतीक में तात्पर्य (मीनिंग), वैशिष्ट्य (सिगनीफ़िकेंस), उपलक्षण (डिनोटेशन) तथा सारूप्य (कोनोटेशन)—ये चार प्रयोजन माने हैं।[2] अतः लैंगर के अनुसार प्रतीक किसी लक्ष्यवस्तु का स्थान नहीं ग्रहण कर सकता, बल्कि वस्तुओं की धारणा (कांसेप्शन) का ही वाहन होता है। प्रतीक हमें धारणा-बोध तक ले जाता है। उसके बाद हमारी मानसिक अव्यक्त यात्राएँ शुरू होतीं हैं जहाँ अनुभूति है, अनुभव है, अवचेतन-चेतन है, अस्तित्व (एक्ज़िस्टेंस) और भाविता (बिकमिंग) है, तथा चितिमय यथार्थता (साइकिक रियलिटी) भी है। कार्ल जुंग के अनुसार प्रतीक तब तक 'जीवंत' (लिविंग) है जब तक उसमें अर्थगर्भ है। यदि उसके तात्पर्य का जन्म उसी में से हुआ है, यदि वास्तविक प्रतीक से उसका तात्पर्य अधिक दिव्य हो गया है, तो प्रतीक मृत है और उसका केवल ऐतिहासिक महत्त्व रह गया है। तब वह केवल 'संकेत' (Sign) बन गया है।[3] वास्तव में प्रतीक उद्घाटन करता है। उसका रहस्य-द्रष्टा ऋषि स्वयं उसे नहीं जानता। अतः इन्हीं दशाओं में वह अवचेतन तक धँसता चला जाता है और एकबारगी मानवीय चेतना तथा जीवन-चेतना और मानस-चेतना की सृष्टि करता है। यही सम्पूर्णता जैसी संघटना 'चिति' या साइके है। यह मानवीय प्रकृति (नेचर) का, या मानवीय मानस (माइंड) का, अथवा ऐतिहासिक अर्थों में आत्मा (सोल) का नाम भी पा चुकी है। मूलरूपेण यह विशेषतः मानसिक जीवन का सारत्व तथा सिद्धान्त है। यह मानवता तथा मानव जाति, और मनुष्य तथा व्यक्ति में समान रूप से क्रियाशील है। वस्तुतः 'मानस' की धारणा से बहुत व्यापक और महत् धारणा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'चिति' (Psyche) की है। इसमें चेतन और अवचेतन, अस्तित्व और सत्ता, निस्पन्दन और क्रिया, व्यक्ति और मानवता आदि का द्वंद्वात्मक समाहार हो सकता है। अतः हम आगे 'साइके' को चिति तथा 'साइकिक प्रोसेस' को 'चिति-लीला' या 'चिति-प्रक्रिया' कहेंगे। इसे रेखांकित कर लिया जाए।

: ३ :

चिति में कई बिंब बार-बार आया करते हैं जो विश्व में प्रागैतिहास से लेकर आज तथा अभी तक जीवंत बने हुए हैं। वे मानवता के तथा मानव जाति के संचित अनुभव हैं जो बिंब, मिथक, प्रतीक, धारणा के नाम से अभिहित होते हैं। नाना नामों से बारंबार आकर वे मेरी, तुम्हारी, हमारी, उसकी तथा मानव जाति की ज़िंदगी में कई अभिप्रायों को पूरा करते हैं। अतः चिति-लीला (साइकिक प्रोसेस) निरंतर गति-शालिनी है, एक स्थायी गति से बँधी है; एक 'शक्ति' या ऊर्जा (एनर्जी) है जो स्व-नियंत्रण भी करती है। प्राचीन रहस्यानुभवों में इसे प्रकाश (चैतन्य) रूप 'परम् शिव' की विमर्ष 'शक्ति' कहा है जो आनन्द, इच्छा, क्रिया और ज्ञान नामक शक्तियों में विभक्त होकर पुरुष को काल (टाइम), नियति (स्पेस), विद्या (नॉलेज), कला (एक्ट) और राग (पैशन) का भौतिक प्रबोध कराती है। तब शिव 'पुरुष' हो जाते हैं, और शक्ति 'प्रकृति' एवं 'माया'। इस तरह शक्ति के स्व-नियंत्रण के द्वारा शिव ही पुरुष हो जाते हैं। उक्त रहस्यवाद में सामाजिक शक्ति की बहुविधि दशा को प्रतीक पुंज में ढाल दिया गया है। चैतन्य शिवतत्त्व को हम मानवता, मानवजाति, मनुष्य तथा व्यक्ति में समाहित कर सकते हैं; चैतन्य शिव की 'चितिशक्ति' को ही साइकिक 'ऊर्जा' मान सकते हैं जो ज्ञान, क्रिया, इच्छा और आनन्द रूपों में प्रकट होती है और अंततः समाधिस्थ शिव में लीन हो जाती है। अतः उसका प्रकट होकर 'लीला' करना चेतनावस्था, और 'लीन' हो जाना अवचेतन दशा है। इसका सम्बन्ध शिव से भी है, और पुरुष से। यह पुरुष के 'कंचुक' होकर उसको स्व-नियंत्रित करती है। चिति शक्ति की ऐसी स्थापना को जुंग ने एक लैटिन नाम 'लिबीडो' (उच्चारण : 'लि-बीऽऽडो') दिया है। लिबीडो का तात्पर्य 'कांक्षा, कामना, आवेश है। उन्होंने इसे कामना एवं ऊर्जा [या शक्ति (एनर्जी)] के संयुक्त अर्थ में इस्तेमाल किया है।

मध्ययुग में यथार्थता (रियलिटी) का धर्मरहस्य तथा अलौकिक दर्शन से अन्यथाकरण (डिस्टार्शन) कर दिया जाता था। अतः मध्यकालीन बोध में यथार्थता पवित्र (सेक्रेड) और रहस्यात्मक (अलौकिक) हो जाती है। फलतः हम मानव की सभी क्षमताओं, श्रेष्ठताओं, कामनाओं को एक-दिव्य तथा दैवी धारणा को अर्पित तथा उस पर आरोपित कर देते हैं। इस तरह पुरुष शिव हो जाता है। आधुनिक सामाजिक-विज्ञान इसे आत्मनिर्वासन (सेल्फ़ ऐलियेनेशन) की एक स्थिति मानते हैं। कार्ल मार्क्स से पहले फायरबाख़ ने मनुष्य को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए ईश्वर की धारणाओं का उन्मूलन किया। इसे उन्होंने 'अव-मिथकीयकरण' (डी-माइथोलाइज़ेशन) की प्रक्रिया कहा। फलतः समाजशास्त्र और नृतत्वशात्र (ऐन्थ्रोपोलाजी) में ईश्वर के बजाय मनुष्य की प्रतिष्ठा हुई। हमने भी 'चिति-लीला' की मध्यकालीन धारणा का अवमिथकीयकरण करके मनुष्य के अंतर्लोक तथा मानस के कई आयामों का विश्लेषण किया है। अगर हम मिथक एवं धर्म के बीच स्पष्ट सीमारेखा नहीं खींच सकते, तो मिथक और प्रतीक के बीच भी फ़र्क करना मुश्किल काम है। लेकिन इससे हम अलबत्ता मानवजाति की एकता, जीवन की चिरंतनता तथा ऐतिहासिक कालों के अनुरूप मनुष्य की चेतना के रूपांतरण के भेद-विभेद अवश्य जान सकते हैं।

शिव और अनंग का द्वंद्व, शिव और शक्ति की समरसता, अर्द्धनारीश्वर का मिथक, प्रकृति और पुरुष की पारस्परिक प्रक्रिया आदि भारतीय मिथक एवं प्रतीक हैं जो चितिलीला के अनेक कार्यधर्मों का उद्घाटन करते हैं। इस संदर्भ में हम पुनः साइके संबंधी एक दूसरा मिथक पेश करना चाहेंगे। 'डायनो-सियाका' (Dionysiaca) में आई एक मिथक में कुमारियों पर फंदे डालने वाली 'आर्तेमिस' और उसकी सहेली 'आउरा' के बीच एक दृश्य का वर्णन है जिसमें आर्तेमिस आउरा के कुचों के गुदगुदे मुलायमपन तथा उसके शरीर की सामान्य स्त्रैणता (फेमिनिटी) की आलोचना करती है। आर्तेमिस के कटाक्ष से आहत आउरा बदला लेने के लिए वनदेवता नेमेसिस (जो बाद में ट्रेजेडी का अधिशासनदेवता हो जाता है) के पास जाती है। नेमेसिस इरोस के साथ षड्यंत्र करके आउरा का कौमार्य भंग करता है। डायोनीसस को इतनी शराब पिलाई जाती है कि मदमत्त होकर वह सोती हुई आउरा के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ विश्वासघात करता है। इस मिथक में इरोस की भूमिका बदली है और अफ्रोदीत का स्थान नेमेसिस ले लेता है। किन्तु यहाँ चिति की गहराई में जाने पर हमारे सामने यूनानी राष्ट्र की यौन-संस्कृति का पैटर्न भी उन्मीलित हो जाता है। आर्तेमिस-आउरा-संवाद में यूनानियों की 'समरति' (होमो-सेक्सुअलिटी) की मनोवृत्ति का उद्‌घाटन होता है। उनके आदर्शों में सच्ची क्वाँरी को छोकड़े-जैसा (boyish) होना चाहिए, अर्थात् उसमें मांसपेशियों का उभार तथा पौरुष का संभार होना चाहिए, अर्थात् नारी-शोभा और नारीत्व का निर्धारण सुहागसेज-वाला-कमरा न करके व्यायामशाला (जिमनेशियम) करती थी। तदनुकूल नारी के पयोधरों के सेब-जैसे (apple-like) आकार तथा आकृति का निश्चय समरतिमूलक दृष्टि करती है। यूनानी मिट्टी के बर्तनों पर अंकित कुमारिकाओं के चित्र किशोर बालकों के अनुरूप-से हैं। इसी कथा का डायनीसस-आउरा वाला खण्ड भिन्नरति (हेटरो-सेक्सुअलिटी) का प्रतीक देता है। लेकिन सम्पूर्ण कथा में रति की द्वैतावस्था है। यूनानियों की समरति की दूसरी मिसाल लेस्बोस द्वीप की कवयित्री सेफो की जीवनी है जो कुमारी एत्थिस से प्यार करती थी। अतः मनोविश्लेषण ने 'लेस्बियन-प्रेम' का भी एक भेद स्वीकार किया है।

यहाँ इस मिथक-कथा को हमने इस ढंग से निरूपित किया है कि मिथक ही रूपांतरित होकर प्रतीक-दशा के वृत्त में प्रतीक बन जाता है। यूनानियों के विलक्षण 'सांस्कृतिक पैटर्न' के अन्तर्गत उनकी प्रजाति (रेस) में चितिशक्ति का प्रवाह उक्त मिथकात्मक प्रतीकों द्वारा कार्यवाहित होता रहा है। इस प्रतीक-कृत्य में नीति एवं धर्म के हाशिये विलुप्त कर दिये गए हैं। धर्म के आध्यात्मिक एवं दार्शनिक प्रतीकीकरण के उदाहरणार्थ शिव-शक्ति और पुरुष-प्रकृति की रूढ़ व्याख्याएँ दी गई थीं। ऐसी स्थिति का चितिमय (साइकिक) अनुभव अन्यथाकृत होकर 'रहस्यवादी अनुभव' हो जाता है। कुल मिलाकर मिथकीय चेतना से ही **जादू, धर्म, दर्शन** और **कला** के लोक झिलमिलाते चलते हैं। इस तरह मिथक एक ओर चितिशक्ति (साइकिक एनर्जी) के प्रवाह के कुतुबनुमा हैं, दूसरी ओर स्वयं प्रतीक हो जाते हैं, और तीसरी ओर नई-नई वैयक्तिक अनुभूतियों एवं सामाजिक संबंधों से मंडित होकर चेतना का विकास और रूपांतर भी करते हैं। आदिम मानसिक अमल में तो प्रतीकों की बेहद महत्ता थी और आधुनिक मनुष्य के अंतर्लोक में भी प्रतीक उतने ही जीवंत तथा आदिम होकर मौजूद हैं। अलबत्ता वे अवगुंठित हो जाते हैं, खण्डित हो जाते हैं अथवा पदावनत हो जाते हैं किन्तु विनष्ट कभी नहीं होते।[४]

इस तरह प्रतीक यथार्थता के उस पहलू—और सबसे गहरे पहलू—का उद्‌घाटन करते हैं जो ज्ञान के किसी दूजे कम्पास में नहीं नापा जा सकता। इस तरह मिथकाव-गुंठित प्रतीक हमें मनुष्य के यथावत् स्वरूप की पहचान कराते हैं। ये प्रतीक सिद्ध करते हैं कि प्रत्येक 'ऐतिहासिक' मनुष्य अपने संग-संग प्रागैतिहासिक मानवता का बहुत-कुछ अधिग्रहण (एडाप्ट) करता है, और ऐतिहासिकता से पलायन करने पर वह पुनः सपनों, दिवास्वप्नों और चिति (psyche) के लोक में खो जाता है। इन दशाओं में मिथकीय अतीत 'आर्केटाइपल प्रतीकों' के रूप में जाग उठता है। चिति की यथार्थता में से प्रतीक कभी भी हमेशा लापता नहीं हो सकता।

दुनिया के सभी इंसानों तथा राष्ट्रों में हम पुनः आर्के-टाइपों को नवजीवित तथा पुनरुज्जीवित होते हुए पाते हैं क्योंकि चिति की यथार्थता से प्रतीक का विलयन कभी नहीं होता। अतः आधुनिक मनुष्य भी आर्केटाइपल प्रतीकों का पुनरान्वेषण करता है, क्योंकि ये प्रतीक और मिथक विशिष्ट सामाजिक दशाओं तथा सामाजिक चेतना से मनोजन्म लेते हैं। अतः मनुष्य की चितिलीला (साइकिक प्रोसेज़) में ये उसकी वैयक्तिक, सामूहिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय चेतनाओं का भी विकास करते हैं। इन वैश्वक मिथकाच्छादित प्रतीकों के माध्यम से भी हम 'मनुष्य' और 'मानवता' की धारणा की पुष्टि होती पाते हैं जो प्रजाति (रेस) तथा ऐतिहासिक परिवेश के राष्ट्रीय स्वरूपों की विशिष्टता को भी घुला देती है। इस तरह आदिम प्रतीकों के रूप (फार्म्स) तो राष्ट्रीय होते हैं, किन्तु विषयतत्त्व (कान्टेन्ट) वैश्वक या यूनिवर्सल। ऐतिहासिक हो अथवा आधुनिक, मनुष्य की प्रत्येक अस्तित्ववादी (एक्ज़िस्टेंशियल) स्थिति में प्रतीक अनिवार्यतः प्रकट होकर उसे रूपांतरित (मेटामारफोज़) करते हैं। मनुष्य की चिति नितांत तात्कालिक (इमीडियेट) है, अतः यह अतिशय रूप से यथार्थ है, लेकिन अन्तर्मुखी भी है। अतः यह अपने अनुरूप ही बाह्य यथार्थता का अनुभव करती है। इसलिए यह यथार्थता को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

झूठा भी कर सकती है और रूपांतरित भी। चिति के ये कार्य-धर्म (फ़ंक्शन) प्रतीकों के माध्यम से होते हैं। कभी किसी कार्यधर्म और प्रतीक में परस्पर **आरोप** हो जाता है, तो कभी किसी अनुभव को प्रतीक बना दिया जाता है। हम शंख और सीप और मछली के प्रतीकों का दृष्टांत ले सकते हैं। शंख और मछली, सीप और घोंघे आदि अफ्रोदीत, वीनस, लक्ष्मी, मीनकेतन (कंदर्प) की कथाओं से जुड़कर काम, रति तथा श्री के कार्यधर्मों का वहन करते हैं। एक ओर तो इन वस्तुओं की आकृतियाँ नारी की योनि या पुरुष के लिंग के समान होती हैं, दूसरे ये मिथकीय देवप्रतीक भी काम एवं रति के कार्यधर्मों से संबंधित हैं। इसलिए देवताओं के कार्यधर्म तथा वस्तुओं की आकृति के आरोप से हम प्रजनन और मैथुन की अनुभूतियों का भोग करने लगे। विष्णु के आयुधों में शंख भी एक है; हिन्दू-विवाह के अवसर पर शंखनाद होता है, गर्भवती नारी को देखने पर उन्मत्त काम अर्थात् प्रतीक सर्प अन्धा हो जाता है, इत्यादि। इस तरह प्रतीक कर्मकांड तथा रूढ़ परम्पराओं के कार्यधर्म भी निबाहते हैं। आधुनिक मनुष्य भी संकट के समय प्रतीकों का इस्तेमाल करता है। शत्रु अथवा शत्रुराष्ट्र के संबंध में यह धारणा कि वह राक्षस है और अमंगलों का पुंज है, हमारे देशों में आज तक जीवित है। प्राचीन कालों में शत्रुओं को आसुरी माया से सम्पन्न माना जाता था। इसकी तुलना में अपने राष्ट्र को स्वर्ग, देश को पवित्र, नेता को अवतारी मानने के पीछे भी प्रतीकों का रहस्यात्मक प्रभाव है। अर्न्स्ट कैसीरर ने 'दि मिथ ऑफ़ दि स्टेट' शीर्षक पुस्तक में मनुष्य तथा राष्ट्र के मानसिक अमल में इन राजनीतिक प्रतीकों की भूमिकाओं का निरूपण किया है। विराट् आंदोलन और महत्तम क्रांतियाँ भी प्रतीकों पर आरूढ़ होकर गतिवान होती हैं। रूसो-संमत 'आदिम भोलेपन और प्राकृतिक स्वतंत्रता' से आंदोलित होकर लोगों ने फ्रांसीसी क्रांति की; प्रोमेथियस के चिरंतन विद्रोह के प्रतीक को लेकर मार्क्स ने 'मज़दूर' का अन्तर्राष्ट्रीय प्रतीक प्रसारित किया; एवं साम्राज्यवाद को समाप्त करने के प्रखर संघर्ष के निर्णय को प्रसारित करने के लिए माओ-त्से-तुंग ने साम्राज्य-वादियों को 'कागज़ी बाघ' का शानदार प्रतीक दिया। सारांश में, हमारी चितिलीलाओं को उनसे जन्मे प्रतीक अभिव्यक्त करते हैं, और वे (प्रतीक) हमारी चितिलीलाओं का सूत्र-संचालन भी करते हैं। यह दुतरफा कार्य बहिर्मुखी सामाजिक शक्तियों और अन्तर्मुखी वैयक्तिक संकल्पों के सहयोग से ही हो पाता है।

: ४ :

केवल चितिलीला (साइकिक प्रोसेस) या मानसिक अमल के क्षेत्र में प्रतीक मात्र सैद्धांतिक कार्य (एक्शन) कर सकते हैं, न कि व्यावहारिक काम (वर्क)। अतः गतिशील चिति की गति को रूपकों के माध्यम से प्रकाशित किया गया है और उसके कार्यधर्मों को 'शक्ति' (पावर) अथवा 'ऊर्जा' (एनर्जी) कहा गया है। इस 'चितिशक्ति' या 'चितिऊर्जा' को हम सांख्यदर्शन की 'प्रकृति' के साधर्म्य से समझ सकते हैं जहाँ भूत (मैटर) निरंतर तथा स्थायी गति में व्यस्त है। प्रकृति से 'महत्', महत् से 'अहंकार', अहंकार से 'मन', मन से नाना 'इन्द्रियों' का विकास दार्शनिक मनोविज्ञान के द्वारा बहुत-कुछ स्पष्ट हो जाता है। प्रकृति सृष्टि और प्रलय के ध्रुवांतों में झूलती है: कभी व्यक्त होती है, उन्मीलित होती है; और कभी अव्यक्त और निमीलित। इन विपरीत अवस्थाओं की निरंतर द्वन्द्वात्मकता (डायलेक्टिक्स) के फल-स्वरूप जो नया समन्वय (सिंथीसिस) होता है वह 'प्रतीक' है जिसमें प्रज्ञा (इंट्यूशन) तथा प्रमा (रीज़न) की विलक्षण अशांत संगति है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक जुंग प्रकृति या 'चितिशक्ति' को 'लिबीडो' कहते हैं जो दो विपरीत ध्रुवांतों (पोलारिटीज़) के बीच सतत् प्रवाहित रहता है: ज्वार-भाटे की भाँति। आप चाहें तो उन दो ध्रुवांतों का नामकरण, चेतन-अवचेतन, या इदम्-नैतिक अहं कर सकते हैं। लेकिन ये विपरीत परस्पर विरुद्ध न होकर प्रतिलोम हैं। फिर भी, यह रूपकों द्वारा की गई व्याख्या ही तो है। इवान पावलोव इसे 'प्रथम सांकेतिक व्यवस्था' (फर्स्ट सिग्नल सिस्टम) तथा 'द्वितीय सांकेतिक व्यवस्था' के नाम देते हैं। मार्क्स इसे दो विपरीत वर्गों के बीच का संघर्ष बताते हैं जिसके परिणाम-स्वरूप 'क्रांति' का आविर्भाव होता है। अथवा वे इसे काम (वर्क) और चिंतन (थिंकिंग) का नाम देंगे जिसके फल-स्वरूप प्रकृति का मानवीयकरण (ह्यूमेनाइज़ेशन ऑफ़ नेचर) करते-करते 'इतिहास' का आविर्भाव होता है; रोमांटिक योहान् वूल्फगांग गोएथे (१७४९—१८३२) इसे तनाव और खिचाव (स्ट्रेस एंड स्ट्रेन) का नाम देते हैं जिससे सुन्दर और कुरूप, अँधेरा और उजाला, गम्भीर और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हास्यात्मक आमने-सामने हो आते हैं। स्वयं गोएथे के 'फाउस्ट' की मार्गरेट और हेलेन, तथा रोमांटिक फ्रांसीसी चित्रकार देलाक्रॉ (१७९८—१८६३) ने 'शिओस का कत्ले-आम', 'पागलखाने में टासो', 'लोगों का नेतृत्व करती हुई स्वतंत्रता' जैसे फलकों को चित्रित किया। इससे यह अनुमान पक्का हो जाता है कि विपरीतों (अपोज़िट्स) के द्वंद्व के बग़ैर शक्ति या ऊर्जा का आविर्भाव नहीं हो सकता। और, प्रतीक ऊर्जा के इन्हीं ध्रुवांतों, अथवा शक्ति की सृष्टि-प्रलय धाराओं में डूबती-उतराती मणियों जैसे हैं।

कार्ल जुंग लिबीडो अर्थात् प्राकृतिक चिति शक्ति को प्राकृतिक ऊर्जा मानते हैं। यह जीवन के प्रयोजन संपादित करती है। निरंतर प्रवाहित होने के कारण इसकी मात्रा तथा तीव्रता घट या बढ़ सकती है जो दो विपरीत ध्रुवांतों के बीच तनाव की मात्रा के अनुपात में होगी। लिबीडो की अतिरिक्त ऊर्जा—जीवन की मूलप्रवृत्ति वाले (इंस्टिंक्टिव) प्रयोजन पूरा करने के बाद—सृजनात्मक कार्यों और सांस्कृतिक प्रयोजनों में इस्तेमाल हो सकती है। जुंग चेतना की माँगों को संतुष्ट करने वाली (लिबीडो की) अग्रगति को 'प्रगमन' (प्रोग्रेशन) तथा अवचेतन की माँगों को संतुष्ट करने वाली (लिबीडो की) पुरोगति को 'अगमन' (रिग्रेशन) कहते हैं। 'प्रतीक' इस ऊर्जा को दिशा (नियंत्रण) तथा अर्थ (अभिव्यक्ति) देते हैं। अगमन में एक स्वप्निल मानसिक दशा रहती है; और इसी दशा में, तथा केवल अवचेतन में ही प्रतीक का जन्म होता है। यह प्रतीक लिबीडो को आकर्षित करता है तथा उसकी दिशा में बंकिमता (कर्व) ला देता है। इस तरह चेतन में सोच-विचारकर प्रतीक नहीं उत्पन्न होता, बल्कि एक उन्मेष या स्वयंप्रकाश्य ज्ञान अथवा स्वप्न में उन्मीलित हो उठता है। सारांश में, प्रतीक का संबंध वास्तविक वस्तु से न होकर एक चितिमय तथ्य (साइकिक फैक्ट) से होता है। जुंग यह भी कहते हैं कि प्रतीकों के द्वारा लिबीडो का अन्वयन सभ्यता के आरंभ से होता चला आ रहा है। इसलिए प्रतीक कार्य मानवीय स्वभाव का ही अंग है। अपने लम्बे ऐतिहासिक अभ्यास के दौरान मनुष्य ने अपनी प्राकृतिक ऊर्जा का एक अंश मूल-प्रवृत्ति (इंस्टिंक्ट) से विच्छिन्न करके उसे संकल्प (विल) अर्थात् मन के कार्यधर्म से जोड़ दिया है। अतः यह मनस्तात्त्विक ऊर्जा मूलप्रवृत्त्यात्मक (कालिदासीय 'अबोध-पूर्वस्मृति') उद्‌गम भी रखती है और वैयक्तिक संकल्पों से अपना अभिषेक करके 'पर्युत्सुकीभावों' से विकल रहती है। इस तरह प्रतीक में व्यक्ति-मन की मौलिक पर्युत्सुकता भी छिपी है जो बहुत गहरे में जाकर मानवीय मूलप्रवृत्ति (अनादि वासना) के विराट् शक्तिपुंज के द्वारा उछाली गई है। किन्तु इसके लिए एक सामाजिक निश्चयता भी है : यह 'मिथ्या चेतना' के द्वारा आत्मनिर्वासन (सेल्फ़-ऐलियेनेशन) में नहीं बिखर पाये।

अगर हम गहराई में जाएँ, तो कार्ल जुंग के इस प्रारूप (माडल) के पीछे सामाजिक विज्ञानों की देन को खोज सकते हैं। सांस्कृतिक प्रयोजनों तथा कलात्मक कार्यों में इस्तेमाल हो सकने वाली 'अतिरिक्त ऊर्जा' की उनकी धारणा मानों कार्ल मार्क्स द्वारा खोजी गई 'अतिरिक्त मूल्य' (सरप्लस वेल्यू) का अंतर्मुखी रूपांतर है। इसी तरह उन्होंने लिबीडो-प्रवाह की कल्पना भी द्वंद्ववाद से ग्रहण की है। प्राचीन यूनानी समाज में संस्कृति और कला के रिनैसाँ की चर्चा करते हुए मार्क्स ने बताया था कि वह दासों के श्रम पर आधारित थी ताकि कुलीनों को बेहद अवकाश मिला। ऊर्जा और अवकाश (लेज़र) के ऐसे ही संबंधों को वेब्लेन ने अपने 'अवकाश-भोगी वर्ग के सिद्धांत' में स्पष्ट करते हुए कहा था कि कला एवं संस्कृति अवकाश में जन्म लेती हैं, कर्म में नहीं। अतः उच्चवर्गीय विचारधारा (आइडियोलाजी) का सारा परि-गठन (सुपर स्ट्रक्चर) कर्म और श्रम को हीन तथा अपवित्र तथा अगौरवपूर्ण मानकर विलासपूर्ण अवकाश (लेज़र) में जिस संस्कृति का निर्माण करता है वह सुखमय (प्लेज़र) है। मध्यकालीन विचारधारा ने इस 'सुख' की धारणा के ऊपर इसकी ही 'आनंद' की धारणा का एक अलौकिक एवं आध्यात्मिक रूप आरोपित कर दिया।

अतएव निष्कर्ष के तौर पर हमें हमेशा यह ध्यान में रखना होगा कि हम चितिप्रक्रिया में प्रतीकों के कार्यधर्म की जाँच-पड़ताल करते समय एक ओर तो घोर असामाजिक व्यक्तिवादी दृष्टिकोणों से बचें; दूसरी ओर उच्च वर्गों के दृष्टिकोणों को सामान्य जनता तथा मानवता की प्रकृति न मान लें, तथा तीसरी ओर सामाजिक चेतना का बलिदान करते हुए 'मिथ्या चेतना' के आदर्शवादी-अध्यात्मवादी रहस्य-लोक में न खो जाएँ। केवल द्वंद्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण ही इस विराट् विश्वैतिहासिक फलक को संतुलित रख सकता है। इसका मतलब यह कतई नहीं है कि हम अतीत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा इतिहास को एक अस्तित्ववादी मनुष्य की तरह नामंजूर कर दें। इसके एवज में हमें मानवीय चिति तथा मानवीय समाज के तत्त्वादि परख के बाद ग्रहण कर लेने चाहिए जो मनुष्य के लिए सर्वसामान्य हैं। अतः हमें जुंग की इस स्थापना से असहमत होना चाहिए कि चितिमय यथार्थता के मिथ्या-धर्म भी बराबर महत्त्व के हैं। इसके बाद ही हम प्रतीकों को व्यक्ति-मन तथा सामाजिक चेतना के अक्षों में संचरणशील बना सकते हैं, अन्यथा वे मात्र 'अनिर्वचनीय ख्याति' में भुला दिये जाएँगे। मनुष्य को प्राकृतिक बनाने के कार्य, तथा प्रकृति को मानवीयकृत करने का संघर्ष सदैव ही अन्योन्याश्रित रहा है। अतः सर्जक प्रतीक केवल चितिप्रक्रिया में ही नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तनों में भी जन्म लेते हैं, तथा उन्हें प्रभावित करते हैं। हमने यहाँ अपने विवेच्य विषय की सीमा और एकांगिता को परिलक्षित किया है।

: ५ :

प्रतीकों में समग्र 'शक्ति' तथा 'अतिरिक्त' ऊर्जा किस प्रकार अभिव्यक्त होती है? इसे समझने के लिए हमें प्रयोगात्मक (एक्सपेरिमेंटल) मनोविज्ञान की दुनिया में जाना होगा। अर्न्स्ट कैसीरर प्रतीकात्मक रूपों (सिम्बालिक फार्म्स) के दायरे में भाषा और मिथक, धर्म और कला को भी शामिल करते हैं। कला के 'प्रतीकात्मक रूप' होने का तात्पर्य यह है कि शब्द, रेखा, रंग, मुद्रा, भाव आदि कलाकार की चितिशक्ति की दिशा और अर्थ का वहन करते हैं; वैयक्तिक शैलियों और मानसिक मौलिकता को विशिष्टता देते हैं; तथा कला के सामाजिक इतिहास में समाज एवं इतिहास का **दर्पण** तथा **दीपक** हो जाते हैं। उपर्युक्त नतीजे अनिवार्य रूप से स्वयंसिद्ध हो जाते हैं। इनसे यह भी उद्घाटित होता है कि शब्द, रेखा, रंग, मुद्रा, भाव आदि भिन्न-भिन्न माध्यमों से आविर्भूत होने वाली सौंदर्यबोधात्मक इकाइयों (एस्थेटिक यूनिट्स) में कोई एकतान-व्यापार भी है। इसलिए शब्द रेखा में, रेखा मुद्रा में, भाव रंग में, मुद्रा शब्द में ढला रूपकत्व भी पा सकती हैं; तथा रूपांतरित भी हो सकती हैं। कलाकारों के स्वभावों, प्रभावों तथा शैलियों को समझने के लिए यह एक बेहद महत्त्वपूर्ण सूत्र है। कला-इतिहास तथा इतिहास-दर्शन में इस सूत्र से कलाओं के **वर्गीकरण** तथा उनके **अंतर्संबंधों** की छानबीन करने की दिशाएँ भी मिल सकती हैं। एक मूर्ति बनाने में चितिऊर्जा अधिक **समय** तक इस्तेमाल होगी; एक चित्र बनाने में चिति-ऊर्जा अधिक **स्थान** पर फैलेगी; एक नृत्य करने में अधिक **बल** (पावर) की अपेक्षा रखेगी; एक वेणुगीत रचने में अधिक **तीव्रता** से फूट पड़ेगी; इत्यादि। इस तरह कलारूपों के प्रतीक चितिऊर्जा की दिशाओं की भूलभुलैया रचते हैं। इसके साथ ही वे सभी कलाओं के एकधारा 'अनुभव' ('अर्थ' के बजाय) की एक 'वैश्वक भाषा' (यूनिवर्सल लैंग्वेज) की संभावना को साकार करते हैं। इस तरह साहित्य एवं काव्य के अलावा अन्य सभी कलाओं में अर्थ के सवाल को हल करने वाले प्रतीक ही हैं।

जेस्टाल्टवादी सौंदर्यबोध-शास्त्रियों ने बोत्तिचेली, राफेल, माइकेल एंजिलो आदि के चित्रफलकों की इन्फ्रा-रेड एक्स-किरणों द्वारा रंगीन फिल्में लीं। एक ही चित्रफलक की निरंतर बढ़ती हुई नितांत सूक्ष्म पर्तों वाली रूपरेखाएँ उभारने के लिए मिली-माइक्रोन वेवलैंथों (तरंगदैर्घ्यों) का इस्तेमाल करके उसकी चित्रावली तैयार की गई। बोत्तिचेली कृत 'वीनस का जन्म' तथा लियोनार्दो-दविंची कृत 'मोनालिसा' की जो ऐसी क्रमिक गहराई वाली कई प्रतिकृतियाँ खींची गईं उनके अध्ययन से यह ज्ञात हो गया कि इन चित्रकारों की पहली रूपरेखा क्या थी; आकृतियों में कहाँ-कहाँ तथा कब-कितनी बार परिवर्तन किये गए; कूचियों की छाप लगाने की पद्धति कैसी है; इससे कलाकार की विशिष्ट शैली का आविर्भाव किस तरह हुआ; किन स्थलों पर कलाकार ऊबा है और कहाँ तन्मय हुआ है; कहाँ उसने जल्दी मचाई है और कहाँ वह आलस्य कर गया है; किन अंगों, वस्त्रों, आभूषणों या वस्तुओं में वह मोहासक्त हुआ है; एक खंड को अंकित करने के बाद दूसरा खंड कितनी देर बाद (रेडियो-कार्बन पद्धति के प्रयोग से) उसने अन्य खंड चित्रित किये हैं...। यह ज्ञात हुआ कि बोत्तिचेली ने वीनस की कटि, कुच तथा झूलती-झूमती केशमाला में अठारह-उन्नीस बार परिवर्तन किये हैं; लियोनार्दो की मोनालिसा की मूल छवि दूसरी थी; इत्यादि।[५] कोई विशेष अंग, मुद्रा, रंग, वस्त्र, आभूषण आदि बार-बार अंकित होने पर यदि एक पैटर्न होकर शैली बनता है तो हर पुनरांकन में चिति की अनुपम अनुभूतियाँ उस वस्तु को प्रतीक-दशा के प्रभामंडल से ज्योतिर्मय कर देती हैं। जेस्टाल्ट मनोविज्ञान संपूर्णता को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधार मानकर चलता है। अतः चितिप्रक्रिया में शक्ति या ऊर्जा के विविध रूपों तथा दिशाओं को ग्राफ़ में बिंदुलित किया जाता है।

किसी एक चरण में सृजन के दौरान मूल शक्ति या प्राकृतिक ऊर्जा 'ऊ' (मू) है, कलाकार की सृजनात्मक ऊर्जा 'ऊ(सृ)' है; और कलाकृति के मुकम्मिल हो जाने पर अवशेष ऊर्जा 'ऊ(शे)' बच जाती है; तब संपूर्ण ऊर्जा को अगर 'ऊ' मानें तो यह स्थिरांक 'K' होती है। इस तरह—

(i) ऊ = K

(ii) ऊ = ऊ(सृ) + ऊ(मू) + ऊ(शे) = K

जिन कृतियों में प्रतीक ऊर्जा-प्रवाहों पर आरूढ़ होकर श्रेष्ठता और मानवचिति का अधिग्रहण कर लेते हैं, उनमें (iii) ऊ(शे) > O होता है। उन कृतियों में ऊ(सृ) क्रमशः घटती जाती है तथा ऊ (मू) बहुत अधिक होती है। जेस्टाल्ट ने ऊ(शे) के आधार पर यह पाया कि प्रतीकों के अर्थ जितने अधिक गहरे तथा व्यापक होते हैं उसी अनुपात से यह ऊ(शे) इच्छाशक्ति की स्थिरता, पाठकों की तृप्ति (रसभोग), प्रतीकों के अर्थगर्भत्व का मानदंड हो जाती है। श्रेष्ठतर दशाओं में ऊ(शे) न्यूनतम होती है; और आदर्श स्थिति में शून्य होती है। इस ऊर्जा-त्रयी से यह भी ज्ञात होता है कि कलाकार किस तरह अधिकाधिक परिष्कार तथा लावण्य के हेतु माध्यम से, और मन से, संघर्षलिप्त रहा है। माइकेल एंजिलो की सृजन-प्रक्रिया तत्स्फूर्त (स्पोंटेनियस) है और लियोनार्दो की अभ्याससाध्य (पेन-स्टेकिंग)। आमतौर पर इन ऊर्जाओं के अंकन से यह पाया गया कि आरंभ में कलाकारों को ऊर्जा बहुत बिखरी तथा थकी हुई होती है; फिर धीरे-धीरे व्यवस्थित और घनीभूत होती है; तथा अंत में घबराहट कम होती हुई तथा आत्मविश्वास बढ़ता हुआ नज़र आता है। इस तरह प्रतीकों के कार्यधर्म का नक्शा भी खुल जाता है। इसके साथ कला की दैवी प्रेरणा और रस की अलौकिकता के दैवी नकाब भी उतरे आते हैं। ग्राफ़ के X-अक्ष पर लंबाई की शक्ति [चित्र में क्षेत्रफल, काव्य में समय, आदि] को बिंदुलित किया जाता है, तथा Y-अक्ष पर ऊ(शे) अर्थात् श्रम की मात्रा को। शुरू में तो ऊ(शे) बहुत ही नमित होती है किन्तु प्रतीकों के जादू तथा दिशा में बँधकर एकदम ऊँचे उठ जाती है। इस तरह तनाव से उन्मुक्ति होते ही 'विश्रांति (रिपोज़) की ऐंद्रिकता' नष्ट हो जाती है। सृजन-प्रक्रिया को वैज्ञानिक भूमिका देने में इस पद्धति का महत्त्व तो स्वयंसिद्ध है ही (दे० संलग्न ग्राफ़)—

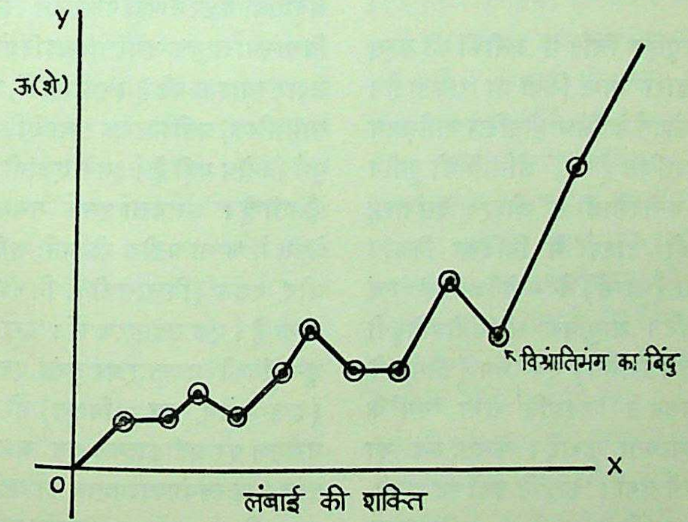

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब इस फलक का दूसरा पक्ष। एक व्यक्ति की चिति के घेरे में व्यापक समूह, वर्ग, राष्ट्र के व्यापक मानस-वृत्त होते हैं। लेख के शीर्षक की वजह से हमें यह गलतफहमी नहीं होनी चाहिए कि प्रतीकात्मक अभिव्यंजना किसी वस्तु या कर्म की भौतिक तथा विशेष प्रामाणिकता (वेलिडिटी) को बर्खास्त कर देती है। वास्तव में प्रतीक तो किसी वस्तु या कर्म में एक अतिरिक्त महत्ता भर जोड़ देता है। इस संयोग के बावजूद वस्तु या कर्म की तात्कालिक या 'ऐतिहासिक' महत्ता बरकरार रहती है। हमें 'प्रतीकात्मक' तथा 'ऐतिहासिक' को परस्पर विरुद्ध नहीं मानना चाहिए। ऐतिहासिकता के कारण ही प्रतीकात्मकता को नये-नये हाशिये मिलते हैं, तथा प्रतीकात्मकता इतिहास को वैश्वकता और चिरंतनता प्रदान करती है। इतिहासदर्शन में हम संपूर्ण मानवता, संस्कृतियों, कालों, आन्दोलनों, घटनाओं, चरित्रों तक को प्रतीकीकृत होते हुए पाते हैं। जीवन तथा जगत् के प्रति नये बोध का उन्मेष करने वाली आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियाँ परोक्ष रूप से पुराने बोधों का निमेष कर देती हैं। इटली के रिनैसाँ ने मध्यकालीन दुनिया की आध्यात्मिकता का विलयन कर डाला; गुप्तयुगों की क्लासिकल प्रतीक छवियों ने पूर्ववर्ती भरहुत-साँची के प्राक् (आर्केइक) प्रतीक रूपों को घुलाकर तराश दिया; इत्यादि। हमारी स्थापना यही है कि प्रतीक समूह, वर्ग तथा राष्ट्र की चेतनप्रक्रिया में भी सक्रिय रहते हैं; और अधिक सशक्त तथा प्रकट ढंग से।

प्रजाति या वर्ग की सामूहिक चिति में प्रतीकों की महत् भूमिका को कुछ संकेतों के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। रिनैसाँ के महान् अध्येता बर्कहार्त के शिष्य हीनरिख वाल्फ़्लिन ने, चित्रकार ड्यूरेर से अनुप्राणित होकर, शैलियों को युगीन चेतनाओं अथवा युग की मनोदशाओं से जोड़ा। इस तरह उन्होंने रूपात्मक शैलियों को 'टाइपों' में विविक्त किया। इसके साथ ही उन्होंने रूपों (फार्म्स) के मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय उद्गम खोजे। आधुनिक सौंदर्यबोधविदुषी सुज़ाने लैंगर ने भी अनुभूति (फ़ीलिंग) एवं रूप (फ़ार्म) के अंतर्संबंध खोजे हैं। वाल्फ़्लिन ने 'अनुभूति' तथा 'रूप' के बीच 'निश्चयता' की मध्यस्थता कराई। फलतः रूप का निर्धारण इतिहास-दशा करने लगा। उन्होंने रूपों का मनोविज्ञान खोजा। रेखा, छवि, भंगिमा, वर्णभंग, प्रकाश-छाया वस्त्रों की चुन्नटों और ज़री की कारीगरी आदि का अनुशीलन करके उन्होंने उन वस्तुओं के अनुभवों की धुंधली छायाएँ बाँधीं। इस उपक्रम में उन्होंने आकृतियों की सरलता और स्वच्छता का, स्वयंप्रकाश्यज्ञान की समृद्धि का, संबंधों की एकता तथा अनिवार्यता का मनोमंथन भी किया। उन्होंने शैलियाँ रूपों की प्रतीक मानीं जो (जुंगीय सादृश्य के अनुरूप ही) छै ध्रुवांत युगलों में प्रवाहित हैं: (क) तकनीकी-वनस्पतीय, (ख) अनुपात कार्यधर्म, (ग) आदर्श-यथार्थ, (घ) स्थिर-गत्यात्मक, (ङ) समीम-असीम और (च) नियमितता-अंतरता। इन सभी के आधार में उन्होंने एक विशेष जीवन की भावदशा (Lebensstimmung) और विश्व-दृष्टि को प्रतिष्ठित किया। आजकल नेत्र, मुख, वेशभूषा, वसन, स्तन, हाथ, मुस्कान, आदि को लेकर ही जो ऐतिहासिक अध्ययन हो रहे हैं उनमें इनसे संबंधित नाना बारीकियाँ, शैलियाँ, युगबोध, सामाजिक रुचियाँ आदि इन्हें प्रतीक बना देते हैं। तब इनके कार्यधर्म भौतिक और ऐतिहासिक प्रक्रियाओं में भी उद्घाटित हो जाते हैं। आधुनिक समाजशास्त्र के जनक मैक्स वेबर ने शैलियों तथा सभ्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए यह बताया है कि किस तरह सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक रूप में एक ही मिथक अथवा धार्मिक रूढ़ि एक सामाजिक वर्ग में, इसके बाद एक कानूनी व्यवस्था में, एक कलारूप में, एक तर्क व्यवस्था में, एक यौन-नैतिकता आदि में स्थानांतरित हो जाती है। कार्ल मार्क्स के आरंभिक अनुयायी वेबर ने यहाँ परिगठन (सुपर स्ट्रकचर) के एकस्तरीय विचारधारात्मक रूपों (आइडियोलाजिकल फार्म्स) की ही उदार व्याख्या की है। सारांश में, चितिमय (साइकिक) तथा सामाजिक, प्रतीकात्मक तथा ऐतिहासिक के बीच असमन्वयपूर्ण विरोध नहीं है। इनके एकांगी ग्रहण के कारण ही गड़बड़ी फैलती है। अलबत्ता इनके समन्वय से रहस्यपूर्ण और अवचेतन में जन्मा प्रतीक ही शनैः-शनैः अन्यापदेश (एलिगरी) और दर्शन (फिलासफी), निजंधर (लीजेंड) आदि बन जाता है। एक उदाहरण लें: 'इन्द्र ने वज्र फेंका'। यह मिथक भू-भौतिकी धरातल पर तुरंत एक सचेतनापरक अन्यापदेश (इन्द्र=मेघ, वज्र=विद्युत) हो जाता है तथा मनोवैज्ञानिक धरातल पर प्रतीकात्मक बन जाता है जब इन्द्र चेतना का तथा वज्र स्वयंप्रकाश्यज्ञान का प्रतीक हो जाते हैं। और यही आध्यात्मिक धरातल पर दर्शन बन जाता है जिसके अनुसार माया के पाशों को दिव्य प्रकाश काट देता है। निजंधरों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप में कई सम्राटों ने 'वज्रधारी' की उपाधियाँ धारण कीं, अथवा 'नरेन्द्र' हो गए।

अतः चिति-प्रक्रिया के अंतर्गत भी प्रतीक, चिह्न (साइन), मिथक, अन्यापदेश (एलीगरी), रूपक (मेटाफर), निजंधर (लीजेंड) में रूपान्तरित होकर कार्यरत रहता है। चिति तथा समाज, दोनों ही क्षेत्रों में ध्रुवांतों के बीच प्रवाहित होती हुई शक्ति की धारणा ही केन्द्रीय है।

अब तक हमने जेस्टाल्ट और तदुपरान्त 'सांस्कृतिक जेस्टाल्ट' के अंतर्गत शक्ति की सुव्यवस्था में प्रतीकों का दिग्दर्शन कराया है। अब शक्ति के केन्द्रापसारी (सेंट्रीफुगली) होकर बिखरने की अवस्था में प्रतीक की भूमिका का अध्ययन कर सकते हैं। इसके लिए हम एक लंबी छलाँग लगाकर आधुनिक चित्रकार पैब्लो पिकासो की मिसाल लेंगे। पहले विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद तीसरे दशक में उन्होंने जिन चित्रों को बनाया उनमें फ्रांसीसी चित्रकार इन्ग्रे, और उसके प्रेरणास्रोत राफेल की क्लासिकल परंपरा के साथ माइकेल-एंजिलो की शिल्पात्मक विलक्षणता का मेल था। लेकिन दूसरे महायुद्ध के बाद चौथे दशक में उन्होंने जो चित्र अंकित किए उनमें मुख, भुजाओं और पाँवों के कोण गड्ड-मड्ड कर दिये गये; वे आयामहीन स्थान (स्पेस) में गुड़मुड़ा गये; तथा मानव-शरीर क्षतविक्षत खंड-खंड बना दिया गया। उन्होंने यह अनुभव कराया कि किस सीमा तक कुरूप (अगली) तथा किमाकार (ग्रोटेस्क) मिलकर सुन्दर के पूरक तथा खंडक बनते हैं। उन्होंने आकृतियों में खुरदरे क्रिस्टल की तरह अनेक सतहों तथा आयामों को एक साथ उभारा है जिससे उनकी मूल या अनादि शक्ति अनियंत्रित तथा उन्मुक्त होकर बिखरी। इस तरह वे न तो असौन्दर्य के, और न ही शोभा के चितेरे हैं। वास्तव में वे 'शक्ति' के चित्रकार हैं। इसी तरह मार्क चागल 'स्वप्न' के, तथा साल्वेदोर डाली 'फान्तासी' के चित्रकार हैं। चागल में शैशव और यौवन के भोले प्रतीक हैं, तो डाली में 'आतंक' (हारर) के प्रतीक। 'असौन्दर्य' के अलावा 'घृणा', तथा उससे उत्पन्न पश्चात्ताप और शर्म वाले प्रतीक-बिंब भी उभरे।

इस भाँति 'शक्ति', 'स्वप्न', 'भोलेपन', 'घृणा', 'आतंक', आदि की भी प्रतीक-दशाओं (सिम्बालिक सिचुएशंस) ने आधुनिक चिति-प्रक्रिया को अन्वित किया है।

: ६ :

लेकिन ऊपर संकेत की गई प्रतीक-दशाओं में बेहद निजता (प्राइवेसी) के आने की सम्भावना है; और वह आई भी। फलतः 'व्यक्तिगत प्रतीकत्व' (पर्सनल सिम्बालिज्म) का फैलाव हुआ। अब सामाजिक शक्ति या चिति-ऊर्जा के आधार तिरोहित होने लगे। अतः अर्थ-भ्रान्तियाँ (एंबिग्विटीज), विभ्रान्तियाँ (कन्फ्यूजन्स), वैयक्तिक संदर्भ, आदि प्रतीकों के कार्यधर्म को स्तब्ध और अनुमानविहीन बनाने लगे। किन्तु ऋणक 'व्यक्तिगत प्रतीकत्व' का एक धनक (पाजिटिव) पहलू भी है। यह अभिव्यंजना की नई संभावनाओं, नये रूपकात्मक सम्बन्धों, विलक्षण अलंकारों, अनुभूति की बारीकियों और रूप के प्रयोगों आदि के द्वार भी खोल देता है। इस तरह से यह चेतनता के विकास के एक अगले कदम का भी प्रतिनिधि होता है। इसके साथ ही यह पहलू कलाकार के मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व का उन्मीलन भी करता है। रिनैसाँ चित्रकार लियोनार्दो (१४५२—१५१९) का लालन-पालन दो माताओं ने किया था। अतः उनके चित्रों में शिशु-ईसा दो माताओं से घिरे हुए अंकित हुए हैं; टिशियाँ द्वारा अंकित देवियों के बाद रूबेंस ने जिन आभिजात्य नारियों को अंकित किया उनमें विलासमय मांसलता, शरीर में थुलथुलापन, त्वचा में चिकनाहट लक्षित होती है। उन चित्रों में शिशु-देवदूतों की संख्या भी बढ़ गई है। कारण, कि रूबेंस (१५७७—१६४०) के समय में और उनके परिवार में उच्च-वर्गों के खानपान तथा भोगविलास में इज़ाफ़ा हुआ था तथा परिवारों में सन्तानों की संख्या भी बढ़ गई थी। बोत्तिचेली (१४४४-१५१०) ने सन् १४८५ में 'वीनस का जन्म' शीर्षक चित्र बनाया। उसकी विचार-वस्तु (थीम) तो यूनानी है किन्तु उसके उपचार में मध्यकालीन ईसाइयत की वर्जनाएँ घर कर गई हैं। अतः 'मूल पाप' की ईसाई-धारणा के फल-स्वरूप शर्म तथा अशोभनता को व्यक्त करने के लिए उसने अपने स्तनों को हाथ से ढँक लिया है। बोत्तिचेली का मानस खुद भी तो रिनैसाँ के नव्य-पेगनवाद तथा मध्यकालीन ईसाइयत के बीच द्विधाविभक्त रहा था। पिछली शताब्दी के अन्त में जब चित्रकार आगस्त रेनोआ (१८४१—१९१९) की अँगुलियाँ आर्थाइटिस रोग के कारण लुञ्ज-पुञ्ज हो गई और वे कूची पकड़ने में भी असमर्थ हो गए, तब उन्होंने शरीर की पूर्णता, ऐंद्रिकता और स्वास्थ्य के प्रतीक रूप में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नग्न रमणियों के अनूठ अंकन किये। यही नहीं, इसके बाद से उनके फलकों पर सिंदूरी, लाल और गुलाबी जैसे 'गरम' प्रभाव वाले रंगों की प्रचुरता भी हो गई। पाल गोगें (१८४८—१६०३) ने (सन् १८६१ में ताहिती जाने के बाद से) अपने चित्रों में प्रतीकात्मक तत्त्वों की भरमार कर दी जिनमें पवित्रता और भोग, भोलेपन और गम्भीरता के नाटकीय द्वन्द्व उभरे हैं। वान गोग (१८५३—६०) ने तो अपने रंगों में ही अर्थ तथा विद्युत्तरंगों की अनुभूति की। अतः उनके कैनवास का कोना-कोना आन्तरिक पर्युत्सुकता से छटपटाता मिलता है।···इस तरह हम 'व्यक्तिगत प्रतीकत्व' के उदाहरणों को बढ़ाते जा सकते हैं। लेकिन चिति-प्रक्रिया में प्रतीकीकरण के अनुशीलन पर नीचे दी हुई सम्भावनाएँ ही अनुमित होती हैं: (१) **सारूप्य तुलना** (जैसे चन्द्रमा और सोम, सूर्य और अग्नि); (२) **बहिर्मुखी कारणवादी तुलना** (जैसे, हृदय जुड़ाने वाला चन्द्रमा); (३) **अन्तर्मुखी कारणवादी तुलना** (जैसे, गौ और पृथ्वी, मादकता और अंगूर, पयोधर और स्तन); (४) **साधर्म्य तुलना** (जैसे, वियतकांग छापामार शेर की तरह बहादुर और मछली की तरह फुर्तीले हैं)।[६] इस भाँति कम-से-कम चिति-प्रक्रिया में प्रतीक के कार्यधर्मों के उपयुक्त स्तर तथा विधियाँ हैं। इनमें हम रूपक, अलंकार, अन्यापदेश, मिथक और बिम्ब के रूप में भी प्रतीक को रूपान्तरित होते हुए पाते हैं। प्रतीकों की गम्यता का मूल, अनादि रास्ता यही है कि हम 'रूपकात्मक तुलना' (मेटाफोरिक कंपेरीज़न) की क्रीड़ा या स्वप्न या क्रिया में संलग्न हो जाएँ। अतएव चिति-प्रक्रिया में ऊर्जा जिस यथार्थता का अधिग्रहण करती है वह ज्ञानेन्द्रियों एवं मनस् को, प्रतीकों के माध्यम से, अनुभूत तथा अनुमित होती है। अनुभूति की तीव्रता तथा अनुमान के लक्षणों के अनुसार ही प्रतीकपुंज रूपक, अलंकार, अन्यापदेश, मिथक, दिवास्वप्नबिंब आदि हो जाया करता है। इसलिए प्रतीक अकेला न होकर 'प्रतीकपुंज' या 'प्रतीक-स्तबक' के रूप में शृंखलाकार उपलब्ध हो जाता है क्योंकि इस पुंज या स्तबक में अभी बताये गए प्रतीकों के 'प्रकार' तथा 'तुलनाओं' के भेद भी गुँथे हैं। शायद इसीलिए सुशाने लैंगर ने प्रतीक में तात्पर्य (मीनिंग), अहमियत (सिगनिफ़िकेंस), उपलक्षण (डिनोटेशन) और सारूप्य (कोनोटेशन) के चार प्रयोजन संश्लिष्ट किये।

: ७ :

किसी भी 'प्रक्रिया' की तरह चिति-प्रक्रिया (साइकिक प्रोसेस) में भी अपूर्णता तथा निरन्तरता और माध्यम तथा कर्म की आवश्यकता रहती है। तदुपरान्त 'कृत्य' या 'कृति' या 'रचना' पूर्ण होती है। इसलिए प्रक्रिया के दौरान चिति-वृद्धि (साइकिक ग्रोथ) के कई स्तर (levels) उभरते हैं। अब एक ओर तो सामाजिक विकास तथा परिवर्तन होता है, दूसरी ओर मनुष्य का विकास तथा परिवर्द्धन होता है। अतः सही हालत तो द्वंद्वन्याय और पूरकन्याय के द्वारा दोनों पहलुओं के सामंजस्य से हासिल होगी। चिति-प्रक्रिया के प्रकार (स्वप्न, मिथक, अन्यापदेश, रूपक, अलंकार, फान्तासी) भले न बदलें किन्तु इनके वाहक और संचालक प्रतीक अवश्य बदल जाते हैं क्योंकि प्रतीकीकरण में तुलनाओं के लिए आर्थिक एवं सामाजिक उन्नतियाँ, नई-नई वस्तुएँ तथा परिवर्तित सम्बन्ध प्रदान करती हैं। कुषाण शुंगकालीन भरहुत की यक्षिणी-मूर्ति और गुप्तकालीन दीदारगंज की यक्षिणी-मूर्ति की तुलना करने पर चिति-वृद्धि के नए स्तर भी मिलते हैं। इन दो मूर्तियों के शिल्पन के बीच के समय में केवल तकनीकी कौशल में ही तरक्की नहीं हुई, बल्कि पुनर्प्रस्तुत (रिप्रेज़ेंटेशनल) **प्रतीकों** में ही परिवर्तन हो गया। तैलरंगों के आविष्कार के दौर में बोत्तिचेली तथा टिशियाँ के समय के बीच यूँ तो केवल अस्सी वर्षों का ही अन्तर है लेकिन वहाँ भी संवर्द्धित कौशल और तदनुरूप अपेक्षित कुशलतर प्रतीकायन साफ़ तौर पर लक्षित होता है। अतः सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन के नए-नए वातावरणों में ही मानवीय अस्तित्व चेतनता का निर्धारण करता है। फलतः आवश्यकताओं का बोध ही **मौलिकता, वैयक्तिकता** तथा **स्वतन्त्रता** की त्रयी को उद्धारित (ऊपर उठाता) करता है। जो मनुष्य इस उद्धार का अनुभव करके अभिव्यक्त भी कर पाते हैं उनमें 'वैयक्तिकरण' (इंडिविजुएशन) का अभिधान होता है। इस तरह **वैयक्तिकरण के द्वारा ही चिति-वृद्धि होती है**। इसके अलावा एक शिशु से प्रौढ़ के रूप में विकासशील मनुष्य की चिति-वृद्धि के भी उत्तरोत्तर स्तर होते हैं। अतः हम चिति को अकेला करने पर व्यक्तिवाद तथा आदर्शवाद तथा नव्य रहस्यवाद के शिकार हो जाएँगे।

चिति (साइके) के कम्पास में इच्छा, कल्पना, स्मृति, संकल्प, ज्ञान, संस्कार, वृत्ति, वासना, बुद्धि, मन, अहंकार,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चित्त, चैतन्य, अनुभूति, अनुभव, इंद्रियबोध, स्वयंप्रकाश्यज्ञान (प्रज्ञा) आदि आते हैं। इनका ही योगायोग 'व्यक्तित्व' (पर्सनालिटी) तथा 'प्रारूप' (टाइप) का विभेद करता है। हम इनमें से एक तत्त्व या कुछ तत्त्वों को प्राथमिकता देते हैं। उसके आधार पर मानवीय व्यवहारों (विहेवियर) का वर्गीकरण होता है। लेकिन प्रत्येक व्यक्ति की चिति आदिम तथा शैशवावस्था से विकसित होती है। पहले चरण का प्रतिनिधित्व बच्चों के चिंतारहित खेल; दूसरे का आरम्भिक किशोरावस्था या 'यौगंडावस्था' के दुस्साहसिक रोमांच; तथा तीसरे चरण का प्रतिनिधित्व यौवनावस्था के आत्मोत्सर्ग एवं आदर्शवाद करते हैं।[७] इस भाँति एक अधिक व्यापक तथा प्रौढ़ व्यक्तित्व का आविर्भाव शनैः-शनैः और चरणों में ही होता है। चिति-वृद्धि की अन्तर्दिशा का एक यह ऐसा भी प्रारूप (मॉडल) मुमकिन है। जिस तरह सांख्य दर्शन में 'अन्तःकरण' की धारणा है उसी तरह जुंग-सम्मत 'चिति' है। अन्तःकरण में बुद्धि, मन और ज्ञानेन्द्रियाँ शामिल हैं। चिति के केन्द्र में 'स्व' (सेल्फ) है जो अन्वेषी, संगठक और स्रोत है। 'स्व' तभी स्पन्दित या सक्रिय होता है जब अहं (ईगो) प्रयोजनों एवं इच्छाओं से विमुक्त होकर गहराई में डूबे। यूँ अहं चेतन के क्षेत्र में ही व्यस्त रहता है लेकिन नीचे उतरने पर उसका 'इदं' रूप स्व को स्पन्दित कर देता है। यूँ मालूम पड़ता है कि जुंग चिति-प्रक्रिया में प्रयोजनों तथा चेतनता को निर्णायक भूमिका नहीं देना चाहते। वस्तुतः मनोविश्लेषणवाद (साइको-ऐनालासिस) में 'इंद' के अनुशीलन को ही सर्वोच्च दर्जा दिया गया है। फ्रायड ने इदं-चक्र में ऊर्जा को प्रवाहित होती हुई तथा तत्काल कार्य प्रस्तुत माना है। इसकी तुलना में वे इदं-चक्र में ऊर्जा को बन्दिनी तथा अहं की आश्रिता मानते हैं। इस तरह चिति में दो प्रतिक्रियाएँ होती हैं और ऊर्जा इन दो चिति-स्तरों में आरोहण-अवरोहण करती है। कला के प्रतीक इंदचक्र से उछलकर अहं-चक्र में सक्रिय हो जाते हैं। इस तरह कलाप्रतीकों का एक प्रमुख कार्यधर्म उदात्तीकरण (सब्लिमेशन) है। कला प्रतीकों का एक दूसरा कार्यधर्म नाटक जैसे कलारूपों में 'कलात्मक भ्रान्ति' (इल्यूजन) तथा काव्य जैसे कलारूपों में 'अर्थभ्रांति' (एंबिग्विटी) उत्पन्न करना है। इन भ्रान्तियों के निराकरण के क्रम में ही प्रतीक, रूपक, अलंकार, मुद्रा, अभिनय, साधारणीकरण, स्वप्न, आभास, अन्यापदेश, अनुमान, फान्तासी आदि के संसारों के ताने-बाने झिलमिलाते हैं। चिति-प्रक्रिया में प्रतीकों की तीसरी भूमिका क्रीड़ा से आनन्द अथवा कर्म की ओर प्रयाण है। सामाजिक-जीवन में प्रतीक राजनैतिक आन्दोलनों, नैतिक आचरणों, धार्मिक कर्मकांडों आदि को प्रेरित करते हैं, लेकिन कला के संसार में वे आनन्द की ओर उन्मुख हो जाते हैं।

चिति-स्तरों (साइकिक लेवेल्स) में अदल-बदल और इस प्रक्रिया में प्रतीकों की भूमिका पर हमने संक्षिप्त विचार किया है। किन्तु कलाकार और सहृदयवृन्द प्रसंग में चिति-स्तरों में अदल-बदल के दूसरे ही आयाम खुल पड़ते हैं।

कलाकार-पक्ष से ललित सृजन में अहं के कार्यधर्मों को विश्रांति (रिलेक्शेसन) मिलती है जो कि अगमन (रिग्रेशन) या लिबीडो के अंतर्मुखी होने का ही एक रूप है। अतः कला में 'विश्रांत अगमन' की जो दशा होती है वह प्रयोजनपूर्ण तथा नियंत्रित भी होती है। इसके मुकाबले में फान्तासी और स्वप्न में बाह्य अंकुशों से सर्वतंत्र स्वतंत्रता होती है। इस भाँति हम 'कार्यधर्मी (फंक्शनल) अगमन' और नियंत्रण का सह-अस्तित्व पाते हैं। जब अगमन बहुत दूर तक हो जाता है तब प्रतीक वैयक्तिक (प्राइवेट) हो जाते हैं। यहाँ तक कि वे स्वयं को भी चिंतनदशा में अबोधगम्य हो जाते हैं। अगर नियंत्रण अत्यधिक हो जाता है, तब भी नतीजा प्रेरणा-शून्य, भावशून्य और घिसा-पिटा होता है।[८] इसलिए अगमन और नियंत्रण की दशा में, तथा इनके सामंजस्य में, चिति-स्तरों में अदल-बदल होती है। इन विभिन्न चिति-स्तरों (साइकिक लेवेल्स) में प्रतीकों की धार्य ऊर्जा की मात्रा, दिशा तथा गुण में विवर्तन होता है।

सहृदयवृन्द (आडियेंस) के मामले में एक दूसरे तरह की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया घटती है। यह एक साथ सामूहिक एवं वैयक्तिक भी है। सहृदयवृन्द अवचेतन ढंग से कलाकार के साथ तादात्म्य (आइडेंटिफ़िकेशन) करता है। सहृदयवृन्द पक्ष में चिति-स्तरों में अदल-बदल प्रतीपक्रम से होती है। इसकी शुरुआत चेतनता से होती है तथा परिणति इदं में। सहृदयवृन्द अनुभव, ज्ञान एवं रुचियों का कलाकार से तादात्म्य तथा साँझा करता है। अतः आदर्श स्थिति में कारयित्री और भावयित्री अनुभवों में सरसता हो जाती है। सापेक्ष्य दशाओं में, रचना-प्रक्रिया की भाँति, ग्राहकता में भी 'जब नियंत्रण बहुत अधिक होता है तब परिणाम पुनर्रचना (रिक्रिएशन)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न होकर पुर्नबिन्यास (रिकांस्ट्रक्शन) होता है अर्थात् अनुभव बौद्धिकताविधेन (इंटेलेक्चुआलाइज्ड) हो जाता है। ऐसे में सौंदर्यबोधात्मक प्रतिक्रिया आलोचना तथा इतिहासवाद में बौद्धिकीकृत हो जाती है।···और जब अगमन बहुत दूर तक होता है तब चिति-स्तर में अनुभव आशंसा (एप्रिशियेशन) वाला न होकर भोग (एंज्वायमेंट) प्रधान होता है। ऐसी दशा में अर्थ प्रक्षेपित (प्रोजेक्टिव) होते हैं।[६] उपर्युक्त चिति-स्तरों में हम प्रतीकात्मक प्रतिबोध को सौंदर्यतात्विक नहीं कह सकते, अगर चिति-स्तर में अदलबदल के साथ-साथ चितिमूलक या 'मनस्तात्विक दूरी' (साइकिकल डिस्टेंस) न हो। इस अवस्था पर एडवर्ड बुलो ने सबसे पहले विचार किया था। इस दूरी पर सभी सांस्कृतिक जेस्टाल्टों में विवेचन हुआ है: यूनानियों में 'कैथार्सिस', भारतीयों में 'साधारणीकरण', पाश्चात्यों में 'डिपर्सनलाइज़ेशन' के रूपों में। इन सभी में केन्द्रीय बात यही है कि अभिनेता या पात्र, या अर्थ के प्रतीक के संचरण की स्थिति में चिति-स्तर में अदल-बदल हो जाती है जिसकी वजह से सक्रियता से निष्क्रियता, व्यक्तिवाचक संज्ञा से जातिवाचक फिर भाववाचक संज्ञा की ओर उन्मुख होना प्रधान है। एक अन्य दृष्टिकोण से चिति (साइके) तथा मनोविज्ञान (साइकोलाजी) के अनुशीलन का भेद किया जा सकता है।

चिति मनुष्य तथा ब्रह्माण्ड को संबंधित करनेवाली लीलाशक्ति है। चिति **मानवीय प्रकृति** का उद्घाटन करती है। किन्तु विडंबना यह है कि इसे मनोरोगचिकित्सकों (साइकियाट्रिस्ट) की ऑपरेशन-मेज पर लिटा दिया गया है। वास्तव में चिति मनोसौंदर्यात्मक मिथक धारणा है। यह मनुष्य की इच्छाओं, इच्छापूर्तियों, आदिम अभिज्ञानों तथा सहज आवेशों की कलियों को खोलती है लेकिन फ्रायड ने इसे **'दमित अवचेतन'** के द्वारा समझाने का वितंडावाद खड़ा किया। चिति को **'प्रतीकित स्वप्नों'** द्वारा समझने-संवेदने की बात ज्यादा संगत है। यह बात अंतर्साक्षी सामाजिक यथार्थता के संज्ञान से भी जुड़ी है। अतः चिति का मशीनी बहिष्कार कदापि नहीं होना चाहिए।

मनोविज्ञान ने, चिति के बजाय चेतना को केन्द्र में गर्भित करके, स्वयं से चिति को अलग करने का विभ्रम फैलाया है। मनोविज्ञान में चितिमूलक मानवीय प्रकृति के बजाय **मानवीय व्यक्तित्व** को प्रधानता मिली। यह सही है। किन्तु मानवीय व्यक्तित्व को प्रधानतः **स्नायुमंडल** के प्रसंग में ही रखा गया। नये मनोवैज्ञानिक **कंडीशंड रिफलेक्स** को भी शामिल करने की अनबन कोशिशें करते हैं। अलबत्ता प्रत्यक्षीकरण तथा शिक्षण (पर्सेप्शन एंड लर्निंग) के क्षेत्र में मनोविज्ञान की खोजें समन्वयात्मक हैं।

अतएव चिति-लीला के प्रकाशन के लिए हमें अकेले **स्वप्न** तथा **अवचेतन** के अमूर्त बिन्दुओं को ही नहीं, बल्कि स्नायुमंडल और प्रत्यक्षीकरण के चक्रों को भी अंगीकार करना होगा। अतएव मनोरोग-चिकित्सकों के 'चिति के आधुनिक धन्वन्तरि' होने के दावे हमें कैसे मंजूर हों? हम तो 'चिति के हमदम और दोस्त' होने की बातें करते हैं। इस भूमिका में हम विचारधारक तथा सामाजिक सौंदर्यवेत्ता हैं। अतः **प्रतीक** (सिम्बल) तथा **विचार** (आइडिया)—ये ही चिति के दो आकर्णलोचन हैं।

: ८ :

जिस तरह कोई हरसिंगार का वृक्ष अपने फूल उगाता-खिलाता है, उसी तरह चिति (psyche) अपने प्रतीकों की सिरजना करती है। लेकिन वृक्ष की जड़ों की तरह चिति का आधार भी मानवशरीर, मस्तिष्क (ब्रेन), भौतिक जगत्, पदार्थ है जो मात्रा से गुण में रूपांतरित होता है। सामाजिक जीवन की बुनियाद के बिना चिति-प्रक्रिया की बात ज्यादा सार्थक नहीं है; तथा व्यावहारिक कर्म के बिना प्रतीकों के कार्यधर्म का अनुमान बेहद अधूरा, ग़लत और एकांगी है। प्रतीकों का उद्भव चिति द्वारा होता है; चिति भौतिक मानव-मस्तिष्क की चेतना का धर्म है; मानव-अस्तित्व इस चेतना का निश्चय करता है; तथा यह चेतना आर्थिक संबंधों, श्रम के विभाजन, सामाजिक संबंधों द्वारा निर्धारित होती है। इसलिए असली चुनौती तो यह है कि सही विचार और जीवंत प्रतीक कहाँ से आते हैं? वे दोनों एक द्वंद्वात्मक प्रक्रिया से उपजते हैं न कि अकेले रहस्यात्मक इदं से। सर्वप्रथम सारा ज्ञान प्रत्यक्ष (पर्सेप्चुअल) होता है। तब वह छलाँग लगाकर अवधारणात्मक (कांसेप्चुअल) अर्थात् विचार (आइडिया) बनता है। अतः अवधारणा में प्रत्यक्षीकृत ज्ञान का केन्द्रीभवन होता है। इसके बाद नाना व्यवहारों (प्रेक्टिसेज) की कसौटी पर विचारों की परख होती है। तब विचार ही कार्य (ऐक्शन) तथा प्रतीक (सिम्बल) के युगल बनते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतः ज्ञान के विचार, प्रतीक तथा व्यवहार जैसे स्वरूप प्रतिबिंबात्मक हैं अर्थात् इस व्यापार में अस्तित्व से सत्ता, भूत से चेतना, मात्रा से गुण में रूपांतर (मेटामार्फोसिस) होता है। इस प्रक्रिया में प्रतीक सेतु का कार्यधर्म निबाहता है। अतएव हमारे मत से निर्धारित विषय अधूरा तथा एकांगी है। इसके दूसरे खंड 'सामाजिक जीवन में कर्म के प्रतीक धर्म' का भी होना लाजिमी है। अंततः यह मूल सवाल बाकी ही रह जाता है : "कहाँ से सही विचार और प्रगतिधर्मा प्रतीक आते हैं?" हमराहियो, यही अगली तथा असली चुनौती है।

पाद-टिप्पणियाँ

१. 'Mannerism', Vol I, Arnold Hauser, pp. 295.
२. दे० 'Problems of Aesthetics', pp. 219-225.
३. दे० 'Psychological Types', pp 602.
४. दे० 'Images & Symbols', Mircea Eliade, pp. 9-12.
५. 'Aesthetics and the Gestalt', Ian Rawlinson.
६. दे० कार्ल जुंग : 'Symbols of Transformations.'
७. C. G. Jung : 'Man and His Symbols' pp. 160.
८. 'Psychoanalytic Explorations in Art', Erntst Kris, pp. 254.
९. Ibid p. 256.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक चीज़ के लिए

विष्णु खरे

प्रत्येक पुरागाथा-स्थिति में मैंने अपनी कल्पना
की है
शुरुआत में सब-कुछ ठीक रहता है
फिर जब मैं अमर्ष में भरकर अपना माथा
झटकता हूँ
तो फूटे अलूमीनियम की ठनठनाहट के साथ
मेरा मुकुट विग को लिए-दिए भरी सभा में
गिरता है
मेरे आदेश पर पहरेदार एक-दूसरे की तरफ
देखते हुए
नाक छिनकने लगते हैं या पेशाब करने चले
जाते हैं
और जिरहबख्तर के नीचे अण्डकोष पर चलती
हुई चींटी को
राजमहिलाओं की उपस्थिति में न मसलने को
मजबूर
एक जाँघ को दूसरी पर रखते हुए मैं
अपने मालिशवाले की सेवाओं का स्मरण
करता हूँ
जो मेरे अन्दर तक के दुखः-सुख का साथी है

बतलाओ क्या हो जाता है
बलवे राज्यक्रांति और सत्ता-परिवर्त्तन के बाद
मैं पूछता हूँ राजचित्रकार द्वारा 'उकेरे गए' उस
युवा अक्स से
उकड़ूँ बैठने से क्यों फूहड़ हो जाते हैं परिधान
क्यों टूट जाती हैं ध्वजाएँ इरादों की
एक धोखे से दूसरे धोखे के बीचवाले अन्तराल में
लोग क्यों इस तरह लोमहर्षित होते हैं और
सरासर आमन्त्रित करते हैं
और फिर वही माँगते हैं एक नया सिर और
आदर्श वाक्य
सभासद क्यों बैठते हैं दीवार से लगी अँधेरी
कुर्सियों पर
कौन ऐन मौके पर काट देता है तार लाउड-
स्पीकरों के
मेरे चेहरे वाले डाक-टिकट क्यों नहीं चिपकाते
बच्चे अब कापियों में
हथेली पर घिसकर मेरे सिक्कों को बस
कंडक्टर क्यों लौटाता है
क्या इसी तरह लौटा जा सकता है समय में
एक निरन्तर प्रचलित क्षण बन सकने के लिए
इतिहास में या तो सतृष्ण मृत्यु है या विस्फा-
रित हत्याकांड
मैं नहीं चाहता अब उठाईगीर के बाद व्यवस्था-
पक रहना—
किन्तु गैलरी में महिलाएँ आँखों पर रूमाल
ढँके हुए
प्रतीक्षा में हैं कि ठहरा हुआ हाथ नीचे आए
और कुछ नया हो
उनके ऋतुमती होने से पहले

उस और इस क्षण के बीच सिर्फ स्मरण ही कर
सकता हूँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब एक चीज़ के लिए मेरा सब नहीं छीना
गया था—
रंग देखने के लिए आँखें
धरती के घूमने और घूमने के बीच की गन्ध
और औरत के साथ सोने की स्वस्थ इच्छा
दूसरे चेहरों के पसीने को अपने हाथ के विरल
बालों में
और मसूढ़ों से दबाये गए अंगूठे को महसूस
करते हुए
मैं रोज़ जाता था
एक व्याख्याहीन पशु को लड़ाई की अगली
किस्त चुकाने
झाड़फानूस के नीचे पदचापों के दुःस्वप्न देखना
तब तक मेरा व्यवसाय नहीं बना था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वच्छन्दतावादी समीक्षक नन्ददुलारे वाजपेयी

विष्णुकान्त शास्त्री

अपनी-अपनी दृष्टि से साहित्य की परीक्षा, समीक्षा और चर्चा पंडित, समीक्षक और पत्रकार तीनों करते हैं। जिस प्रकार तीनों की दृष्टियाँ अलग-अलग होती हैं, उसी प्रकार उपलब्धियाँ भी। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी अपने साहित्यिक जीवन के एक दौर में पत्रकार भी थे और एक दौर में विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष भी (जो पद मुख्यतः पांडित्य की ही अपेक्षा करता है) किन्तु वे मूलतः समीक्षक ही थे, पत्रकार और पंडित नहीं। उनके कर्तृत्व को ठीक-ठीक समझने के लिए इन तीनों की भूमिकाओं का किंचित् विश्लेषण करना लाभदायक होगा।

पंडित किसी रचना की सृजन-प्रेरणा के ऐतिहासिक कारणों की जाँच करता है, उसके मूल उपादानों की छानबीन करता है, प्रायः परम्परागत रूप से स्वीकृत प्रतिमानों के आधार पर उसका शास्त्रीय अध्ययन करता है, उसके पाठालोचन या भाषावैज्ञानिक विवेचन में प्रवृत्त होता है, परवर्त्ती साहित्य पर पड़े उसके प्रभाव का निर्धारण करता है, किन्तु जैसा कि प्रायः देखा गया है कि अपने तमाम शुष्क, ज्ञानपूर्ण अनुशीलन के बावजूद उस रचना के सौन्दर्य का उद्घाटन नहीं कर पाता, उसकी मार्मिकता का रसास्वादन नहीं करा पाता। दूसरी तरफ पत्रकार किसी रचना की चलती-सी चर्चा स्थूल, सामयिक दृष्टि से कर लेता है, अपनी सतही समझदारी के बलबूते पर उसके सम्बन्ध में अनुकूल-प्रतिकूल फतवे देकर विवाद खड़ा कर पाने में चरितार्थता का अनुभव करता है। हिन्दी के सन्दर्भ में ही बात करनी हो तो पहली कोटि के अन्तर्गत आते हैं, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० माताप्रसाद गुप्त आदि और दूसरी कोटि के अन्तर्गत पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर आदि। इन कोटियों से भिन्न कोटि होती है समीक्षक की, जो शुष्क गवेषणा और सनसनीखेज फिकरेबाज़ी दोनों से बचकर रचना के मर्म में प्रवेश करता है, उसकी कलात्मक सुन्दरता का, उसकी सांस्कृतिक विशिष्टता का प्रतिपादन करता है, उससे प्राप्त होने वाले आनन्द का, रस का आस्वादन करता-कराता है, जीवन को गति देनेवाली उसकी शक्ति का मूल्यांकन करता है, उसे व्यापक सन्दर्भ में रखकर उसके महत्त्व का निरूपण करता है। उसमें पंडित के ज्ञान और पत्रकार की प्रभविष्णुता का भी अन्तर्भाव रहता है, किन्तु सीमा के रूप में नहीं, गरिमा के रूप में। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ऐसे ही सुधी समीक्षक थे।

यहाँ हम यह स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते हैं कि वाजपेयीजी को 'पंडित' से पृथक् कोटि का मानना उनकी विद्वत्ता पर शंका करना नहीं है। निश्चय ही वे गंभीर विद्वान् तथा पूर्व और पश्चिम के साहित्य एवं साहित्यशास्त्र के मर्मज्ञ थे। हमारा अभिप्राय यही है कि वे पुरातात्त्विकता और शास्त्रीयता के खूंटों से बँधे रहने से इन्कार करते थे। उन्होंने 'पांडित्य' के क्षेत्र में भी काफी काम किया है, सूरसागर और रामचरितमानस का सम्पादन, दर्जनों शोध-प्रबन्धों का निर्देशन आदि इसके प्रमाण हैं, किन्तु यह उनकी मुख्य दिशा नहीं थी। वे स्वयं शोध-कार्य में प्रवृत्त होकर भी नहीं हुए, यहाँ तक कि अपनी पुस्तक 'महाकवि सूरदास' के शोधपरक आरंभिक परिच्छेद भी उन्होंने स्वयं नहीं लिखे, अपने निर्देशन में अपने छात्र श्री मधुसूदन वाखले से लिखवाये और भूमिका में उन्हें अपने मुखर आशीर्वाद दिये। सूरदास को छोड़कर उन्होंने किसी प्राचीन कवि पर विस्तारपूर्वक नहीं लिखा। न हिन्दी साहित्य के इतिहास के अनुसंधान में, न सैद्धान्तिक समीक्षा के मौलिक गंभीर विवेचन में ही रस लिया। इतिहास-सम्बन्धी उनकी छोटी-सी पुस्तक और पूर्वी-पश्चिमी समीक्षा-सिद्धान्तों से सम्बन्धित उनके कुछ निबन्ध मुख्यतः परिचयात्मक एवं प्राध्यापकीय उत्तरदायित्व के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्वाह मात्र हैं।

सिर्फ इतना ही नहीं, उन्होंने स्थान-स्थान पर शुष्क पांडित्य पर कटाक्ष भी किये हैं, उसे 'स्थविर शास्त्राचार' कहा है। परम्परागत पंडितों के प्रति उनकी मान्यता थी कि उनमें "पांडित्य की प्रचुरता तो थी, परन्तु उसका प्रयोग अधिकतर शास्त्रार्थी पद्धति पर किया जाता रहा। लोग बाल की खाल अधिक निकालते थे।"[1] उनकी दृष्टि में पश्चिमी पंडितों की छत्रछाया में प्राच्य अनुसंधान के कार्य में संलग्न भारतीय "पंडितों की सबसे बड़ी कमी यह थी कि वे अपने पश्चिमी अभिभावकों द्वारा बाँधी गई लीक से बाहर निकलने में असमर्थ थे।"[2] सीधे पश्चिमी पंडितों की संकीर्ण साहित्यिक दृष्टि से असहमति प्रकट करते हुए उन्होंने कहा था, "पश्चिम के पंडितों ने काव्य की परिधि बनाते हुए न जाने क्यों धार्मिक और आध्यात्मिक कृतियों को उससे बहिष्कृत-सा कर दिया है और ब्लेक, ब्राउनिंग जैसे दार्शनिक कवियों को भी उनका उचित आसन देने में संकोच करते हैं।"[3] केवल पांडित्यपूर्ण गवेषणा करने वालों को साहित्य-समीक्षक मानने में उन्हें आपत्ति थी। उनकी उक्ति है, "हमें यह देखकर प्रसन्नता होती है कि डॉक्टर हज़ारीप्रसाद द्विवेदी तथा डॉ० माताप्रसाद गुप्त जैसे शोधकर्त्ताओं ने साहित्य समीक्षा तथा शोधकार्य का अन्तर समझकर दोनों के बीच चक्कर लगाने की आदत छोड़ दी है।"[4] आ० द्विवेदी सम्बन्धी उनकी मान्यता को हम संशोधन-सापेक्ष मानते हैं, फिर भी इससे उनकी दृष्टि तो स्पष्ट होती ही है। प्राच्य और पाश्चात्य पांडित्य की उपलब्धियों के ज्ञाता होते हुए भी उनकी रूढ़ियों से बँधने से इन्कार करना, शास्त्र-दृष्टि पर आत्म-दृष्टि को प्रधानता देना समीक्षक नन्ददुलारे वाजपेयी की स्वच्छन्दता का एक प्रमुख तत्व है।

यदि वे पांडित्य के घटाटोप से, -उसके भारी-भरकम निर्णयों से साहित्यिक विदग्धता को आक्रान्त होने देना नहीं गवारा करते थे तो पत्रकारों की हल्की-फुल्की रायजनी तो उनके लिए और भी अग्राह्य थी। साहित्य और जीवन के प्रगाढ़ पारस्परिक सम्बन्ध को स्वीकारते हुए उसके निरूपण में गंभीरता की माँग एवं सतही पत्रकारी फतवों से वितृष्णा प्रकट करते हुए उन्होंने व्यंग्यमयी शैली में लिखा था, "जीवन इतना रहस्यमय और अज्ञेय है और परिस्थितियाँ इतनी बहुमुखी हैं कि इस सम्बन्ध में अधिक-से-अधिक सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता है, नहीं तो एक कलकतिया सम्पादक जी की तरह सैनिक और साहित्यिक तथा आनन्द भवन और शान्तिनिकेतन के बीच में ही अटक रहने का भय है।"[5]

किन्तु जिस प्रकार पांडित्य की परम्परा से अभिभूत न होते हुए भी वैदुष्य का पुष्कल प्रमाण उन्होंने अपनी रचनाओं में दिया है (जो तत्त्व उनकी समीक्षाओं को श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी की समीक्षाओं से पृथक् करता है) उसी प्रकार पत्रकारिता के 'चलतेपन' से बचकर भी उसके प्रश्नमुखर पैनेपन को, उसकी जीवन्त विवादोत्तेजकता को उन्होंने अपनाया है, (जिसके फलस्वरूप उनकी समीक्षाएँ डॉ० नगेन्द्र की गुरुगंभीर समीक्षाओं की तुलना में अधिक प्रभावशाली एवं उपभोग्य बन पड़ी हैं।)

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का ऐतिहासिक कार्य है प्रबल विरोधों के मध्य छायावादी काव्य के महत्त्व का प्रतिपादन एवं उसके सौन्दर्य का उद्घाटन करना। अवश्य ही श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी एवं डॉ० नगेन्द्र के कार्य भी इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि हरावल में आचार्य वाजपेयी ही थे। छायावादी काव्य की प्रतिष्ठा के लिए उसके अव्यवहित पूर्व की कविता की तुलना में उसकी श्रेष्ठता का तथा उसके सम्यक् मूल्यांकन में असमर्थ समीक्षकों के प्रतिमानों की संकीर्णता का दिग्दर्शन कराना आवश्यक था। अतीत से प्राप्त संस्कारों में संशोधन कर ही नयी पीढ़ी अपनी जीवन-दृष्टि का निर्माण करती है, अतः उसके लिए अनिवार्य हो जाता है कि वह अतीत विशेषतः निकट अतीत से अपनी भिन्नता और यदि संभव हो तो श्रेष्ठता प्रमाणित करे। आश्चर्यजनक निर्भीकता, स्पष्टता और सफलता के साथ वाजपेयीजी ने यह कार्य सम्पन्न किया। वाजपेयीजी मुख्यतः कविता के ही आलोचक रहे हैं। प्रसंगवश उपन्यास, कहानी, नाटक आदि की चर्चा भी उन्होंने की है, किन्तु काव्य-समीक्षा के सदृश तलस्पर्शिता का आभास उनकी अन्य समीक्षाओं में नहीं मिलता।

द्विवेदीयुगीन कविता की तुलना में छायावादी कविता को समृद्धतर सिद्ध करना अपेक्षाकृत रूप से सरल कार्य था। आ० महावीरप्रसाद द्विवेदी के सम्बन्ध में दिया गया उनका यह निर्णय कि उनकी कृतियों में, "न कल्पना की उच्च उद्भावना है, न साहित्य की सूक्ष्म दृष्टि, केवल एक शुद्ध प्रेरणा है जो भाषा का भी मार्जन करती है और समय पर सरल उदात्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भावों का भी सत्कार करती है"[६] द्विवेदीयुगीन कविता के लिए भी सही है। उसके प्रतिनिधि कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त की मूलभूत विशेषता को रेखांकित करते हुए वाजपेयी-जी ने कहा है, "सारग्राही सरलता के साथ-साथ गुप्तजी की आदर्शवादिता भी चलती है। उस आदर्शवादिता में औदात्य उतना नहीं है, जितनी एक भावुकतामय नैतिकता।"[७] अपने कथन की सारवत्ता को प्रमाणित करने के लिए उन्होंने प्रायः समान विषयों एवं भावों पर रचित गुप्तजी एवं प्रसादजी के प्रतिनिधि काव्यांशों की तुलनात्मक विवेचना भी की और यह निष्कर्ष निकाला कि प्रसादजी के काव्य (छायावादी काव्य) में "एक नई कल्पनाशीलता, नूतन जागरूक चेतना, मानसवृत्तियों की सूक्ष्मतर और प्रौढ़तर पकड़, एक विलक्षण अवसाद, विस्मय, संशय और कौतूहल जो नई चिन्तना का सूक्ष्म प्रभाव है, प्रकट हो रहा है"[८] तथा युगानुरूपता की दृष्टि से उसमें कुछ कमियाँ भले हों "किन्तु गुप्तजी की ऐकान्तिक आदर्शवादिता और सीधी-सादी भावव्यंजना से कई कदम आगे वह अवश्य हैं।"[९]

पूर्ववर्त्ती समीक्षा के प्रतिमानों की सीमाओं का निर्देश कर पाना अधिक कठिन कार्य था, क्योंकि उसके नियन्ता थे आ० रामचन्द्र शुक्ल, जो न केवल हिन्दी के क्षेत्र में बल्कि अखिल भारतीय क्षेत्र में साहित्य-समीक्षा की दृष्टि से अत्यन्त मौलिक एवं प्रशस्त कार्य कर गये हैं। काव्य-समीक्षा के उनके प्रतिमान न केवल वाल्मीकि, कालिदास, सूर, तुलसी, जायसी की कृतियों के आधार पर निर्मित हुए थे बल्कि उन पर शेली, कीट्स आदि की कृतियों के अनुशीलन की भी गहरी छाप थी। केवल भरत, मम्मट, विश्वनाथ आदि ही नहीं, मैथ्यू अर्नाल्ड एवं रिचार्ड्स आदि भी उनकी दृष्टि के समक्ष थे। श्रेण्य संस्कारों के बावजूद वे स्वच्छन्दतावाद के प्रशंसक थे। जायसी, घनानन्द की ही नहीं, श्रीधर पाठक एवं मुकुटधर पांडेय की स्वच्छन्दता की भी सरांहना उन्होंने की थी। अपने 'इतिहास' के प्रवधित संस्करण में उन्होंने छायावाद की जो संक्षिप्त एवं मार्मिक आलोचना की है, वह उसकी सीमा को ही नहीं शक्ति और सुन्दरता को भी उद्घाटित करती है और आज भी कई दृष्टियों से बेजोड़ है। छायावाद के आरंभिक काल में उन्होंने उसकी वादग्रस्त रहस्यात्मकता का ही विशेष विरोध किया था जिसे वे स्वाभाविक रहस्यानुभूति से भिन्न, साम्प्रदायिक एवं अनुकरणमूलक मानते थे, साथ ही अभिव्यंग्य को गौण एवं अभिव्यंजना को अतिशय प्रधानता देनेवाली दृष्टि को भी वे अनुचित मानते थे, क्योंकि उससे हवाई कल्पना के कारण ऐसे निरर्थक वाग्जाल को प्रोत्साहन प्राप्त होता है जिसका अनुभूति की सच्चाई से बहुत कम सम्बन्ध रह जाता है। ईमानदारी का तकाज़ा है कि यह स्वीकार कर लिया जाये कि उनके इन आरोपों में सत्यांश था और एक सीमा तक उनका शुभ प्रभाव भी पड़ा।

किन्तु यह खेदजनक सत्य है कि आ० शुक्ल का पांडित्य छायावाद के रहस्यवादी स्तर को विदेशी भावापन्न एवं उसकी अभिव्यंजना को कृत्रिम सिद्ध करने में इतना उलझ गया था कि आरंभ में वे उसके आधारभूत गुणों के फलस्वरूप हिन्दी काव्य में आये नवोन्मेष का, नवीन सौन्दर्य का स्वागत एवं सहृदय मूल्यांकन नहीं कर पाये। इस ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति का श्रीगणेश किया आ० नन्ददुलारे वाजपेयी ने। अपने गुरु आ० शुक्ल से बहुत दूर तक प्रभावित होते हुए भी उन्होंने समीक्षा-सम्बन्धी उनके प्रतिमानों को चुनौती दी। शुक्लजी की छायावाद-रहस्यवाद की कठोर आलोचनाओं से क्षुब्ध होकर अपने युवक सुलभ आवेश एवं 'तलस्पर्शी एकांगिता' के आवेग में बहकर १९३१ में उन्होंने जो आक्रामक लेख उनके विरुद्ध लिखा, वह फेनिल होते हुए भी समीक्षा के पुराने प्रतिमानों के समक्ष कई प्रश्नचिह्न लगाने में समर्थ हुआ। १९४० में शुक्लजी पर लिखे अपने दूसरे अधिक संयत एवं सन्तुलित लेख में वाजपेयीजी ने उनके समीक्षा-सम्बन्धी प्रतिमानों की प्रमुख कमियों का निर्देश करते हुए यह निष्कर्ष निकाला था कि "शुक्लजी की सारी विचारणा द्विवेदी-युग की व्यक्तिगत, भावात्मक और आदर्शोन्मुख नीतिमत्ता पर स्थित है। समाजशास्त्र, संस्कृति और मनोविज्ञान की वस्तून्मुखी मीमांसा उन्होंने नहीं की है। प्रवृत्ति-विषयक उनकी धारणा भारतीय धार्मिक धारणा की अपेक्षा पाश्चात्य अधिक है। उनका काव्य-विवेचन भी प्रबन्ध-कथानक और जीवन-सौन्दर्य के व्यक्त रूपों का आग्रह करने के कारण सर्वांगीण और तटस्थ नहीं कहा जा सकता। नवीन युग की सामाजिक और सांस्कृतिक जटिलताओं का विवेचन और उनसे होकर बहने वाली काव्य-धारा का आकलन हम शुक्लजी में नहीं पाते।"[१०]

आदर्शोन्मुख नीतिमत्ता के स्थान पर (आदर्शोन्मुख !) स्वच्छन्दता का, स्थूल व्यक्त सौन्दर्य के साथ-साथ सूक्ष्म, रहस्यात्मक अव्यक्त सौन्दर्य का, लोकमंगल को मूलतः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वीकारते हुए भी कलात्मकता के महत्त्व का, पूर्व-निश्चित दार्शनिक, साहित्यिक सिद्धान्तों की स्थिर कसौटियों को बाधक बताकर लचीले एवं गतिशील जीवन के सन्दर्भ में रख-कर कलात्मक कृतियों के सौन्दर्यानुसन्धान का, घटना-परिस्थिति बहुल प्रबन्धकाव्य की तुलना में मनःस्थिति-विशेष की उत्कट संवेदनशीलता से युक्त प्रगीतमुक्तक का समर्थन एवं प्रतिष्ठापन वाजपेयीजी ने किया। "व्यक्तित्व और कार्य की दृष्टि से अब तक नये समीक्षक उनकी (शुक्लजी की) समता पर नहीं आ सके हैं" इसे स्वीकारते हुए भी शुक्लोत्तर समीक्षा की उपलब्धि के सम्बन्ध में उनकी दृढ़ धारणा है, "शुक्लजी की अपेक्षा नई समीक्षा में साहित्य के ऐतिहासिक विकास और सामाजिक प्रेरणाशक्तियों, शैलीभेदों और कलास्वरूपों की परख अधिक व्यापक और मार्मिक है, इसमें सन्देह नहीं। शुक्लजी की नैतिक और बौद्धिक दृष्टि की अपेक्षा नये समीक्षकों की सौन्दर्य-अनुभूति और कलाप्रधान दृष्टि एक निश्चित प्रगति है..."[११] कहना न होगा कि शुक्लोत्तर समीक्षा के इस रूप के प्रतिनिधि समीक्षक स्वयं श्री नन्ददुलारे वाजपेयी हैं।

प्रश्न हैं: समीक्षा के इन नये प्रतिमानों को वाजपेयीजी क्योंकर विकसित कर सके, क्या इनके द्वारा समग्र छायावादी काव्य की समुचित समीक्षा उन्होंने की, क्या परवर्ती साहित्य की सम्यक् आलोचना इनके आधार पर वे कर पाये? वाजपेयीजी के कार्य के सन्दर्भ में ही इन प्रश्नों पर विचार करना संभव है।

पहले प्रश्न के उत्तर में यह असन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि उनके ये प्रतिमान मुख्यत: छायावादी काव्य के अनुशीलनजन्य संस्कारों से निर्मित हुए हैं, यह ठीक है कि पूर्व और पश्चिम की समशील काव्यधारा में अवगाहन एवं तदनुरूप समीक्षा-सिद्धान्तों के मनन द्वारा उन्होंने उन्हें और व्यापक तथा यथातथ्य बनाया, किन्तु यह द्वितीय स्तर पर किया गया कार्य है। अपने संस्कारों के रचनात्मक काल में वे प्रसाद, निराला, पन्त के नवोन्मेषशाली काव्य के सम्पर्क में आए और उनके 'प्राकृतिक अध्यात्म के शिलान्यास' से, उनके 'असाधारण उल्लास और वेग तथा उनकी सशक्त भाषा' से, उनकी 'अतिशय सजीव कल्पना सृष्टि' तथा 'कोमल अथच मार्जित' रुचि से आकृष्ट होकर उनके रंग में रँग गये। वस्तुतः कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा का अन्तःसम्बन्ध होता है एवं युगचेतना जिस प्रकार रचना के स्तर पर प्रतिफलित होती है, उसी प्रकार आलोचना को भी वह उद्दीप्त करती है। नई रचनाएँ जब प्रचलित साहित्यशास्त्र की सीमाओं में नहीं समातीं तो ऐसी नई आलोचना का विकास आवश्यक हो उठता है, जो उनकी संगत व्याख्या एवं समीक्षा कर सके, जो आलोचना के पुराने प्रतिमानों में उन नई रचनाओं के आधार पर कुछ नये प्रतिमान जोड़ सके। छायावाद के सम्बन्ध में आ० वाजपेयी का अग्रणी कार्य इसी सत्य की पुष्टि करता है। 'नया साहित्य : नये प्रश्न' के निकष में वाजपेयीजी ने स्वीकारा है, "प्रसाद के 'आँसू' की मार्मिक पंक्तियाँ, निराला की 'तुम और मैं', 'जुही की कली' और अन्य अनेक रचनाएँ तथा 'पल्लव' के बहुत-से प्रगीत विशिष्टता का प्रतिमान बनकर मेरे समक्ष आये थे। मेरा कार्य केवल विवेचन और व्याख्या करना था।"[१२] प्रसाद, निराला, पन्त के काव्यानुशीलन से उपलब्ध प्रतिमानों के अनुकूल न होने के कारण ही वे अपने समीक्षक जीवन के आरंभ में प्रेमचन्द को उनका वास्तविक प्राप्य नहीं दे सके थे। उन प्रतिमानों में स्वाभाविक रूप से संशोधन, संवर्धन करने के बावजूद मूलतः उन्हीं के कारण वे अपने समीक्षक जीवन के मध्य और उत्तर काल में प्रगतिवाद और प्रयोगवाद का अंशतः या समग्रतः प्रत्याख्यान करते रहे।

आगे बढ़ने के पहले संक्षेप में देख लिया जाए कि युग-चेतना के किन उपादानों के आधार पर ये प्रतिमान टिके थे। अपने आदर्श कवियों की जीवनदृष्टि की समन्वित चर्चा करते हुए वाजपेयीजी ने कहा है, "ये तीनों ही राष्ट्रीय स्वातंत्र्य के हिमायती, प्रजातंत्र के हिमायती और मानव के अंतर्निहित उत्कर्ष के हिमायती कवि हैं।...इनकी जीवनदृष्टि प्रमुखतः प्रगतिशील और महान् आस्थाओं से समन्वित है, यद्यपि वैयक्तिक वेदना और निराशा के झकोरे भी इनके काव्य में मिल जाते हैं।"[१३] इन्हीं के अनुरूप साहित्यिक क्षेत्र में 'अनुभूति और अभिव्यंजना का युगपत् विन्यास' हुआ छायावाद में। जहाँ एक ओर प्रकृति और मानव-जीवन के सम्बन्ध तथा प्रेम-कल्पना को आध्यात्मिक भूमि पर पहुँचा देने के कारण उसमें 'उदात्त दार्शनिक और रहस्यात्मक अनुभूति की प्रमुखता' हुई, वहीं दूसरी ओर उसमें 'स्वातंत्र्य-लालसा, शक्ति की अभिज्ञता और सांस्कृतिक द्वन्द्व की अनिर्दिष्ट स्थिति भी' देख पड़ी, जिसमें 'कल्पनात्मक और भावनात्मक प्रवृत्तियों' की प्रमुखता है, किन्तु 'कर्मचेतना' की सर्वथा उपेक्षा नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन सबके साथ ही आविर्भाव हुआ 'भाषा में नई लाक्षणिकता का', परिष्कृत संगीतात्मकता का। 'समस्त छायावादी काव्य इसी असाधारण सौन्दर्य भूमि पर स्थित है।"[१४]

राष्ट्रीय स्वातंत्र्य-आन्दोलन और सांस्कृतिक पुनर्जागरण की साहित्यिक अभिव्यक्ति के रूप में छायावादी काव्य की प्रतिष्ठा उनके विकसित युगबोध का प्रमाण है। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि दार्शनिक या राजनीतिक चिन्तन को साहित्य में वे अनुलोम स्थिति में ही स्वीकार करते थे। साहित्य में भावोन्नयन के साधन के रूप में उनका प्रभाव वे शुभ मानते थे किन्तु साध्य रूप में उनकी प्रतिष्ठा के विरोधी थे। साहित्य में किसी साहित्येतर मूल्य को आत्यन्तिक स्थिति देने के लिए वे प्रस्तुत न थे, चाहे वह कोई क्रमागत साम्प्रदायिक दर्शन हो, चाहे राजनीतिक या मनोवैज्ञानिक मतवाद। औरों की बात तो जाने दीजिए, पंतजी के परवर्ती विकास से भी वे इसी कारण असन्तुष्ट थे। उनका आरोप है, "क्रमशः पंतजी के काव्य में बौद्धिक विश्लेषण की कृत्रिमता बढ़ती गई है और काव्य का सहज प्रवेग क्षीण होता गया है।···काव्य की अन्तरात्मा इनमें प्रशस्त रूप से प्रकाशित नहीं है। वह सिद्धान्त-चर्चा के वायुवेग से आक्रान्त दीखती है। पांडित्य का मुलम्मा और मानसिक अवसाद की खोट छिपाए नहीं छिपती।"[१५] महादेवीजी के काव्य के प्रति पर्याप्त आदर रखते हुए भी उनके काव्य में व्यक्त अतिशय रहस्यवादिता (जिसमें उन्हें प्राकृत अध्यात्म की जगह रूढ़ि के चिह्न मिलते हैं) तथा वेदना की 'एकपक्षिता' उन्हें प्रिय नहीं थी। एक स्थल पर तो उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि महादेवीजी के काव्य में छायावाद युग की विशेषताएँ नहीं मिलतीं।[१६] इन आरोपों का खंडन-मंडन किए बिना हम यह निष्कर्ष तो निकाल ही सकते हैं कि वाजपेयीजी के साहित्यिक आदर्श के सर्वाधिक निकट प्रसाद और निराला ही थे, बल्कि यह कहना अधिक संगत होगा कि प्रसाद और निराला को आदर्श मानकर वाजपेयीजी ने अपने प्रमुख साहित्यिक प्रतिमान स्थिर किए थे। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि वाजपेयीजी ने अपने व्यक्तित्व का विलय उनमें भी नहीं किया, वे उनके समशील समीक्षक थे, अनुगत चारण या भाट नहीं। इसकी स्पष्ट उपलब्धि के लिए रचना और समीक्षा के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में उनकी धारणा को जान लेना लाभदायक होगा।

वाजपेयीजी की दृष्टि में समीक्षा न तो 'रचना विशेष की अनुचरी मात्र है', न 'साहित्य का कठोरता से नियंत्रण करनेवाली अधिनेत्री' ही। उनके अनुसार "वह रचनात्मक साहित्य की प्रिय सखी, शुभैषिणी सेविका और सहृदय स्वामिनी कही जा सकती है।"[१७] समीक्षा की स्वतंत्र स्थिति का प्रतिपादन करते हुए भी वे रचना की वरीयता को स्वीकारने में कुंठाबोध नहीं करते। उनका कथन है, "रचना और समीक्षा के बीच उचित संतुलन आवश्यक है, किन्तु इस संतुलन में भी रचना को सदैव प्राथमिकता प्राप्त रहनी चाहिए। जब समीक्षा साहित्य-सृष्टि का नियंत्रण करने लगती है, तब निर्माणकारी प्रतिभा कुंठित हुए बिना नहीं रहती।"[१८] अपनी इस प्रशस्त दृष्टि का जैसा मार्मिक परिचय उन्होंने छायावादी कवियों—विशेषतः प्रसाद और निराला—की समीक्षा में दिया, खेद है वैसा परिचय वे छायावादोत्तर साहित्य की समीक्षा करते समय नहीं दे सके।

जो हो, बात चल रही थी कि प्रसाद और निराला ही वाजपेयीजी के प्रमुख साहित्यिक आदर्श थे। देखना चाहिए कि ऊपर चर्चित छायावाद की सामान्य विशेषताओं के अतिरिक्त उनके किन प्रमुख गुणों ने उन्हें इतना आकृष्ट किया था और इन दोनों में भी कौन उन्हें पूर्णतर कवि प्रतीत होते थे और क्यों।

पहला गुण है इन दोनों की रचनाओं में व्यक्त पौरुष तत्त्व। प्रसाद में वह अधिक संयत, अधिक अन्तर्मुख किन्तु अधिक शक्ति-सम्पन्न है तो निराला में अधिक उद्दाम, अधिक मुखर, अधिक रोमांटिक। वाजपेयीजी के अनुसार "प्रसादजी अपने युग के सबसे बड़े पौरुषवान् कवि थे···प्रसादजी का काव्य शक्ति और एकमात्र शक्ति की साधना का एक अविरल प्रवाह है। उनके पुरुष और उनकी नारियाँ दोनों ही इसी शक्ति की साधना में तन्मय हैं। इसीलिए मैं प्रसादजी को हिन्दी का सबसे प्रथम और सबसे श्रेष्ठ शक्तिवादी और आनन्दवादी कवि मानता हूँ।"[१९] प्रसादजी का पौरुष उनके आनन्दवादी दर्शन में, नीतिवादी युग के आतंक को काटकर चित्रित किये गए नर-नारी के कुंठारहित किन्तु मर्यादायुक्त प्रेम-प्रसंगों में, तप और भोग के समन्वय में, विरोधों के मध्य आत्मविश्वासपूर्ण, अन्तःस्मित सृजन में अभिव्यक्त हुआ है। निराला का काव्य भी 'पुरुषकाव्य' है, उसमें रंगीनी से अधिक प्रकाश है। निराला का पौरुष अद्वैतवादी सिंह-गर्जना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में, साहित्यिक और सामाजिक रूढ़ियों के प्रति प्रखर विद्रोह में, नित नये साहित्यिक प्रयोगों द्वारा नवस्थापित कीर्तिमानों के अनासक्त अतिक्रमण में, अत्यन्त प्रतिकूल क्रूर परिस्थितियों से क्षत-विक्षत हो जाने के बावजूद अप्रतिहत आस्थामूलक सृजन में प्रकट हुआ है। निराला के पौरुष को 'ओजस्विनी शब्दावली' या 'शिवाजी का पत्र' जैसी प्रखर रचनाओं तक ही सीमित मानने को 'एकांगिता' घोषित करते हुए वाजपेयीजी ने ठीक ही कहा है, "किन्तु पौरुष वस्तुगत भी होता है और वह वस्तुतः वस्तुगत ही होता है, यह अभिज्ञता बहुत विलम्ब से हो पाई। निराला के 'बादल राग' में जो स्वतंत्र, अस्खलित उद्दाम और अदम्य भाव-धारा थी, वह सामाजिक क्रान्ति का गम्भीर स्वर उद्घोषित कर रही थी। यह वस्तुगत पौरुष जीवन-दृष्टि का परिणाम था, यह केवल वीर भावना की अभिव्यक्ति नहीं था।···पौरुष शब्दों का गुण नहीं है, न वह कविता का गुण है, वास्तव में कवि की चेतना का प्रतिफलन है, जो सारे काव्य में व्याप्त रहता है।"[२०] इसी पौरुष तत्त्व के कारण ये दोनों कवि जीवन की वास्तविकता को उसकी व्यापकता और गहराई में झेलकर भी न पलायनवादी हुए, न उसके अभिलषित आदर्श रूप के चितेरे-मात्र बने, इन्होंने "मानव-अनुभवों का यथार्थ संस्पर्श कभी नहीं छोड़ा।" वाजपेयीजी का यह मत सही है कि "ये दोनों कवि न तो कोरे भावनावादी हैं, न कल्पनावादी, इनके काव्य में मानव-अनुभूतियों की यथार्थता सन्निविष्ट हुई है।"[२१] यह यथार्थता यदि बहुत उत्तेजक या वीभत्स नहीं हुई है तो उसका कारण यही है कि "इनके काव्य का केन्द्रीय तत्त्व जीवन को ऊपर से न देखकर उसके अन्तरंग में जाकर देखने का है।"[२२]

यह ठीक है कि निराला में व्यापकता अधिक है। उन्होंने अपने साहित्य में जीवन के प्रति अन्तरंग दृष्टि की परिधि को इतना विस्तृत कर लिया है कि उसमें 'वस्तुमुखी और बहिरंग तत्त्व' भी स्पष्टतः समाविष्ट हो गए हैं जिनके कारण एक ओर कुछ विचारक उन्हें प्रगतिवाद का उन्नायक मानते हैं तो दूसरी ओर उनके निरंकुश व्यक्तित्व और प्रयोग-वैविध्य के कारण कुछ विचारक उन्हें प्रयोगवाद का प्रेरक··· अन्तश्चेतनावादी घोषित करते हैं। किन्तु यह अंश को पूर्ण के ऊपर प्रतिष्ठित करने का प्रयास है। परवर्ती काव्य-धाराएँ यदि निराला को गुरु रूप में स्वीकार कर अपना उद्गम उनके काव्य में ढूँढ़ती है तो यह निराला के व्यापक प्रभाव की स्वीकृति की दृष्टि से तो ठीक है किन्तु इन्हें मुख्यतः अपने सम्प्रदायानुकूल सिद्ध करना धींगाधींगी भर है, क्योंकि सच्चाई यही है कि "निराला वर्गवादी नहीं हैं, अन्तश्चेतनावादी भी नहीं हैं। वे अन्तर्मुख कलाकार नहीं हैं। वे भारतीय नवजागरण के अन्यतम कवि हैं।"[२३] इन बहुविध विकासोन्मुख प्रवृत्तियों के होते हुए भी निराला काव्य की प्रकृति समरस है। वह प्रकृति स्वच्छन्दतावादी, सांस्कृतिक, मानवतावादी और आस्थामूलक कही जा सकती है।[२४] इसीलिए निराला काव्य का सन्देश 'उत्थानमूलक सन्देश है।'[२५]

प्रसाद के काव्य में गहराई अधिक है। "प्रसाद का काव्य अंतर्द्वन्द्व से सम्बन्धित है और इस अंतर्द्वन्द्व की समस्त मार्मिकता और गम्भीरता उनके काव्य में प्रतिफलित हो सकी है···(उसमें) उनके अंतरंग जीवन पक्ष का अधिक मार्मिक और गहरा समाकलन हो पाया है।"[२६] इसीलिए जीवन के यथार्थ को छूते हुए भी उनका स्वर मुख्यतः सांस्कृतिक रहा है, प्रेमचन्द की तरह सामाजिक नहीं हो पाया है। मानव के आत्मिक संघर्षों की अधिक तीव्र एवं सूक्ष्म अनुभूति के कारण उसमें करुणा की स्वीकृति तो है किन्तु अन्तर्निहित अपराजेय पौरुष तत्त्व के फलस्वरूप दुःखवाद की नहीं। "प्रसादजी की संस्कृति पौरुष गुण सम्पन्न होने के कारण उनके साहित्य में शक्ति और आनन्द का स्रोत प्रधान है, तथा इस युग के लिए यदि उनका कोई सन्देश है तो वह शक्ति और आनन्द की उपासना का, संवर्द्धना का ही सन्देश है। दुखों और सुखों में मनुष्य की सम्पूर्ण वस्तुस्थिति में यह शक्ति का ही प्रभाव बहता रहे, यही उनकी एकान्त साधना थी।"[२७]

उत्थानमूलक शक्ति और आनन्द की उपासना···संवर्द्धना का संदेश देने वाले प्रसाद और निराला के पौरुष की साहित्य में अभिव्यंजना न तो विवेक-संत्रस्त शुष्क आदर्शवादी सिद्धान्त-निरूपण में हो सकती थी, न विवेक-भ्रष्ट पंकिल यथार्थवादी नग्न चित्रण में। उसका विवेक-सम्मत प्रकाश जिस उदात्त रसात्मक स्वच्छन्दतावादी काव्य-सृजन में हुआ, वाजपेयीजी के अनुसार वह "बीसवीं शताब्दी के सम्पूर्ण काव्य के शीर्ष अंश का समाकलन है।"[२८]

इन दोनों कवियों को औरों से वरीयता प्रदान करनेवाला दूसरा बड़ा गुण है 'इनकी काव्य के प्रति अप्रतिम निष्ठा।'[२९] अध्यात्म-दर्शन हो या राजनीतिक-सामाजिक विचारधाराएँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथवा नव्य मनोवैज्ञानिक दृष्टि, इन कवियों ने उनसे अनुप्रेरित होते हुए भी उन्हें काव्यात्मक मूल्यों के ऊपर प्रतिष्ठित नहीं किया, इनके काव्य में उनका संयोजन अनुलोमशः ही हुआ है। यह स्वीकार करते हुए भी कि प्रसाद शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन से एवं निराला विवेकानन्द द्वारा प्रवर्तित नव्य वेदान्त से प्रभावित हैं, वाजपेयीजी ने बार-बार यह प्रमाणित करना चाहा है कि ये दोनों दर्शन इन कवियों को न तो सम्प्रदाय-सीमित कर सके, न इनके काव्योत्कर्ष के लिए अवरोध बने। सच तो यह है कि वाजपेयीजी की दृष्टि में, "प्रसादजी की सबसे मुख्य और महत्त्वपूर्ण उद्भावना यह है कि काव्य स्वतः आध्यात्मिक है, काव्य से ऊँची अध्यात्म नाम की कोई वस्तु नहीं।"[३०] अतः काव्य के उपकारक के रूप में ही मानव-जीवन के अन्तःप्रेरक दर्शन का और बहिर्विकाससूचक इतिहास का संयोजन उन्होंने किया था, अनुशासक के रूप में नहीं। प्रसादजी ने निवृत्ति पर आश्रित मायावादी शांकर अद्वैत के स्थान पर शैवागम से जिस सर्ववादमूलक आनन्दवाद को ग्रहण किया वह न केवल प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों को आत्मसात् करता है बल्कि विश्व को समन्वयात्मक कर्म का रंगस्थल भी मानता है। शताब्दियों पूर्व के दार्शनिक चिन्तन को उसके साम्प्रदायिक कर्मकांड से अलग कर आधुनिक जीवन के सन्दर्भ में ग्रहण करना वस्तुतः उसकी आत्मा को अक्षुण्ण रखते हुए उसका कायाकल्प करना है, मक्षिका स्थाने मक्षिका की तरह अन्धानुगमन करना नहीं। इतिहास और मानव मनोविज्ञान के दोहरे छन्नों से छनी उनकी शास्त्रीय वस्तु में प्रामाणिकता का पुट इतना प्रगाढ़ है कि सामान्य पाठक ही नहीं आलोचक भी प्रायः यह भूल जाते हैं कि प्रसाद की ये उद्भावनाएँ 'अधिकांश एकदम नवीन हैं।' वाजपेयीजी के अनुसार कामायनी का समरसता सिद्धान्त मानव-प्रकृति और जीवनगत द्वन्द्वों के वैज्ञानिक निरूपण एवं श्रद्धा की दार्शनिक कल्याणमयी सत्ता के संयोगस्थल पर प्रतिष्ठित है। "इसे नवीन विज्ञान और चिर नवीन भारतीय दर्शन की संगम-भूमि भी कहा जा सकता है।"[३१] किन्तु यह दार्शनिक अन्तर्धारा "काव्य की स्वाभाविक भावव्यंजना से अभिन्न और तद्रूप होकर आई है"[३२] वाजपेयीजी ने इसे आग्रहपूर्वक प्रमाणित किया है कि प्रसाद की पद्धति "प्रकृत काव्य पद्धति है जिसमें समस्त वस्तु-निरूपण और भाववर्णन स्वाभाविक रूप में रहा करता है और अपना साध्य आप ही होता है।"[३३] वह कबीर की अन्योक्ति पद्धति या जायसी की समासोक्ति पद्धति से भिन्न है जिसमें काव्य पर दार्शनिकता समग्रतः या अंशतः हावी हो जाती है। वाजपेयीजी ने अत्यन्त जागरूकतापूर्वक प्रसाद की आधुनिकता को और दार्शनिकता पर काव्यात्मकता की वरीयता को अपनी आलोचनाओं में स्पष्ट किया है, अन्यथा ऐसे आलोचकों की कमी नहीं है जो उन्हें प्राचीनतावादियों, गड़े मुर्दे उखाड़ने वाले पलायनवादियों की कोटि में या दार्शनिकता के रहस्यात्मक विचारकों की कोटि में परिगणित करते रहे हैं।

इसी प्रकार निराला के काव्य में आरम्भ में सशक्त नव्य अद्वैतवादी वेदान्त की, मध्य में आध्यात्मिकता के साथ-साथ मानवतावादी, समाजवादी विचारधाराओं की और अन्त में द्वैतभक्ति और शरणागति की उत्कर्षविधायिनी दार्शनिकता का मंगलमय योग स्वीकारते हुए भी वाजपेयीजी का निष्कर्ष यही है कि "निराला स्वयं एक श्रेष्ठ दार्शनिक हैं परन्तु उनके काव्य में दर्शन का भार कहीं नहीं दिखता।"[३४] उनकी मान्यता है कि कवि का कार्य सौंदर्य-सृष्टि है और उसकी दार्शनिकता का मूल्य उस सौंदर्य को पुष्ट बनाने और आलोकित करने में है...[३५] एवं निस्सन्देह दार्शनिक और भावात्मक चिन्तन और उन्नयन के फलस्वरूप निराला का 'काव्य एक उदात्त भूमिका का काव्य है और ऐसे सौन्दर्य की झाँकियाँ दिखाता है जो सहज प्राकृतिक उच्छ्वास की भूमिका से एकदम ऊपर है।'

दर्शन कविता में परिपचित रूप में, कवि-व्यक्तित्व में समाहित होकर आया है या स्वतंत्र रूप में, इसकी कसौटी यही है कि रचना प्राणवन्त हुई है या नहीं। वाजपेयीजी को 'युगवाणी' एवं 'स्वर्णधूलि', 'स्वर्ण किरण' एवं 'उत्तरा' के कवि पन्त से यही शिकायत थी कि उन कृतियों में वे स्रष्टा कम और दर्शन-विशेष के व्याख्याता अधिक हो गए हैं। फलस्वरूप उनका काव्यगत सौन्दर्य-बोध खण्डित हुआ है। इसीलिए वे रचनाएँ वाजपेयीजी को काव्य की अपेक्षा काव्याभास अधिक लगीं। महादेवीजी की भी कुछ कविताओं में रहस्यवादी रूढ़ियों का अतिरिक्त पालन हुआ है, यह शिकायत उन्होंने कई बार की है। छायावादोत्तर काव्य में व्यक्त विविध विचारधाराओं के उग्र विवादी स्वर भी उन्हें प्रकृत काव्य-पद्धति के अनुकूल नहीं ज्ञात होते थे।

जो हो, "प्रसाद और निराला का काव्य इस युग का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वश्रेष्ठ काव्य है,"[३६] इस सम्बन्ध में वाजपेयीजी सुनिश्चित हैं, किन्तु इन दोनों कवियों में वे किसे अधिक श्रेष्ठ मानते हैं, इस प्रश्न का सीधा उत्तर देने से उन्होंने अपने को बचाया है। प्रसाद और निराला की तुलना के प्रयास को अपने-आपमें असंगत बताते हुए उन्होंने यह मन्तव्य प्रकट किया, "दोनों ही कवि अपनी प्रतिभा में महान् अप्रतिम और अपराजेय हैं।"[३७] फिर भी उनके समस्त लेखन और दृष्टिकोण पर विचार करने पर यही लगता है कि प्रसाद ही उनको अधिक वरेण्य कवि प्रतीत होते थे। वास्तव में निराला के विद्रोही एवं क्रान्तिकारी रूप का वे उस सीमा तक ही समर्थन करते थे जहाँ तक वह स्वच्छन्दतावाद की व्यापक परिधि के अन्तर्भुक्त किया जा सकता है। 'बादलराग' और 'एक बार बस और नाच तू श्यामा' सरीखी कविताओं में प्राकृतिक और आध्यात्मिक प्रतीकों के माध्यम से किया गया क्रान्ति का आवाहन अथवा 'भिक्षुक' एवं 'वह तोड़ती पत्थर' जैसी कविताओं का करुण यथार्थवादी चित्रण उन्हें उत्कृष्ट काव्य के रूप में ग्राह्य है। स्वच्छन्दतावादी कवि शैली के विद्रोही व्यक्तित्व से निराला की तुलना इसी दृष्टि से वे करते हैं। 'कुकुरमुत्ता', 'खजोहरा' जैसी रचनाओं को व्यंग्य-विनोद की कृतियों के रूप में···सर्वत्र व्याप्त कुरूपता की खिन्न प्रतिक्रिया के रूप में वे ग्रहण करते हैं। उनकी दृष्टि में निराला गुलाब के समान ही कुकुरमुत्ता को भी विकृति के रूप में उपस्थित करते हैं और उक्त दोनों विकृतियों के स्थान पर नई अभ्युदयशील संस्कृति की प्रतिष्ठा का रचनात्मक संकेत भी उस कविता में देते हैं। लगता है यह उनकी अपनी सांस्कृतिक मान्यताओं का प्रक्षेपण है, अन्यथा कैपिटलिस्ट गुलाब के मुकाबले में जनवादी कुकुरमुत्ता की महिमा की प्रतिष्ठा उसमें असन्दिग्ध रूप से की गयी है। इसके और एक कदम आगे जाकर लिखी गयी 'ऐ गर्म पकौड़ी' या 'बापू यदि तुम मुर्गी खाते' जैसी उग्र कविताएँ उनके लिए काव्याभास ही हैं। निराला के प्रति अतिशय सहानुभूति रखते हुए भी ऐसी कृतियों के सम्बन्ध में वाजपेयीजी की प्रतिक्रिया का सारांश इन पंक्तियों में उभरा है, "लौकिक जीवन का कुरूप पक्ष उनकी चेतना को बहुत दूर तक क्षुब्ध कर चुका था और वे जीवन-सम्बन्धी कुरूप प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करने लगे थे। हास्य और विनोद के माध्यम से उनका यह तृतीय दार्शनिक चरण अभिव्यक्त हुआ। इसे हम निराला की विघटित दार्शनिकता का चरण कह सकते हैं।"[३८] स्पष्ट है कि वाजपेयीजी की मध्यवर्गीय अभिजात सांस्कृतिक चेतना इस प्रकार के विघटन को अश्रेयस्कर मानती है। उनके प्रतिमानों के अनुसार प्रसाद में इस प्रकार का स्खलन कभी नहीं हुआ, जबकि निराला का काव्य-विकास ऊँची चोटियों और नीची घाटियों के विषम स्तरों पर हुआ है, प्रसाद के काव्य-विकास में निरन्तर अधिरोहण ही नहीं, कामायनी के रूप में छायावाद की सर्वोच्च उपलब्धि भी है। प्रसाद ने भारतेन्दु-द्विवेदी युगों के काव्य-संस्कारों से ऊपर उठकर छायावाद का प्रवर्त्तन, मंडन एवं सर्वाधिक उन्नयन किया था, वे अन्त तक उसी में रमे रहे थे जबकि निराला (और पंतजी भी) छायावाद के प्रमुख सहयोगी स्रष्टा होते हुए भी उसी से बँधे नहीं रहे, इतिहास की गतिशील शक्तियों से उद्भूत नयी काव्य-भूमियों पर उनका संचरण स्वाभाविक ही था। वाजपेयीजी की दृष्टि में इन नयी भूमियों पर इन दोनों महाकवियों का सृजन उनके अपने पूर्ववर्ती सृजन की तुलना में खुरदरा और आयास-सिद्ध है। अतः यह अनुमान करना असंगत नहीं है कि जयशंकर 'प्रसाद' की भूमिका में १९३८ में व्यक्त किये गए अपने इस मत का पोषण वे अन्त तक करते रहे, "उसे (कवि को) विवेकवान् और पारदर्शी ही नहीं काव्यशक्ति से भी संपन्न होना चाहिए। प्रसादजी न केवल इन दोनों गुणों से युक्त थे, ऐसी असाधारण क्षमता इनमें रखते थे कि इतनी क्षमता का कोई दूसरा कलाकार हिन्दी साहित्य के इस युग में दिखाई नहीं देता। इस प्रकार वे युग के प्रवर्त्तक ही नहीं, उसकी सर्वश्रेष्ठ विभूति भी सिद्ध होते हैं।"[३९] निराला को उन्होंने 'कवि निराला' ग्रंथ में 'शताब्दी का कवि' कहा है, किन्तु इससे यह ध्वनि निकालना कि वे निराला को शताब्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि मानते थे, ठीक नहीं होगा। इसका अभिप्राय यही ज्ञात होता है कि निराला के काव्य में वे इस शताब्दी को सर्वाधिक प्रतिफलित पाते थे। इसी ग्रन्थ में राष्ट्रकवि पर प्रासंगिक विचार करते हुए उन्होंने लिखा है, "राष्ट्र कवि केवल राजनीतिक कवि नहीं हो सकता। उसे समग्र युगजीवन का प्रतिनिधित्व करना पड़ता है। इस दृष्टि से हमारे असली राष्ट्रकवि तो प्रसाद हैं। असली राष्ट्रकवि निराला हैं। जो युगद्रष्टा नहीं होगा, वह राष्ट्रकवि क्या होगा?"[४०] निराला के बारे में लिखते हुए प्रसाद का राष्ट्रकवि के रूप में अग्र उल्लेख आकस्मिक नहीं, उनकी मान्य-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ताओं के अनुरूप ही है। कुल मिलाकर ऐसा लगता है कि उनके मन में प्रसाद के प्रति अधिक श्रद्धा थी तो निराला के प्रति अधिक प्रेम। फिर भी इन दोनों में से यदि एक को ही सर्वश्रेष्ठ कवि के रूप में उन्हें चुनना पड़ता तो संभवतः वे प्रसाद को ही चुनते।

वाजपेयीजी ने आ० शुक्ल की समीक्षाओं की सीमा का निर्देश करते हुए लिखा था, "शुक्लजी का समीक्षाकार्य पांडित्यपूर्ण होता हुआ भी वैयक्तिक रुचियों का द्योतक है। कदाचित् इसी कारण वह मार्मिक है, किन्तु वस्तुगत और वैज्ञानिक नहीं।"[४१] यही बात स्वयं वाजपेयीजी के लिए भी कही जा सकती है और संभवतः अधिक औचित्य के साथ। प्रेमचन्दजी की कृतियों में कोई स्वतंत्र स्वानुभूत दर्शन न पाकर केवल सामयिकता को उनका आदर्श घोषित करना, पन्तजी के समस्त उत्तरवर्ती काव्य को करीब-करीब नकार देना, महादेवी की रहस्यानुभूति को धार्मिक रूढ़ि के निकट मानकर उनके काव्य में छायावाद युग की विशेषताएँ न देख पाना, आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी को समीक्षक न स्वीकार कर केवल शोधकर्त्ता मानना, प्रयोगवाद को बैठे-ठालों का धन्धा करार देना आदि-आदि उनके बहुत से निर्णयों को वस्तुगत और वैज्ञानिक मानना कठिन है। वाजपेयीजी की वैयक्तिक रुचि केवल मुखर समर्थन या प्रखर विरोध में ही झलकी हो, ऐसा नहीं है, संयत मौन में भी उसका आभास मिलता है। यह सचमुच आश्चर्यजनक तथ्य है कि उन्होंने किसी प्रगतिवादी लेखक या कृति पर जमकर अपने विचार प्रकट नहीं किये, कोई पूरा स्वतंत्र लेख नहीं लिखा। अपनी भूमिकाओं या सर्वेक्षणमूलक लेखों में प्रसंगवश उनकी चलती-सी चर्चा कर देना तो 'आधुनिक साहित्य' के प्रतिनिधि समीक्षक के 'दायित्व' के अनुकूल कार्य नहीं है।

ऐसा लगता है कि छायावादोत्तर हिन्दी साहित्य के साथ वे समरस नहीं हो सके। प्रगतिवादी संकीर्ण मताग्रह एवं साहित्य पर राजनीति के अंकुश से असहमत होते हुए भी वे उसके व्यापक मानव अभ्युदयकामी जीवन-दर्शन के प्रति सहानुभूति-सम्पन्न थे (तभी प्रगतिशील लेखक संघ की काशी शाखा के कई वर्षों तक वे सभापति रहे) किन्तु उसकी साहित्यिक उपलब्धियों से उन्हें सन्तोष नहीं था। उनका सौन्दर्य-प्रेमी मन इन कृतियों के वीभत्स यथार्थ चित्रण एवं कलाहीन अनगढ़पन से क्षुब्ध था। उसी को नया सौन्दर्यबोध मान लेने के लिए भी वह प्रस्तुत नहीं था। अपनी दृष्टि के अनुसार सैद्धान्तिक स्तर पर बहुलांशतः समर्थनीय एवं रचनात्मक स्तर पर असम्माननीय प्रयासों को वे न तो खुलकर सराह सकते थे, न नकार सकते थे। संभवतः वे अन्त तक इस धारा की ऐसी समर्थ कृति की प्रतीक्षा करते रहे, जिसे वे अपना अकुंठ समर्थन दे सकें। यह मनोभाव इस उक्ति से स्पष्ट हो जाता है, "भले ही समाजवादी रचनाएँ अपनी वर्तमान स्थिति में व्यापक संवेदना उत्पन्न न कर रही हों परन्तु उनसे आशा नहीं छोड़ी जा सकती और दिवास्वप्न वाले साहित्यिक आदर्श को नहीं अपनाया जा सकता।"[४२] फिर भी यदि वे उस आन्दोलन के साथ पूरी तरह से होते तो यशपाल, राहुल, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल आदि की कृतियों की त्रुटियों की रचनात्मक समीक्षा कर सकते थे, उनकी विशेषताओं को उभारकर उजागर कर सकते थे किन्तु उन्होंने वैसा नहीं किया।

व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन के विविध रूपों को (चाहे वह गांधीवादी रामनामी ओढ़कर आये, चाहे मनोविश्लेषण की वैसाखी लगाकर, चाहे सामाजिकता का जामा पहनकर) और प्रयोगवादी रचनाओं को अस्वस्थ एवं हानिकर मानने के कारण उन्होंने उसका बहुत प्रबल विरोध किया। 'आधुनिक साहित्य' में संकलित 'प्रयोगवादी रचनाएँ' शीर्षक उनका लेख विवादी लेखन का जितना उत्कृष्ट उदाहरण है, उतना ही उनकी एकांगिता और वैयक्तिक रुचि-शासित लेखन का भी। विरोध की झक में उनके द्वारा सन्तुलन खो देने के कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। हंस के आत्मकथा अंक को लेकर प्रेमचन्द के साथ हुए उनके विवाद में भी यह बात देखी जा सकती है। शुक्लजी के रसवादी मानदण्डों को साहित्यालोचन के लिए अपर्याप्त सिद्ध करने की धुन में वे यहाँ तक कह गये थे कि, "ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर भी यह प्रकट होगा कि संस्कृति के सभी साहित्यिक सम्प्रदायों के मूल में न तो कोई महान् आत्मा है और न कोई आदर्शोन्मुख महती प्रेरणा।"[४३] इसे परिस्थितियों का व्यंग्य ही कहना चाहिए कि 'राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबंध' तक आते-आते वाजपेयीजी भी काव्य की रसात्मकता के सिद्धान्त को मान लेते हैं। अब उनका मत है, "जब हम कहते हैं कि 'रस' काव्य की आत्मा है तब हमारा आशय यह होता है कि प्रत्येक काव्य में, यदि वह वस्तुतः काव्य है, मानव-समाज के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आह्लादकारिणी भावात्मक, नैतिक और बौद्धिक अनुभूतियों का संकलन होगा ही। 'रस' शब्द से आचार्यों का आशय काव्य की इस मानवतावादी सत्ता से ही है।"[४४] चलिये, यही सही, तब तो कम-से-कम रस सम्प्रदाय के मूल में आदर्शवादी महती प्रेरणा भी है, क्योंकि मानवतावादी तत्त्व के कारण उसे इतना श्रेय तो दिया ही जाना चाहिए। इसी ग्रन्थ की भूमिका में उन्होंने यह भी कहा है, 'हमारे प्राचीन सिद्धान्त उच्चतम मनीषा की उपज हैं' और हमें उनकी ऐसी छानबीन करनी होगी जिससे "साहित्य के सार्वजनिक क्षेत्र में···हम उन्हें नये उपयोग में लाने के योग्य बना सकें।" उनसे पूर्णत: सहमत होते हुए भी हम यह नहीं समझ पाते कि आ० शुक्ल इससे भिन्न और क्या कर रहे थे, जब उन्हें बाजपेयीजी का कोप-भाजन बनना पड़ा था।

जो हो, छायावादोत्तर वादग्रस्त रचनाएँ हिन्दी साहित्य को एक ओर अन्तश्चेतनावादी दलदल में और दूसरी ओर बौद्धिकता के अनुर्वर रेतीले मैदान में फँसा रही हैं, एवं 'स्वस्थ, उल्लासपूर्ण और विकासोन्मुख' भावनाओं को जगाने में समर्थ नहीं हो रही हैं, यह शिकायत उन्होंने कई स्थानों पर कई प्रकार से की है। हिन्दी साहित्य के भविष्य के प्रति आश्वस्त रहने का सन्देश अपने वक्तव्यों में देते रहने पर भी वे स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद की उसकी विकास दिशा से—कम-से-कम उसकी उन धाराओं से असन्तुष्ट ही नहीं विक्षुब्ध प्रतीत होते हैं जो भारतीय समाज को वर्गों में बाँटकर साहित्य को किसी मतवाद के प्रचार का माध्यम बताकर अपनी साहित्यिक और सांस्कृतिक दुर्बलता को वर्गों की आड़ में छिपाना चाहती हैं अथवा जो दमित एवं कुंठित कामवासनाओं से उत्पन्न स्वप्न-प्रतीकों को काव्य-प्रतीकों के रूप में परिणत करनेवाली रचनाओं को साहित्य की श्रेष्ठतम रचनाएँ घोषित करना चाहती हैं। राष्ट्रभाषा हिन्दी के साहित्यकारों को अपना उत्तरदायित्व समझना चाहिए और उन्हें सच्चे एवं गम्भीर अर्थों में राष्ट्रीय साहित्य के सृजन में प्रवृत्त होना चाहिए, उनकी इस भावना को समादरणीय एवं उचित मानते हुए भी हम उनके इस अधिनायकवादी आवेश का समर्थन नहीं कर सकते कि, "यदि हमारे लेखक राष्ट्रीय साहित्य की ज़िम्मेदारियों को नहीं समझते, तो वे किसी वर्ग के हों—अथवा किसी भी वर्ग के न हों—तत्काल हमारी साहित्यिक परम्परा से अलग कर दिये जाने चाहिए। हमारे राष्ट्र को और उसके राष्ट्रीय साहित्य को ऐसे लोगों की आवश्यकता नहीं है, जो किसी भी रूप में हमारी राष्ट्रीय शक्ति और संघटन का विनाश करने पर तुले हों।"[४५] साहित्य के स्तर पर यह असहिष्णुता समीक्षा को रचनात्मक साहित्य की 'प्रिय सखी और शुभैषिणी सेविका' के स्थान पर नियंत्रिका बनाती है जिससे बाजपेयीजी के ही अनुसार 'निर्माणकारी प्रतिभा कुंठित हुए बिना नहीं रहती' एवं राजनीति के स्तर पर राज्य को अधिनायकतंत्र की ओर उन्मुख करती है जिससे बाजपेयीजी का और नवीन भारत का लक्ष्य कल्याणकारी जनतंत्र खंडित होता है।

राष्ट्रीय साहित्य की रचना की उनकी अपील का अभीष्ट प्रभाव साहित्यकारों पर क्यों नहीं पड़ा? क्या सारा दोष साहित्यकारों का ही है? नई कविता का विवेचन करते हुए 'आधुनिक साहित्य' में उन्होंने लिखा था, "वर्तमान काव्य का भविष्य बहुत-कुछ देश के राजनीतिक भविष्य पर अवलम्बित है। यदि देश में राजनीतिक क्रान्ति सफल हो गयी तो वर्तमान काव्य का बहुत-कुछ कायाकल्प हो जाएगा। हिन्दी कविता में प्रगतिवादी पक्ष का प्राबल्य होगा और नवीन कविता वीर गीतों तथा वीर प्रबन्धों की ओर अग्रसर होगी।"[४६] उनका राष्ट्रवादी मन इस बात की कल्पना भी नहीं करना चाहता था कि यदि हमारी राजनीतिक क्रान्ति सफल नहीं हो पायी तो क्या होगा। हिन्दी के नवलेखन में व्याप्त कुंठा, अनास्था, निराशा केवल आयातित या अनुकरण-जन्य ही है, यह कहना सच्चाई पर पर्दा डालना है। हमारी राजनीतिक अदूरदर्शिता तथा अर्थनीतिक अयथार्थवादिता ने देश को जिस दलदल में फंसाया है, हमारा साहित्यिक दलदल बहुत-कुछ उसी की उपज है। सच्चाई के इस कड़वे घूँट को पिये बिना तथा मूल की भूल को सुधारे बिना साहित्यकारों की भर्त्सना कर या उन्हें सदुपदेश देकर अभीष्ट उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती। बाजपेयीजी 'साहित्य की राष्ट्रीय चेतना' का प्रस्ताव करते हुए जिस अतिशय आदर्शवादी दृष्टि का अनुगमन करते हैं उसका वस्तुगत आधार दुर्बल है। उनका मत है, "मैं यह स्वीकार करता हूँ कि पिछले कुछ वर्षों से हमारी साहित्यिक सृष्टि व्यक्तिमुखी हो गयी है और यद्यपि हम साहित्य में यथार्थ का नारा लगाने लगे हैं पर वह यथार्थ वस्तुतः राष्ट्रीय भूमिका का यथार्थ नहीं है, वह हमारा निजी यथार्थ हो सकता है। इस पुस्तक में ऐसे निजी यथार्थों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को वास्तविक यथार्थ मानने से इनकार किया गया है।"[४७] यदि किसी एक कलाकार का निजी यथार्थ राष्ट्रीय भूमिका के यथार्थ के प्रतिकूल है तो एक दृष्टि से उसे वास्तविक यथार्थ नहीं भी माना जा सकता है। किन्तु तब हमें अपने निर्णय के औचित्य के प्रमाणस्वरूप राष्ट्रीय भूमिका के यथार्थ की प्रेरणा से रचित नयी उत्कृष्ट साहित्यिक कृतियाँ प्रस्तुत करनी होंगी क्योंकि सामाजिक यथार्थ का विशेषतः उससे उद्भूत मानवीय प्रतिक्रियाओं का जैसा सच्चा प्रतिफलन साहित्यिक कृतियों में होता है वैसा राजनीतिक नेताओं के भाषणों या आयोगों के प्रतिवेदनों में नहीं होता। क्या वाजपेयीजी ऐसा कर पाये हैं ? क्या हमारी अधिकांश उत्कृष्ट नयी साहित्यिक प्रतिभाएँ ऐसे साहित्य का सृजन कर रही हैं ? यदि नहीं तो अधिकांश साहित्यकारों के निजी यथार्थ को वास्तविक यथार्थ मानने से इनकार करना क्या एक अयथार्थ स्थिति नहीं है ?

एक विरोधाभास यह भी है कि वाजपेयीजी समीक्षा के अपने परवर्ती दौर में जिन रचनाकारों के जीवन-दर्शन को सिद्धान्ततः अस्वस्थ और अस्वीकार्य घोषित करते रहे हैं, छायावादोत्तर साहित्यिक उपलब्धियों के रूप में उन्हीं की कृतियों को उपस्थित करते रहे हैं। यह प्रवृत्ति उपन्यासों से आरम्भ होकर कविता तक आयी है। उपन्यासों पर लिखे सर्वेक्षणमूलक लेखों को छोड़कर उनके विशिष्ट लेख त्यागपत्र, 'शेखर : एक जीवनी' तथा व्यक्तिवादी उपन्यास पर हैं, झूठा-सच, बलचनमा या समाजवादी उपन्यास पर नहीं। नयी कविता को प्रयोगवादियों की सीर मानने से वाजपेयीजी अपने ग्रन्थों में (एवं अपने द्वारा निर्देशित शोधग्रन्थों में भी) बराबर इनकार करते रहे किन्तु उनकी मृत्यु के कुछ पूर्व 'धर्मयुग' के तीन अंकों में 'नयी कविता : एक पुनरीक्षण' शीर्षक से जो निबन्ध प्रकाशित हुआ उसमें नयी कविता के प्रमुख हस्ताक्षरों के रूप में अज्ञेय, भारती, गिरिजाकुमार माथुर, मुक्तिबोध आदि 'सप्तकों' के आठ कवियों के अतिरिक्त जिन दो कवियों को गिनाया गया वे जगदीश गुप्त और दुष्यन्त कुमार हैं, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल या त्रिलोचन नहीं। और इनमें भी (सैद्धांतिक अन्तरों एवं असहमतियों को व्यक्त करते हुए) उन्हें लगा है कि "यदि अज्ञेय में निराला के पौरुष का प्रतिफलन मिलता है तो भारती में निराला की शृंगारिक और कोमल भावनाएँ आभासित होती हैं।"[४८] जबकि 'निराला' की भाँति मुक्तिबोध ने भी अनेक काव्य-रूपों का प्रयोग किया है। परन्तु जहाँ निराला एक सधे हुए कलाकार के रूप में सर्वत्र विद्यमान हैं वहाँ मुक्तिबोध के काव्यप्रयोग चारुतारहित और ऊबड़-खाबड़ हैं। मुक्तिबोध की काव्य-भाषा भी किसी सुनिश्चित प्रतिमान की सृष्टि नहीं करती।··· मुक्तिबोध की काव्य-भाषा में लय और संगीत की अपेक्षा चिल्लाहट का अधिक प्रत्यय मिलता है।"[४९] यह भी स्मरण रहे कि इस 'ऊबड़खाबड़पन' और 'चिल्लाहट' को युग के मिज़ाज के अनुरूप गुण न मानकर वे उनकी त्रुटि ही मानते रहे क्योंकि उनकी धारणा थी कि मुक्तिबोध को संभवतः इन्हें दूर करने का अवसर नहीं मिला। इससे दो निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा। एक तो यह कि साहित्य में 'वस्तु' की प्रधानता को स्वीकारते हुए भी उनकी उत्कृष्टता का विचार समग्र दृष्टि से करते थे और उनकी विचार-प्रक्रिया के अनुसार हिन्दी के प्रगतिवादी साहित्य की तुलना में उसका प्रयोगवादी साहित्य (जिसकी परिणति नवलेखन में, विशेषतः कविता के क्षेत्र में नयी कविता में हुई) साहित्यिक उपलब्धि के रूप में उत्कृष्टतर है। उनका यह निर्णय आकस्मिक नहीं है, यह उनकी 'काव्य के प्रति अप्रतिम निष्ठा' वाली मान्यता के अनुरूप ही है जिसके अनुसार उन्होंने कहा था कि "किसी भी सिद्धान्त के संबंध में कभी मतैक्य नहीं हो सकता, किन्तु (कलाकृति के) सौंदर्य के संबंध में कभी दो रायें नहीं हो सकतीं।"[५०] दूसरा यह कि नयी कविता के मर्म का उद्घाटन करने में उनके काव्य-संबंधी प्रतिमान बहुत सहायक सिद्ध नहीं होते अन्यथा मुख्यतः जिस मुक्तिबोध के काव्य के आधार पर नयी पीढ़ी के प्रतिनिधि आलोचक डॉ० नामवरसिंह 'कविता के नये प्रतिमान' स्थिर कर रहे हैं, उसकी काव्योपलब्धि के बारे में वाजपेयीजी ऐसे अनुदार मत व्यक्त नहीं करते। जो हो, आरंभ में प्रयोगवादी नयी कविता का प्रचंड विरोध करने के बावजूद अपने अन्तिम लेख में उसकी विचारणा से असहमत होते हुए भी उसके साहित्यिक कृतित्व को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का गौरव प्रदान करना (उदाहरण के लिए भारती के 'अन्धायुग' को टी० एस० इलियट के 'मरडर इन कैथेड्रल' की भूमिका का कार्य कहना) एक ओर प्रबल वैयक्तिक रुचि के ऊपर उनकी काव्यनिष्ठा को प्रमाणित करता है, तो दूसरी ओर आचार्य शुक्ल के संबंध में अभिव्यक्त उनके इस मत को उन्हीं के ऊपर घटित कर उन्हें शुक्लजी का 'सच्चा शिष्य' भी सिद्ध करता है। "नयी काव्य-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रगति को 'ब्लैंकचेक' न देकर शुक्लजी ने उसके परिष्कार के कार्य में और उसके बल-संचय में प्रकारान्तर से सहायता ही पहुँचाई। कोई भी व्यक्ति, जिस पर साहित्य का कुछ उत्तर-दायित्व है, प्रत्येक नवागत काव्यधारा में बह जाना पसन्द नहीं कर सकता।"[५१]

आचार्य वाजपेयी की समीक्षा को स्वच्छन्दतावादी कहने के अतिरिक्त छायावादी, सौष्ठववादी, प्रगतिशील स्वच्छन्दतावादी, रसवादी तथा अध्यात्मवादी भी कहा गया है। स्वयं वाजपेयीजी इन विशेषणों से यह अर्थ निकालकर कि 'मेरी समीक्षा में किसी एक वाद का अधिकार नहीं है' प्रसन्न हैं तथापि उनका कथन है, "यदि विशेषणों को निकालकर केवल साहित्य-समीक्षक कहा जाये तो मुझे सर्वाधिक प्रसन्नता होगी।"[५२] किन्तु विवेचकों को अन्य साहित्य-समीक्षकों से उनकी पृथकता और उनकी स्वकीयता का निर्देश करने के लिए ऐसे किसी विशेषण की आवश्यकता का अनुभव होता ही है। हमारी समझ में उन्हें स्वच्छन्दतावादी समीक्षक कहना ही अधिक समीचीन है। छायावाद आरंभ में तो हिन्दी के क्षेत्र में मुख्यतः स्वच्छन्दतावादी प्रेरणा से रचित साहित्य का परिहासपरक नाम था, बाद में इससे अभिहित साहित्य की उत्कृष्टता सिद्ध हो जाने पर इस नाम को स्वीकार कर छाया के विशिष्ट अर्थ करने के प्रयास की तुलना पन्तजी ने 'छायावाद : पुनर्मूल्यांकन' में 'बुद्धू' को 'बुद्ध' का तद्भव सिद्ध करने के प्रयास से कर, उसकी अयथार्थता भली-भाँति दरसा दी है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास का विवेचन करते समय 'छायावाद' संज्ञा का प्रयोग करना अनुचित नहीं है। किन्तु व्यापक दृष्टि से विचार करते समय साहित्य-सृजन के मूल में निहित तीन प्रधान प्रवृत्तियों को उनके सर्वजन स्वीकृत नामों—श्रेण्यतावाद (क्लासिसिज़्म) स्वच्छन्दतावाद (रोमांटिसिज्म) तथा यथार्थवाद (रियलिज्म) से पुकारना ही ठीक है। स्वयं वाजपेयीजी ने हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी (देखिए पृ० १४) से आरंभ कर 'धर्मयुग' में प्रकाशित अपने अन्तिम निबंध तक मौलिक साहित्यिक प्रवृत्तियों का निर्देश करते समय इसी व्यापक नाम 'स्वच्छन्दतावाद' का ही प्रयोग किया है। जो विवेचक उन्हें सौष्ठववादी या प्रगतिशील स्वच्छन्दतावादी कहना चाहते हैं, वे निराला के संदर्भ में कही गयी वाजपेयीजी की इस उक्ति पर विचार करें, "निराला का स्वच्छन्दतावादी काव्य केवल सौंदर्यवादी या कल्पना-प्रधान नहीं है। इसमें सामाजिक और युग-जीवन के तत्त्वों का गंभीर योग हुआ है।"[५३] इसके चलते उन्हें 'प्रगतिशील कवि' कहने को अंशतः संगत मानते हुए भी निराला काव्य के वस्तु और कलापक्ष के सम्पूर्ण निरूपण के लिए उसे अपर्याप्त बताकर वे कहते हैं, "स्वयं स्वच्छन्दतावाद शब्द में इतनी व्याप्ति है कि वह केवल सौंदर्यवादी या कलावादी प्रवृत्तियों को ही नहीं, युग-जीवन, व्यक्ति और समाज की नाना प्रगतियों और आदर्शों को समाहित कर सकता है।" जो बात निराला के संदर्भ में वाजपेयीजी ने कही है, उसी को उनकी समीक्षा-पद्धति पर लागू करने पर हम उनके सौष्ठव-बोध और प्रगतिशीलता दोनों को सहज ही स्वच्छन्दतावाद में अन्तर्भुक्त कर सकते हैं। वाजपेयीजी को परंपरागत अर्थ में 'रसवादी' नहीं कहा जा सकता। रस की जो नयी व्याख्या 'आह्लादकारिणी, भावात्मक, नैतिक और बौद्धिक अनुभूतियों की···मानवतावादी सत्ता' के रूप में उन्होंने की है, वह उनकी स्वच्छन्दतावादी दृष्टि का एक और प्रमाण है। जिस अध्यात्मवाद की वे काव्य में उपयोगिता स्वीकार करते हैं, उसे भी वे स्वच्छन्दतावाद के अन्तर्गत ही मानते हैं। न विश्वास हो तो उनके अन्तिम निबंध में प्रदत्त स्वच्छन्दतावाद की भूमिका का विश्लेषण देख लीजिये, "स्वच्छन्दतावादी धारा का मुख्य स्वर मर्यादाओं के विरोध में रहा है—चाहे वे साहित्यिक मर्यादाएँ हों अथवा मानव-जीवन-संबंधी हों। यह धारा सौंदर्य, प्रेम और रहस्य की आध्यात्मिक अनुभूति पर पहुँचने का प्रयत्न करती रही है। इसका विरोध एक ओर प्राचीन क्लासिकल काव्य की सामूहिकता से रहा है और दूसरी ओर वह यथार्थवाद की तथ्यात्मक पद्धति को पर्याप्त नहीं मानती।"[५४] क्या ऐसी ही भूमिका वाजपेयीजी ने भी नहीं निभायी है? उन्होंने न केवल हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी काव्य की मार्मिक समीक्षा ही प्रस्तुत की बल्कि उस जीवन-दृष्टि को सांस्कृतिक, सामाजिक स्तर पर भी अधिमान दिया। अतः हम उनके लिए 'स्वच्छन्दतावादी समीक्षक' की आख्या को सर्वथा उचित समझते हैं।

समीक्षक के रूप में वाजपेयीजी की प्रमुख व्यक्तिगत विशेषताओं का निरूपण किये बिना यह लेख अपूर्ण ही रह जायेगा। पहली ही बात जो उनके पाठक को प्रभावित करती है, वह आलोच्य कृति या कर्ता के समग्र प्रभाव को थोड़े में किन्तु नुकीलेपन के साथ अंकित करने की उनकी अद्भुत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्षमता है। अनावश्यक विस्तार में न जाकर रचना या रचयिता की मौलिक विशिष्टता का उद्घाटन करना ही उनकी सारग्राही प्रतिभा को प्रिय रहा है। इसीलिए उनकी समीक्षाएँ छोटे निबन्धों के रूप में सामने आई हैं वृहदाकार क्रमबद्ध ग्रंथों के रूप में नहीं। 'जयशंकर प्रसाद', 'महाकवि सूरदास' और 'कवि निराला' शीर्षक उनके ग्रंथ भी फुटकर निबन्धों के संग्रह ही हैं और इसीलिए 'पुस्तक रूप में' अपूर्णता का आभास देते हैं। 'जयशंकर प्रसाद' की भूमिका में उन्होंने स्वयं लिखा है, "मैं कोई प्रशस्त लेखक नहीं हूँ, जो विषय को विस्तार के साथ समझाते और उसे पूरा-पूरा उद्घाटित कर देते हैं···मैं तो साहित्य में रचनाकार की अंतःप्रेरणा का अनुसन्धान करने में ही व्यस्त हूँ। इसीके साथ-साथ संक्षेप में बाह्य स्थितियों का दिग्दर्शन करा देना और उन पर रचनाकार की प्रतिक्रिया दिखा देना तथा अंत में उसकी कलात्मक चेष्टाओं का परिचय दे देना बस समझता हूँ।"[५५] इसीलिए उन्होंने अपनी समीक्षा शैली को 'इंगित शैली' भी कहा है। यह शैली छायावादी प्रगीत मुक्तकों की शैली के अनुरूप ही है जिनमें वस्तुगत वर्णन के स्थान पर किसी मन:स्थिति-विशेष के उत्कट संवेदन को प्रधानता दी जाती रही है। 'आधुनिक साहित्य' तथा 'नया साहित्य' नये प्रश्न की दीर्घ भूमिकाओं को 'प्रलय की छाया में', 'परिवर्तन', 'वनबेला' जैसे दीर्घ प्रगीत मुक्तकों के समशील समझना चाहिए।

उनकी दूसरी विशेषता उनकी दबंग आक्रामकता है। उनकी इस प्रवृत्ति के विकास में वह परिस्थिति भी सहायक हुई जिसमें उन्होंने काम किया। आ० महावीरप्रसाद द्विवेदी और आ० रामचन्द्र शुक्ल के प्रबल विरोध के बावजूद समीक्षा के क्षेत्र में छायावाद के महत्त्व की प्रतिष्ठा उन्हीं के सरीखे योद्धा का कार्य था। इस दृष्टि से वे निराला के योग्य सहयोगी सिद्ध होते हैं। बाद में उन्हें उन लोगों से मोर्चा लेना पड़ा जो छायावाद को पलायनवादी साबित करना चाहते थे और उसके स्थान पर मतवादी उत्साहप्रदीप्त या वैयक्तिक कुण्ठाग्रस्त बौद्धिकता-प्रधान काव्यधाराओं को प्रतिष्ठित करना चाहते थे। यहाँ यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि जहाँ पहले दौर में उनकी आक्रामकता विधायक थी वहाँ दूसरे दौर में वह निषेधक हो गयी थी। बात यह है कि व्यावहारिक समीक्षा विधायकता के लिए रचना के साथ सामरस्य की माँग करती है। छायावादोत्तर साहित्य से वाजपेयीजी समरस नहीं हो सकते थे, अतः उनकी परवर्ती समीक्षाएँ मुख्यतः निषेधक होने के लिए बाध्य थीं।

वाजपेयीजी की आक्रामकता की प्रभविष्णुता उनके चुटीले व्यंग्यों और पैने प्रश्नों के कारण बहुत बढ़ जाती है। आलोचना-समर में उतरने पर अपने गुरुजनों के प्रति सम्मान रखते हुए भी उन्हें वे बख्शते नहीं थे, फिर समवयस्कों की तो बात ही जाने दीजिए। आ० रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द, जैनेन्द्र कुमार, अज्ञेय आदि की कतिपय मान्यताओं का विरोध करते हुए उन पर तीखे व्यंग्य-बाणों की वर्षा करने में वे कुण्ठित नहीं हुए। इसी तरह उनकी आक्रामक कला का एक खास कौशल प्रश्न-पर-प्रश्न पूछते चले जाना था। ये प्रश्न इस क्रम से उभारे जाते थे कि अन्त तक आते-आते प्रतिपक्षी स्वतः निग्रह स्थान में पहुँच जाता था।

उनकी तीसरी विशेषता सतत आत्मपरीक्षण की उनकी अनुकरणीय प्रवृत्ति है। इसका प्रतिफलन पूर्ववर्ती अनुदार एवं अतिशय उदार दोनों प्रकार के निर्णयों को सन्तुलित करने में हुआ है। जहाँ एक ओर आ० रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द एवं प्रयोगवादी कविता के प्रति अपने विरोधमूलक अतिरेकों को उन्होंने बाद में संयमित किया एवं उनके प्रदेयों के महत्त्व को स्वीकारा नहीं, दूसरी ओर छायावादी काव्य की सीमाओं का भी उल्लेख किया, उदाहरण के लिए उन्होंने बाद में माना कि "आज जब मैं प्रसाद के 'आँसू' काव्य को देखता हूँ तो उसमें अंग-संघटन की बड़ी कमी दिखाई देती है।"[५६] अथवा "कामायनी की उक्ति के अनुसार यह रचना कोमलता में बल खाती" हुई है···महाकाव्य का गम्भीर स्वर भी इसमें पूरे वेग से नहीं उतरा।[५७] अपने पूर्वनिष्कर्षों में इस प्रकार संशोधन करना निस्सन्देह बहुत बड़े कलेजे का काम है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास को समझने के लिए वाजपेयीजी की समीक्षाओं का अध्ययन अनिवार्य है। छायावाद की विशेषताओं का उद्घाटन करने में वे अद्वितीय हैं। राष्ट्रीय साहित्य सम्बन्धी उनकी स्थापनाएँ भावी पीढ़ी के कृती साहित्यकारों के लिए उनकी वसीयत हैं। परवर्ती हिन्दी समीक्षा पर उनकी गहरी छाप सहज ही देखी जा सकती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि आचार्य वाजपेयी की अतिशय पौरुषयुक्त, स्वतंत्रचेता, रजोगुणी समीक्षाओं ने भारतीय साहित्य-समीक्षा को महिम्नतर बनाया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाद-टिप्पणियाँ

१. महाकवि सूरदास, पृ० ५।
२. वही, पृ० ५।
३. वही, पृ० ८७।
४. नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० २२१।
५. आधुनिक साहित्य, पृ० ४०२।
६. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ० ११।
७. वही, पृ० ३२।
८. जयशंकर प्रसाद, पृ० ११।
९. वही, पृ० १२।
१०. हि० सा० बी० श०, पृ० ८७।
११. आधुनिक साहित्य, पृ० २८४-८५।
१२. नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० २।
१३. वही, पृ० ४-५।
१४. आधुनिक साहित्य, पृ० ६।
१५. हि० सा० बी० श०, पृ० १६२।
१६. वही, पृ० १७०।
१७. नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० २७।
१८. राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध, पृ० अ।
१९. जयशंकर प्रसाद, पृ० १९।
२०. कवि निराला, पृ० २०१।
२१. ,, ,, पृ० १७९।
२२. ,, ,, पृ० १७९।
२३. ,, ,, पृ० १९०।
२४. ,, ,, पृ० १०१।
२५. ,, ,, पृ० १९०।
२६. ,, ,, पृ० १८०।
२७. जयशंकर प्रसाद, पृ० २६-२७।
२८. कवि निराला, पृ० १७८।
२९. वही, पृ० १७९।
३०. जयशंकर प्रसाद, पृ० २९।
३१. वही, पृ० १०५।
३२. वही, पृ० ११४।
३३. वही, पृ० ११४।
३४. कवि निराला, पृ० १८५।
३५. वही, पृ० १६२।
३६. वही, पृ० १७९।
३७. वही, पृ० १८५।
३८. वही, पृ० १६२।
३९. जयशंकर प्रसाद, पृ० १६।
४०. कवि निराला, पृ० १६२।
४१. आधुनिक साहित्य, पृ० २७९।
४२. नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० ३०।
४३. हि० सा० बी० श०, पृ० ७०।
४४. राष्ट्रीय सा० त० अ० नि०, पृ० ३३।
४५. आधुनिक साहित्य की भूमिका, पृ० ५०।
४६. आ० सा०, पृ० ११।
४७. रा० सा० त० अ० नि०, पृ० ११।
४८. धर्मयुग (६ अगस्त १९६७), पृष्ठ १९।
४९. वही, पृष्ठ ३८।
५०. हि० सा० बी० श०, पृष्ठ ८३।
५१. वही, पृष्ठ ८२।
५२. रा० सा० त० अ० नि०, पृष्ठ १३१।
५३. कवि निराला, पृष्ठ ९९।
५४. धर्मयुग (६ अगस्त १९६७), पृ० १८।
५५. जयशंकर प्रसाद, पृ० १।
५६. नया साहित्य : नये प्रश्न, निकष, पृ० ७।
५७. आधुनिक साहित्य, भूमिका, पृ० ३८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहचान

(लीलाधर जगूड़ी के लिए)

नीलाभ

वह अकस्मात नहीं होगा।
वह ख़ुशनुमा या ख़तरनाक परिवर्तन।
अकस्मात नहीं होगा।
सहसा तुम्हें चकित और डरा हुआ और ख़ुश
बनाकर छोड़ता हुआ।

वह जब भी होगा।
ख़ून के फ़व्वारों के बीच आग के शोले लपकेंगे
और अपने बदले हुए चेहरे तुम्हें एकदम और
सचमुच
निराश और अजनबी बनाकर छोड़ जायेंगे।

कितना मुश्किल हो गया है।
कितना मुश्किल हो गया है तुम्हारे लिए।
अपने अन्दर एक टूटे हुए तालमेल को लिये
हुए जीना।
लगातार और निराश।
जबकि अब भी वही हवा है। वही मौसम।
दिमाग़ को अपनी कोहरीली और विषधर
धुंध से
जकड़ता हुआ।

बहुत-सी चीज़ों की पहचान धीरे-धीरे शुरू
होती है
जलते हुए तेज़ ज़हर की तरह नस-नस में
रचती हुई
और एक ऐसी थकान में बदल जाती है
जिसका कोई अन्त नहीं। तुम्हारे अन्दर और
बाहर।
लेकिन तुम पूछ नहीं सकते कि :
क्यों नहीं है इस मौसम में
किसी ख़ुशनुमा सच की तलाश।

कितना मुश्किल है तुम्हारे लिए
यह सब लिखना, जानना, और अपने आपको
दण्डरहित बनाये रख पाना
जबकि तुम्हारे अन्दर से आती हुई
वे मुतवातिर आवाज़ें
तुम्हें निरपराध नहीं रहने देतीं।

अपने आपको लगातार छलते रहने की मजबूरी
यह सिर्फ़ तुम्हारी नहीं है
अपने क़द से लगातार बड़े नज़र आते रहने की
मजबूरी।
वह कौन-सी हवा थी ? कौन-सा मौसम ?
जिसमें एकाएक सब-कुछ बदल गया।
तुम्हारे अन्दर और बाहर।

अपने एहसास को सँभाल कर रखो।
दिमाग़ की कोहरीली और विषधर धुंध
की पहचान के बावजूद।
क्योंकि वही। सिर्फ़ वही।
तुम्हें अब भी दे सकता है जंगल की ख़ुशबू

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और हवा की महक। जादू से नहीं।
अपनी नसों में दौड़ते हुए ज़हर को बरदाश्त
करने के लगातार दर्द से।

लेकिन तुम कोई भी हो। तुम्हारे हाथों पर भी खून है।
और कन्धों पर लाशों का एक बदबूदार, सड़ता हुआ जंगल।
एक और गहरी और घातक दुरभिसन्धि की शुरुआत।
शुरुआत और अन्त। सब-कुछ इसी तरह होता है।
कमज़ोर हाथों की साज़िश से निकल कर
फिर से उसी में डूबता हुआ।
और तुम इससे इनकार नहीं कर सकते।

आज भी वही बदसूरत, चिरपरिचित फीके रंगीन चिथड़े
तुम्हें दूर से शहर के ऊपर लहराते हुए दिखते हैं।
वही अर्थहीन, उकता देने वाली, समरस धुन
घरों में लगातार बजती रहती है।
लेकिन तुम कुछ नहीं कर सकते।
क्योंकि इस सबसे अलग
अगर कोई दुनिया सचमुच तुम्हारी है
तो तुमने उसे अभी तक खोजा नहीं है।
आज़ादी एक ऐसा तवील खून-खराबा है
जिसका तुम्हारे एहसास में ज़रा-सा भी दखल नहीं।
तुमने पाया है इस अँधेरे, सील भरे और बदबूदार तहखाने में
इक्कीस वर्ष काटने के बाद भी तुम वयस्क नहीं हुए हो। और
समय। ऐसा समय कि सब-कुछ
अपने आप व्यवस्थित हो जाय
नहीं आया है।
अगर कोई खुशी है इस आज़ादी में—
खुद अपने-आपको नष्ट करने की खुशी के इलावा—
तो उसे तुम पा नहीं सके हो।

एक बहुत गहरी और निर्मम दलदल में फँस गये हैं।
तुम्हारे पाँव। और तुम कुछ नहीं कर सकते।
तुम भटक गये हो। लेकिन तुम कुछ नहीं कर सकते।
तुमने अपने एहसास को लगातार मरते हुए देखा है
तुमने सुनी है सहसा जगकर। नींद के कोहरे को भेद कर
अब तक आती हुई। वह आवाज़ या चीख-नुमा कचोट। लगातार।
लेकिन तुम कुछ नहीं कर सकते।

तुम प्रार्थना नहीं कर सकते।
क्योंकि तुम्हारे पास वह आदिम भय नहीं है
जिससे सब प्रार्थनाएँ निकलती हैं।
तुम लड़ नहीं सकते
क्योंकि तुम्हारे पास हथियार नहीं हैं।
वे तुम्हें बोलने भी नहीं देंगे।
तुम्हारे बचपन के सपनों की दूसरी तरफ़
बसा हुआ तुम्हारा असली देश
एक बहुत लम्बी अन्धी गली है
जिसके पार तुम कभी जा सकते थे।

तुम असंतुष्ट हो सकते थे।
इसके बावजूद कि तुम्हें हमेशा
सन्तोष और त्याग का पाठ पढ़ाया गया था।
तुम अपने-आपको रोक सकते थे
अपने अन्तर के ज़हर से लगातार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुलाम और बीमार और अपंग बच्चे पैदा
करने से
लेकिन तुम्हारे पास उद्धरित करने के लिए
वंश-रक्षा का एक लम्बा और कामयाब
इतिहास था।

तुम एक बार
तुम सिर्फ़ एक बार पूरी साँस से चीख
सकते थे।

अपनी आवाज़ की बुलन्दी से
आकाश को अन्तहीन खण्डों में
विभाजित करते हुए।
लेकिन तुम्हें हमेशा शान्त और सभ्य रहने
और भविष्य में आशा बनाये रखने का
सबक दिया जाता रहा है।
और देश। धीरे-धीरे यह शब्द तुम्हारे लिए
कितना बेमानी और व्यर्थ हो गया है।
तुम्हारे अन्तर के शान्त गहरे निस्तब्ध मौन
पर उगते रहे हैं मदार के जंगल पर जंगल।
तुम्हारे दिमाग़ की परती पर लपटों के अन्तहीन
पेड़।

और अब तुम सिर्फ़ खड़े हो।
तुम एक लम्बे अर्से से अपने साफ़ और सफ़ेद
कपड़ों को बचाते हुए
एक बहुत गन्दे और बदबूदार नाले के किनारे
खड़े हो।
और उसे अपना देश कह रहे हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिवेश : संस्कार और संवेदना

(हिन्दी कहानी के सन्दर्भ में)

रमेशचन्द्र शाह

हर सार्थक कथाकार का अपना एक संसार—एक निजी मानसिक परिवेश—होता है जो कि उसके अतीत से ताल्लुक रखता है और चेतना-प्रवाह में जिसके जीवित स्पन्दन की सुलभता उसे कथा-रचना में प्रवृत्त करने वाले कारणों में से एक हो सकती है। यह कहना कि कोई रचनाकार संस्कार के स्तर पर अपने एक खास निजी परिवेश में स्थापित है, एक प्रकार से देखा जाय तो, यह कहने के बराबर है कि उसकी संवेदना भी एक खास मायने में 'स्थापित' है। इस दृष्टि से विश्लेषण की सुविधा के लिए हम कह सकते हैं कि कमलेश्वर की तुलना में मोहन राकेश की संवेदना (सेंसबिलिटी) कम स्थापित है, लगभग उसी प्रकार, जैसे कि प्रेमचन्द के मुकाबले अज्ञेय की संवेदना।

कई कहानियों का अध्ययनानुभव हमें यही सोचने को बाध्य करता है कि कहानी में व्यक्त परिवेश जितना मूर्त्त और स्वतःस्फूर्त्त (यह शब्द सार्थक है) होगा, उससे उभरा हुआ व्यक्ति (चरित्र) भी उतना ही सजीव और प्रत्यक्षसंवेद्य होगा। जो वस्तु को देख सकता है, उसका जीवन्त अनुभव करा सकता है, वह व्यक्ति को, पात्र को 'रियलाइज़' कर सकता है, ऐसा मानना स्वाभाविक लगता है। अन्ततः परिवेश भी तो बहुत सारे व्यक्तियों की—समूहगत मानव की—निर्मिति है। हम अपनी प्राथमिक संवेदनाएँ परिवेश से ही ग्रहण करते हैं, व्यक्तियों से नहीं। हमारे अस्तित्व की प्रथम संवेदनाएं, प्रथम बोध ही परिवेश के होते हैं। अलग से उनको देखना-समझना—हम बहुत बाद से शुरू करते हैं। व्यक्ति और परिवेश की विभक्ति को हमारी संवेदना धीरे-धीरे ही स्वीकार कर पाती है। एक प्रकार से देखा जाय तो हमारी कहानी और कविता की प्राथमिक जड़ें वही हैं—उसी मानसिकता में निहित रहती हैं।

जिनकी संवेदना इस अर्थ में स्थापित है अर्थात् उसका संस्कार लम्बे अरसे तक एक ही विशिष्ट परिवेश में होने की सुविधा जिन्हें मिली है, वे बाद में चाहे उससे बिलकुल कट जाएँ—विशुद्ध आर्थिक कारणों से, या कि आत्मिक मनोवैज्ञानिक कारणों से (जैसे हेनरी जेम्स और जेम्स ज्वाइस), इसका कोई अनिष्टकारी परिणाम उसके लेखन पर नहीं पड़ता। बल्कि विपरीत ही प्रभाव देखने में आता है। भौगोलिक दूरी स्मृति-प्रक्रिया को अधिक उत्प्रेरित करके संवेदनात्मक निकटता को जन्म देती है : जो पहले सीधी सरल राग-संवेदनाएँ थीं, वे अब रचनाकार की विशिष्ट जीवनानुभूति का पैटर्न बनकर रचना में परिणमित होने लगती हैं। रचनाकार की हैसियत से जिसका कोई अतीत नहीं, व्यक्तिगत संस्कार और परिवेश का कोई ऐसा ठोस अनुभव नहीं, जिसके साथ उसका एक सुनिश्चित और जटिल रागात्मक सम्बन्ध हो (चाहे आकर्षण का, चाहे विकर्षण का, क्योंकि दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं), उसकी वर्तमान पर पकड़ भी अस्थिर और अनिश्चित होगी—ऐसी आशंका सहज ही हमें होती है। वर्तमान की पकड़ के लिए अतीत की पकड़ आवश्यक लग उठती है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक रचनाकार में गहरे कहीं एक विद्रोह, एक सूक्ष्म प्रतिशोधभाव होता है—उस संसार के प्रति, जिसने उसके अस्तित्व की बुनियादी 'इनोसेन्स' को खण्डित किया—उस 'इनोसेन्स' को, जिसके बल पर वह कभी अपने समूचे परिवेश के साथ आत्मीय और एकतान अनुभव करता था, जबकि तत्कथित अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् के बीच कोई फाँक नहीं दिखाई पड़ती थी। दार्शनिक जिस भेद और विच्छेद को अपनी तर्कबुद्धि से पाटने की ओर प्रवृत्त होता है और सामान्य औसत आदमी जिसे अपनी स्वार्थमूढ़ता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

या सांसारिक सफलता या अज्ञान और अन्धविश्वास से पाट लेता है (याकि पाटने की ज़रूरत ही नहीं महसूस करता क्योंकि अपनी जीवन-प्रक्रिया की बुनियादी असंगतियों के प्रति वह सचमुच सचेत होता ही नहीं) उसको रचनाकार दूसरे ढंग से पाटता है। अपनी रचनाशीलता से। रचना के द्वारा वह परिवेश और व्यक्ति को पुनः करीब लाता है : दोनों को एक-दूसरे के 'टर्म्स' में परिभाषित कर देता है, एक-दूसरे में अनूदित करता और घुलाता है।

जिसने एक खास परिवेश के माध्यम से अपने व्यक्तित्व की पहचान पाई है, परिवेश और व्यक्तित्व की पारस्परिकता को गहरे राग-बोध के स्तर पर जिया है वह दूसरे विपरीत और अनात्मीय परिवेश से बिंधे हुए व्यक्ति की विडम्बना को भी रचनात्मक अभिव्यक्ति दे सकता है। जो आदमी 'देवा की माँ', 'मुर्दों की बस्ती' और 'कस्बे का आदमी' जैसी कहानियाँ लिख सकता है, वही अगर 'दिल्ली में एक मौत' और 'खोई हुई दिशाएँ' जैसी रचनाएँ भी दे जाता है तो इसमें अचरज की कोई बात नहीं होती। वह नितान्त स्वाभाविक विकास लगता है कथाकार का। मनुष्य और उसके परिवेश के जीवित अन्तःसम्बन्धों का वही बुनियादी विवेक उसे वहाँ भी काम देता है। काल और स्थान आदमी के अस्तित्व के मूल घटक हैं। काल और भूगोल का यह प्रारम्भिक मौलिक आस्वाद रचनाकार के व्यक्तिगत विकास-क्रम से सम्बद्ध प्रत्येक कालान्तर और स्थानान्तर की जीवनानुभूतियों के आस्वाद और अर्थ को प्रभावित करता है। जो एक निश्चित आत्मानुभूत परिवेश को अपने राग-बोध में ज़िन्दा और सक्रिय स्फूर्त्त रख सकता है, वह दूसरे परिवेश की मानवीयता को भी मज़बूती से पकड़ सकता है। उस परिवेश को भी, जो कि उसे अनात्मीयता का दंश देती है। विरोध के न्याय से। कमलेश्वर की कहानियों का दृष्टान्त लें तो वहाँ हमें यह पकड़, यह आत्मविश्वास भरपूर दिखाई देता है। यह भी एक कारण—और प्रमुख कारण है कि वे हमें न केवल तथाकथित सामाजिक यथार्थ की, बल्कि तथाकथित व्यक्ति-चेतना के यथार्थ की माँगों को भी पूरी करती जान पड़ती हैं। यह आत्म-विश्वास प्रेमचन्द्र में है और कौशिक में भी। प्रसाद और अज्ञेय में वह अपेक्षाकृत कम है। वे इस कमी को दूसरे ढंग से पूरा करने का यत्न करते हैं। और आगे बढ़ें तो, एक आत्मीय परिवेश—जिससे रचनाकार का अन्तरात्मिक लगाव है—और वयस्क जीवन के अनात्मीय परिवेश के बीच का तनाव कमलेश्वर की तरह प्रयाग शुक्ल में भी मिलता है। निश्चय ही इस तनाव की अभिव्यक्ति भिन्न है : अधिक एकालापी, अन्तराभिमुख तथा मनःस्थित्यात्मक...। किन्तु वह है अचूक।...और व्यक्ति तथा उसका परिवेश उनकी कहानियों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से एक-दूसरे को संप्रेषित करते प्रतीत होते हैं। स्मृति-प्रवाह का नैरन्तर्य एक परिवेश में दूसरे परिवेश की, एक बिम्ब में दूसरे बिम्ब की घुलावट और टकराहट को संप्रेषित करता है और मनःस्थितियों का तटस्थ चित्रण—वास्तविक अनुभव संभव बनाता है और उनके माध्यम से आत्म-स्थितियों के अन्वेषण की—अनात्म यथार्थता के बीच, उसके ऊपर ही, व्यक्ति की सार्थकता को, उसके अस्तित्व को, सिद्ध और प्रमाणित करने की—भूमिका प्रस्तुत करता है। केवल भूमिका।...इस वैशिष्ट्य को समझने और अलगाने के लिए हम रामकुमार की कहानियों का तुलनात्मक अध्ययन कर सकते हैं। मोटे तौर पर प्रयाग शुक्ल और रामकुमार के बीच कुछ वैसा ही अन्तर दिखाई पड़ता है, संवेदना के गुणधर्म और स्वभाव का, जैसा कि कमलेश्वर और मोहन राकेश के बीच दिखाई देता है। इतना अवश्य है कि प्रयाग शुक्ल अभी उस भूमिका से आगे बढ़ते नहीं दिखाई देते।

परिवेश और व्यक्ति के इस अन्तरावलम्बन को, सामंजस्य और तनाव की इस सर्जनात्मक प्रेरणा को एक-दूसरे स्तर पर रचनाकार के संस्कारों और संवेदना के बीच की कशमश के 'टर्म्स' में भी समझा जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कोई कलाकार उसी अनुपात में सार्थक और महत्त्वपूर्ण होता है जिस अनुपात में कि यह कशमकश संस्कार-जगत् की अधिकतम गहराई और संवेदन (याने भावबोध) की अधिकतम जटिलता के बीच सक्रिय रहकर रचना में परिणमित होती है। आधुनिक रचना का इतिहास इस कशमकश की अनिवार्यता को रेखांकित करता है। यहाँ तक कि विद्रोह की 'क्वालिटी' और उसकी रचनागत सार्थकता के बारे में भी आलोचक तभी आश्वस्त हो सकता है जबकि जिससे विद्रोह किया जा रहा है, उसके साथ रचनाकार के सम्पूर्ण वैयक्तिक उलझाव का प्रमाण रचनाओं से मिले। और यह भी ध्यातव्य है कि सम्पूर्ण वैयक्तिक उलझाव का अर्थ मात्र संवेदना के एक विशेषीकृत उलझाव से नहीं है, जैसा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि अक्सर अपने यहाँ समझ लिया जाता है।

कमलेश्वर की संवेदना और भावबोध अपेक्षाकृत सरल-अजटिल है। किन्तु संस्कारगत जीवन और परिवेश की पकड़ गहरी है। संवेदना की सरलता (और किंचित् सरलता) के कारण बौद्धिकता के आग्रह के वशीभूत होकर मोहवश कई कमज़ोर और चमत्कारपूर्ण कहानियाँ भी उन्होंने लिख मारी हैं। कुछ रचनाकार होते हैं जिनकी विशिष्ट संवेदनशीलता का, जटिल राग-बोध का ही अनिवार्य तकाज़ा होता है कि वे बौद्धिकता और स्वचेतना का आग्रह रखें, जैसे अज्ञेय, रघुवीरसहाय और श्रीकान्त वर्मा जैसे कथाकार। उनकी यह स्वचेतना उनकी संवेदना का ही अंग याकि कवच हो जाती है। आवश्यक हो जाती है। किन्तु कमलेश्वर के साथ ऐसा नहीं है। अतः जब कभी उन्होंने अपनी कथाओं को सायास किसी बौद्धिक आशय से, किसी मनस्तात्त्विक विश्लेषणवृत्ति से बुनना चाहा है, वे असफल हुए हैं; जैसे एक 'अश्लील कहानी' और 'पीला गुलाब' जैसी कहानियों में। यों कमलेश्वर की भावुकता बहुधा उनके नियंत्रण में रहती है; पर ऐसी जगहों में वह रिसने लगती है। इसी तरह उनकी व्यंग्य रचनाओं को भी देखा जा सकता है। क्या कारण है कि 'जार्ज पंचम की नाक' एक सचोट कहानी है और 'प्रेमिका' एक घटिया चीज़? इसका कारण शायद यही है कि वे परिवेश पर चोट कर सकते हैं; व्यक्ति पर नहीं। व्यक्ति को व्यंग्य का विषय बनाने के लिए चेखोव जैसी निर्मम तटस्थता और जटिल वेदन-तंत्र चाहिए। या श्रीकान्त वर्मा जैसी विश्लेषण-वृत्ति। कमलेश्वर की व्यंग्यवृत्ति और 'विट' भी प्रेमचन्दीय है। जो काम प्रेमचन्द ने 'शतरंज के खिलाड़ी' में किया है, कुछ-कुछ वैसा ही काम कमलेश्वर ने 'जार्ज पंचम की नाक' में किया है। व्यक्ति की संवेदन-क्षमता और मानवीय जागरूकता को ही कुंठित करने वाले परिवेश पर चोट···। (मैं केवल निहित उद्देश्य और प्रेरणा की समानता दर्शाना चाहता हूँ) जो कथाकार 'मुर्दों की दुनिया' और 'दुःखभरी दुनिया' लिख सकता है, वह 'जार्ज पंचम की नाक' भी लिख सकता है। जिसे वह 'मुर्दों की दुनिया' कह सकता है; उससे घृणा भी कर सकता है क्योंकि वह उससे प्यार कर सकता है—पूरी सजीवता के साथ उसे प्रत्यक्ष करा सकता है एक-एक ब्यौरा···। इसलिए वह उस यांत्रिक परिवेश पर तगड़ा प्रहार कर सकने में सक्षम होता है जो 'मुर्दों की दुनिया' से भी ज्यादा जड़ और अमानवीय है। किन्तु 'प्रेमिका' का व्यंग्य सपाट है। गहरे संस्कार और सरल-सीधी संवेदना का कथाकार यदि व्यक्ति को छीलकर नंगा करना चाहेगा तो यही परिणाम होगा, क्योंकि उसकी दृष्टि विश्लेषणात्मक—तटस्थ न हो सकेगी इसलिए अधूरी और विकलांग भी होगी। परिवेश में गहरी डुबकी लगाकर सत्य को (और व्यक्ति-सत्य) को उभारना एक बात है और व्यक्ति में डुबकी लगाकर और सत्य को (और परिवेश को) उबारना बिलकुल दूसरी बात है। 'पानी की तस्वीर' का रचयिता 'एक थी विमला' लिख सकता है, सहज लाघव के साथ, क्योंकि वहाँ वह अपनी ज़मीन पर है; क्योंकि वहाँ वह परिवेश के माध्यम से मनुष्य को पकड़ रहा है। इसके विपरीत 'प्रेमिका' में वह अनधिकार चेष्टा करता प्रतीत होता है। वैसी वस्तु को उजागर करने के लिए 'आयरनी' के सूक्ष्म औज़ार की अपेक्षा होती है, हल्की-फुल्की विनोद-वृत्ति या शरारत की नहीं। किन्तु 'आयरनी' एक ऐसा अस्त्र है जिसका उपयोग जटिल-भाव-बोध-संवेदना की अपेक्षा रखता है, सरलता की नहीं। आयरनी का उपयोग देखना हो तो चेखोव की 'द डार्लिंग' या 'द किस' को पढ़ा जा सकता है। या मोहन राकेश की 'मिस पाल' को।

'राजा निरबंसिया' एक सार्थक प्रयोग है, जबकि 'देवा की माँ' एक शक्तिशाली रचना है: पूरी कथास्थिति मानो रचनाकार के अपने आत्मसंघर्ष का प्रतीक है।···गहरे संस्कारगत अस्तित्व के भीतर से, परिवेश के पूरे लगाव और जुड़ाव के भीतर से निर्मित व्यक्तित्व···, जो उसी संस्कार और उसी परिवेश को आत्म-चेतना के एक ही विस्फोट में अपने से अलग झटक दे सकता है···उसके ऊपर स्वयं की स्वतन्त्र मर्यादा को स्थापित कर दे सकता है।

जहाँ परिवेश रचनाकार के अस्तित्व-बोध का एक बुनियादी घटक हो, वहाँ रचने वाली संवेदना के किसी विशेषीकृत उलझाव (involvement) के साथ या उसके बग़ैर भी कलात्मक उत्कर्ष सम्भव हो जाता है। रचनात्मक वैशिष्ट्य इस विशेषीकरण का मोहताज ही रहे, यह जरूरी नहीं है। हाँ, रचनाकार जटिल संवेदना का धनी होना चाहिए। डी० एच० लॉरेंस की अनेक कहानियों का, जेम्स ज्वाइस का और स्वयं कैथरीन मैन्सफील्ड का उदाहरण हमारे सामने है। आत्मान्वेषण, आध्यात्मिक सार्थकता के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए छटपटाहट, अवचेतना की गोताखोरी, सन्देश, जीवन-दृष्टि—यह सब विकसित होते जाते हैं समय के साथ-साथ, किन्तु परिवेश की वह पकड़, वह बुनियादी सम्पृक्ति और संगति शुरू से आखीर तक कायम रहती है। मानो अस्तित्व और व्यक्तित्व के सर्जनात्मक संघर्ष की वह शाश्वत पीठिका ही हो। परिवेशगत अस्तित्व की वह पहचान, वह संस्मृति मानवीय तत्त्व के साक्षात्कार के हर सोपान पर सक्रिय रूप से उपस्थित रहती है। और उसे विशिष्ट रंग और ढलन भी देती है। यहाँ तक कि वह एक स्वतंत्र सर्जनात्मक सत्ता की तरह बार-बार रचनाकार के भीतर पुनः-पुनः सृष्ट होती रहती है। व्यक्तित्व के विकास का प्रत्येक सोपान मानो अपनी प्रामाणिकता के लिए उसी सन्दर्भ-पीठिका को—जो कि एक तरह से उसके अस्तित्व की ही सन्दर्भ-पीठिका है—टटोलता है। जॉयस का डबलिन बार-बार जन्म लेता है—उसकी रचना-प्रक्रिया की क्रमशः बढ़ती हुई जटिलता में से। सर्जनात्मक दृष्टि से सच्चे निर्वाचन और विच्छेद की पूर्व प्रतिज्ञा ही सच्चा जुड़ाव और उलझाव है। वह परिवेश उनकी संवेदना में बार-बार जन्म लेता है और नया रूप, नया अर्थ ग्रहण करता है।

एक दूसरे प्रकार के रचनाकार भी होते हैं जिनमें अस्तित्व-बोध का संघर्ष पूर्णतः या मुख्यतः उनकी संवेदना—अत्यधिक परिष्कृत और जटिल संवेदना—का ही संघर्ष होता है। संघर्ष का दूसरा आयाम अर्थात् मिले हुए संस्कार का दबाव—एक विशिष्ट काल और स्थान में संपोषित अस्तित्व का दबाव—उनकी सर्जनात्मकता के लिए मूलभूत चुनौती नहीं बन पाता। फलतः संवेदना और संस्कार के रचनात्मक द्वन्द्व की समस्या उनके लिए दूसरे छोर पर सरल हो जाती है। एक सरलता तो वह है जहाँ संवेदना (भाव-बोध) अपेक्षित जटिलता को प्राप्त नहीं हो पाती है जैसा कि कमलेश्वर के यहाँ है। दूसरे प्रकार का सरलीकरण निर्मल वर्मा और रामकुमार के यहाँ दीखता है। इसलिए बहुत बड़े तनावों और तत्त्वों को रचनात्मक उन्मोचन देनेवाली कला की सम्भावनाएँ यहाँ भी स्थगित ही रही आती हैं। अज्ञेय का नाम भी लिया जा सकता है: जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है उनके यहाँ भी परिवेश की—संस्कारगत गहराइयों की—वैसी स्वतःस्फूर्त सर्जनात्मक सत्ता नहीं है। कम-से-कम जहाँ तक उनके कथा-कृतित्व का सम्बन्ध है, एक विशिष्ट काल एवं भूगोल का अस्तित्व-सिद्ध उलझाव उनकी रचनात्मकता का मूल घटक नहीं है, संस्कारगत मनुष्यता के इस अन्तराल को वे एक ओर अपनी सांस्कृतिक रुचि-दृष्टि से, और दूसरी ओर अपनी विशेषीकृत संवेदना से पाटते हैं। संस्कार की प्रकृति सामान्य होती है; अतः अधिक निकट और प्रत्यक्ष-संवेद्य भी, आम पाठकों के लिए, जबकि संस्कृति में एक दूरी होती है। संस्कार के सर्जनात्मक कार्य को संस्कृति भी पूरा कर सकती है। पर इसके लिए रचनाकार की संवेदना को (सेंसिबिलिटी को) दोहरा-तिहरा बोझ वहन करना पड़ता है। उसे अपने विशेषीकृत उलझाव का निर्वाह भी करना पड़ता है और उसके वज़न के परिवेश की प्रकल्पना भी।"

'रोज़' को पढ़िए और फिर 'देवा की माँ' को। दोनों अत्यन्त मार्मिक रचनाएँ हैं। किन्तु 'देवा की माँ' की मार्मिकता का स्रोत हमारे संस्कारगत अस्तित्व की हमारी गहरी पहचान में निहित है, जबकि मालती से पूर्णतः संवेदित हो सकने के लिए उसमें व्यक्त-चित्रित परिवेश पर्याप्त नहीं पड़ता। हमें स्वयं रचनाकार की उपस्थिति की आवश्यकता पड़ती है। कथानायक के रूप में एक अतिरिक्त संवेदनशीलता के तीखे काव्य-गुण का सहारा लेना पड़ता है। पहली कहानी में परिवेश स्वयं परिस्थिति है कथाकार की संवेदना सिर्फ उसका आकलन करती है। किन्तु 'रोज़' में कथाकार की संवेदना को दोहरा श्रम करना पड़ता है। वहाँ परिवेश की बजाय 'वातावरण' की रचना है। वह यथार्थ लगता है तो इसलिए नहीं कि उसमें संस्कारगत सम्पृक्ति की पूर्णता है, बल्कि इसलिए, कि उसमें रचनेवाली मनीषा का संवेदनात्मक उलझाव पूरा है। वहाँ परिवेश ही संवेदना है। यहाँ संवेदना ही परिवेश है। यह महत्त्वपूर्ण अन्तर है—दो भिन्न कथा-प्रतिभाओं को परिभाषित करनेवाला।

प्रसाद के 'आकाशदीप' में भी परिवेश क्षीण है; वातावरण ही प्रधान है। रामकुमार की 'डेक' में परिवेश के दबाव की अनुमति है; संस्कार और संवेदना के द्वन्द्व की स्थिति है। किन्तु वह सब कहानी की पृष्ठभूमि जान पड़ती है; अग्रभूमि नहीं। महानाविक बुद्धगुप्त की तरह 'डेक' का नायक भी अकेला ही स्वदेश को लौटता है। प्रेयसी पीछे ही छूट जाती है क्योंकि 'अतीत' (संस्कार) दोनों का भिन्न है। हो चुके को अनहुआ करने की सामर्थ्य किसी में नहीं है। दोनों कहानियों में आत्म-निर्णय नायिकाओं ने लिया है जोकि स्वाभाविक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, क्योंकि संस्कारगत अस्तित्व की गहराई का बोध और संपृक्त रचाव पुरुष की अपेक्षा स्त्री में अधिक होता है। यह बल्कि कहना चाहिए कि उसके प्रति स्त्री की दृष्टि ज्यादा यथार्थ-वादी होती है। 'डेक' का नायक अपने भीतर के जिस यथार्थ को सरलीकृत भावुकता में घुलाना चाहता है उसकी असल ताकत को नायिका अपनी सहज 'इन्स्टिक्ट' से समझ लेती है। चम्पा भी सारी कशिश के बावजूद जानती है कि स्वदेश खाली एक भावुक भावना भर नहीं है; वह स्व-देश इसलिए (और तभी तक है) कि उसमें हमारे संस्कारगत अस्तित्व की गहराइयों की पहचान उपलब्ध है, सुरक्षित है। वैसी किसी पहचान का आश्वासन चम्पा के लिए सम्भव नहीं रह गया है। पिता की हत्या के साथ जो चला गया उसे बुद्धगुप्त नहीं लौटा सकता; उल्टे उसकी उपस्थिति बार-बार उसे उसी अतीत में प्रत्यावर्तित करेगी जिसकी कोई पहचान अब स्वदेश में भी शेष नहीं है। अगर शेष है कहीं तो उन्हीं समुद्रों में···। स्वदेश बुद्धगुप्त के लिए है; चम्पा के लिए नहीं, क्योंकि उसके अस्तित्व की परिस्थितियाँ—परिवेश भिन्न रहे हैं। उसके संस्कारगत अस्तित्व की गहराइयों और उसकी संवेदना की बीच की अखण्डता को ही मानों पिता की हत्या ने खण्डित कर दिया है। अतः बुद्धगुप्त का प्यार उसकी संवेदना को ही शेयर कर पाता है; उसे अपने विभाजित व्यक्तित्व का ही तीव्र अहसास कराता है। ऐसी स्थिति में और विकल्प ही क्या रह जाता है! सिवा इसके कि वह उस परिवेश को ही अंगी-कार करे—उसी को अपनी संवेदना भी अविभक्त सौंप दे, जहाँ कि उसके संस्कारगत अस्तित्व की गहराइयों के आच्छा-दित-आक्रान्त होने की गुंजाइश न हो। बुद्धगुप्त के प्रति समर्पित हो जाने में और उसके साथ स्वदेश लौट जाने में उन गहराइयों के ही विच्छिन्न हो जाने का खतरा निहित है। समर्पण इसलिए सम्पूर्ण भी नहीं हो सकता जिसके बिना व्यक्तिगत प्रेम की सार्थकता सन्दिग्ध है। अतः निर्वैयक्तिक प्यार ही एकमात्र विकल्प है; वही उस अकेलेपन को भर सकता है। वही संस्कार और संवेदना के क्रूर विभाजन को नियति से उबार सकता है। कम-से-कम सह्य तो बना ही सकता है उसे।

प्रसादजी और बाद में रामकुमार जैसे कथाकारों में परिवेश एक धुंधले मनोवैज्ञानिक यथार्थ के रूप में संकेतित होता है···। व्यक्ति मानस के साथ उसके सम्बन्धों को उनकी वास्तविकता में—समूचे जटिल सन्दर्भ के साथ—मूर्त्त करने का उत्साह वैसा नहीं मिलता। हम देखते हैं कि रामकुमार की कथा-स्थितियों और पात्रों में अकेलेपन का यह पैटर्न रूढ़-सा होता जाता है···। परिवेश···और उससे छूटकर स्वतंत्र होना चाहती संवेदना के बीच अधर में झूलती व्यक्ति-चेतना का अकेलापन···। मुश्किल यही है कि परिवेश की···संस्कार-गत अस्तित्व (या अनस्तित्व) की बुनियादी चुनौतियों के साहसिक साक्षात्कार की प्रेरणा और शक्ति वहाँ बहुत क्षीण है। अवगति है, तनाव भी है; पर जड़ें कमजोर होने के कारण तनाव ढीला हो जाता है,—और वही—वही संवेदना का—अतिरिक्त संवेदना का धुँधलका—पुनः-पुनः घिर आता है। कलाकारिता की विजय इसीलिए बहुत बड़ी और कन्विन्सिंग नहीं हो पाती, क्योंकि कहीं उसमें हमें कलाकार की थकान भी अन्तर्निहित प्रतीत होती है। यह स्थिति और भी तीखे रूप में हमें निर्मल वर्मा की कहानियों में अनुभव होती है। संस्कारगत अस्तित्व की सारी चुनौतियाँ वहाँ जैसे कलात्मक संवेदना के एक खास विशेषीकरण में रूपान्तरित होने को छटपटाती जान पड़ती हैं और इस वैशिष्ट्य का महँगा मोल चुकाना पड़ा है। परिवेश रूपान्तरित होते-होते लुप्त हो गया है और उसका पूरा भार संवेदना पर आ गया है। मोहन राकेश के साथ ऐसी चरमता तो नहीं है। फिर भी उनकी संवेदना और संस्कार काफी विस्थापित हैं। परिवेश एक स्वतंत्र सर्जनात्मक सत्ता की चुनौती के रूप में कम सक्रिय है।

स्थिति-स्थापकता का यह पैटर्न जो प्रसाद और प्रेमचन्द, अज्ञेय और जैनेन्द्र, मोहन राकेश और कमलेश्वर, रामकुमार और प्रयाग शुक्ल इत्यादि के बीच सक्रिय दिखाई देता है, कुछ-कुछ लगभग वही पैटर्न बाद की पीढ़ी में दूधनाथसिंह और ज्ञानरंजन जैसे कथाकारों के बीच झलकता है। संवेदना का विशेषीकृत उलझाव यदि दूधनाथसिंह में अधिक प्रगट है तो परिवेश की आत्मीयता-अनात्मता के अवगाहन की चेष्टा ज्ञानरंजन में···। 'फेंस' के इधर-उधर' और 'पिता' जैसी कहानियों में यह रुझान स्पष्ट है। उधर आत्मस्थितियों की अतिसंवेदना को कथास्थितियों की अतिरंजना से संतुलित और सघन करने की जिस कला का सूत्रपात 'रोज़' द्वारा हुआ था, कुछ-कुछ उसी प्रकार का पैटर्न दूधनाथसिंह की 'रक्तपात' और 'आइसबर्ग' जैसी कहानियों में देखा जा सकता है। यह बात दूसरी है कि इन रचनाओं के संतुलन की अपेक्षा अति-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रंजना का अनुभव अधिक होता है। दूसरी ओर दूधनाथसिंह ने 'दुःस्वप्न' और 'प्रतिशोध' जैसी कहानियाँ भी लिखी हैं जिनमें व्यक्त यथार्थ अधिक वास्तविक, गत्वर तथा परिवेश की सामान्य लय-गति से अपेक्षाकृत अधिक प्रभावित है। संवेदना का विशेषीकृत उलझाव वहाँ उस तरह आड़े नहीं आता क्योंकि परिवेश की सत्ता वहाँ काफी कुछ प्रत्यक्षसंवेद्य है और उसकी प्रत्यक्ष उपस्थिति-चुनौती के समकक्ष ही स्नायविक उत्तेजना भी प्रतीत होती है। थोड़ी अतिरिक्तता है भी, तो वह उस तरह खलती नहीं।

इसे एक विडम्बना ही कहें कि अपने यहाँ अनेक कहानियों को पढ़ते हुए ऐसा प्रतीत होता है जैसे परिवेश का प्रश्न संस्कार और संवेदना के जटिल अन्तःसम्बन्धों का प्रश्न न होकर मात्र शिल्प-सज्जा का, याकि तथाकथित नग्न यथार्थवाद का प्रश्न हो। यह एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है। यदि परिवेश-कृत संवेदना आपकी रचनात्मकता की बुनियादी घटक नहीं बन सकी तो न सही ; आप अपनी विशेषीकृत संवेदना की जटिलताओं को ही ईमानदारी से निबाहिए। पिछली पीढ़ियों में यह ईमानदारी थी। वे अपनी सीमाओं से परिचित थे और अनधिकृत अतिक्रमण का लोभ संवरण कर ले जाते थे। मगर ठेठ वर्तमान का जहाँ तक सवाल है कुछेक अपवादों को छोड़कर हिन्दी कहानी का विकास एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति का शिकार होता जान पड़ता है। यहाँ न तो विशेषीकृत संवेदना की वैसी एकाग्र-संकेन्द्रित संरचनाएँ दीखती हैं, न परिवेश-संस्कारगत अस्तित्व की गहराइयों का—वैसा मन्थन ही; जबकि परिवेश की चर्चा जितनी आज होती है उतनी शायद ही पहले कभी हुई हो। संस्कारगत अस्तित्व की गहरी संघर्षशीलता के अभाव में परिवेश-चित्रण मात्र अलंकरण रह जाता है : निरी संवेदना का विलास, याकि हराम की, अनर्जित, अनधिकृत कड़वाहट—जिसके पीछे संस्कार और संवेदना के जीवनव्यापी संघर्ष की कोई सन्दर्भ-पीठिका नहीं है। जिसके पीछे रचनाकार का कोई निजी और विशिष्ट अन्तर्जगत् भी नहीं होता।

परिवेश की आत्मीय अनुभूति तो भारतीय प्रतिभा के सन्दर्भ में सहज स्वभाव-सिद्ध-सी लगती है। होनी चाहिए। किन्तु उसके निकट निरीक्षण और ऐन्द्रिक पकड़ की प्रवृत्ति अपने यहाँ के साहित्य में उतनी परिलक्षित नहीं होती। किसी-न-किसी आदर्श, दार्शनिक कल्पना, नैतिक आग्रह की आक्रान्ति के फलस्वरूप ही मानवीय चित्रण धुँधला और सुदूर-सा हो जाता है। इस धुँधलेपन और सुदूरता की विस्तृत चर्चा बाद में··· । अभी तो सिर्फ इतना ही संकेत पर्याप्त होगा कि इस धुँधलके में मानवीय उपस्थिति की सजीव तात्कालिकता क्षीण हो जाती है और रचना की संभावनाएँ, उसका उत्साह भी क्षीण होते जाते हैं। सदियों के बाद भारतीय रचनाशीलता (और हिन्दी कहानी) जिस कुण्ठा से उबरी है, अभूतपूर्व और स्पृहणीय विकास, गति के बावजूद उपर्युक्त खतरे के प्रति जागरूक रहना आवश्यक है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रासंगिकी

युवा-कविता की भाषा

प्रभातकुमार त्रिपाठी

कविता की प्रामाणिकता या उसकी रचनात्मकता पर सोचते हुए मैंने यह बात शिद्दत से महसूस की है कि शायद 'भाषा' ही वह रास्ता है जिससे गुजरकर या जिसे पहचानकर हम कविता पा सकते हैं। यह भी जान सकते हैं कि शब्दों के भीतर छिपे हुए कवि-चेहरे को, शब्दों ने गढ़ा है या अनुभव की रचनाकुलता ने। इसलिए मुझे यह भी लगा है कि कविता का महत्त्वपूर्ण होना विषय या कथ्य पर नहीं, बल्कि भाषा पर है। कवि की अनुभूति की सार्थक-अद्वितीयता और उसकी प्राण-भरी पीड़ा की पहचान उसकी भाषा ही कराती है और इसलिए यह शायद जरूरी है कि कविता की भाषा के वास्तविक मूल्य को पहचानने की कोशिश की जाए।

इस कोशिश की शुरुआत के पहले, इससे जन्म ले सकने वाली, एक संभाव्य ग़लतफ़हमी की चर्चा भी जरूरी है। ग़लतफ़हमी यह पैदा हो सकती है कि भाषा को इस प्रकार के 'उच्च-आसन' पर बिठाकर मैं शिल्पचेतना को अतिरिक्त महत्त्व देना चाहता हूँ। दरअसल भाषा को महत्त्वपूर्ण मानने के पीछे मेरा आशय, भाषा के द्वारा कविता के भीतरी रचाव को पकड़ने से है। यह पकड़, सिर्फ़ शिल्प-संचेतना की पहचान नहीं है बल्कि कवि के होने और न होने की पहचान है। अगर ऐसी कोशिश के द्वारा यह पहचान संभव नहीं हो पा रही हो, तो जाहिर है कि इस कोशिश का—भाषा पर सोचने की इस कोशिश का—नतीजा एक ऊब-भरा शास्त्रीय व्यायाम ही हो सकता है। पिछले दिनों हिन्दी की युवा-कविता की चर्चा में, यह कई बार हुआ भी है कि कविता की भाषा का मतलब, शब्दों का एक खास और स्थिर समूह ही मान लिया गया है।

कविता की भाषा कहाँ पैदा होती है—यह कह सकना कठिन है, पर इस बात को अस्वीकार कर सकना कठिन भी है, कि वह शब्दावली में पैदा नहीं होती। कवि शब्दों के सहारे कविता नहीं, बल्कि कविता के सहारे (सहारे क्यों—कविता के मारक दबाव के कारण) कुछ शब्द तलाशता है और पारस्परिक-विनिमय की सामान्य भाषा को निजी बनाने की कोशिश करता है। यह कोशिश ही कवि का वास्तविक धर्म है, इस योग के साथ कि इसमें हमेशा एक गतिशील अधूरापन है।

कवि के द्वारा शब्दों की तलाश की मूल-प्रेरणा, उसका भीतरी संसार है। अपनी तड़प, अपनी यातना और अपनी लड़ाई को कहने के लिये वह इसलिए विवश है क्योंकि वह एक 'भाषा-भरे' संसार का निवासी है। यही कारण है कि उसके भीतरी संसार की तमाम रीतियाँ 'वैयक्तिक भूमि पर सामयिक संबंधों की निर्भरताओं' (श्याम परमार) के कारण पैदा हुई हैं। कविता की भाषा के संबंध में इन 'निर्भरताओं' का महत्त्व सर्वाधिक है, पर युवा-कविता की भाषा—इन निर्भरताओं की भाषा नहीं है। अपने अधिकांश में युवा-कविता का मुहावरा एक नये किस्म की सजावट का मुहावरा है, जो सामयिक-संबंधों से विद्रूप होते जा रहे व्यक्ति जीवन की यातना को सिर्फ़ 'शब्द' बना देता है।

ऐसा क्यों हुआ है? क्या कारण है कि भाषा और भीतरी ईमानदारी के संबंध में इतनी घोषणाएँ करते रहने के बावजूद कविताएँ भोथरी और शब्द-गर्विता हो गई हैं। मैंने पहले भी कहा है कि कविता की भाषा शब्दों से नहीं प्राप्त होती, बल्कि काव्यानुभव से शब्द प्राप्त होते हैं। अगर युवा-कविता के चेहरे में आदमी की परेशानी की सलवटें उभरी हुई नहीं हैं बल्कि सलवटों के उभरे होने के भाषण हैं तो सिर्फ़ इसलिए कि अधिकांश युवा-कविता, निजी-अनुभवों की सामान्यता से प्रतिबद्ध न होकर, एक स्थिर विषय-समूह से प्रतिबद्ध है। यही कारण है कि युवालेखन की चर्चा के दौरान, संकट, अनास्था, आक्रोश, विद्रोह, अकेलापन जैसे विषय-सूचक शब्दों का प्रयोग बार-बार किया गया है। इसलिए कवि जब अपनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यातना को कहता है :

बेहद टूटते जिस्म पर गीली पट्टियों का
कोई असर नहीं होता
चेहरे के नीचे एक उस्तरा निरन्तर काटता रहता है
नाजुक हड्डियों को
अब तक किये गए आभिजात्य कर्म मात्र
चेहरे के पीले बुखार को बढ़ाते हैं

(जगदीश चतुर्वेदी)

या फिर :

मेरे भीतर उग आया है अघोरी प्यार
और बैताल का शव कंधों पर लटक गया है
एक तिलिस्मी सुरंग पर
बहती हुई नदी में मैंने छोड़ दिया है
शताब्दी का कुहराम

(मोना गुलाटी)

—तब लगता है कि कवि की तकलीफ भाषण बन गई है। सामयिक संसार की व्यर्थता से पैदा हुई भीतरी रिक्तता की पीड़ा अपनी अभिव्यक्ति के लिए इसी संसार की भाषा की माँग करती है। ऊपर की पंक्तियाँ आदमी की तकलीफ को अद्वितीयता की एक नकली भाषा में कहती हुई लगती हैं और यह भी लगता है कि उनकी भाषा में अतिरंजना का स्वर भीतरी दुनिया की अनुभवहीनता के कारण है।

ध्यान से देखा जाये तो यह बात स्पष्ट हो सकेगी कि भाषा की यह हालत कवि-प्रतिभा के नितान्त अभाव के कारण नहीं हुई है। अगर ऐसा होता तो, इस तरह की बहस की कोई जरूरत नहीं थी। इसलिए मुझे लगता है कि कविता की भाषा की समझ के अभाव से और 'विषयबद्धता' के 'दलीय-अनुशासन' के कारण ज्यादा कवि झूठ और अतिरंजना की भाषा के शिकार होते गये हैं।

आधुनिक-संवेदना आदमी के भीतरी संसार को पहचानने और कहने की प्रतिज्ञा और चुनौती को वहन करती है। आदमी का भीतरी संसार न सिर्फ़ प्यार और सुकुमारता से भरा हुआ है और न केवल उग्रता, आक्रामकता और आक्रोश से। दरअसल यह एक चालाक साधारणीकरण है कि दुनिया में तकलीफ, संत्रास, मौत और हिंसा-ही-हिंसा भरी हुई है। और अगर व्यक्तिगत अनुभव की दुनिया में इन स्थितियों को सच मान लिया जाये तो भी रचना की दुनिया इन्हें पहेली और वक्तव्य की भाषा में नहीं स्वीकारेगी। आधुनिकता की चर्चा के बहुत पहले भी जब भारतीय काव्यशास्त्री इसके सम्बन्ध में स्थायीभाव की चर्चा कर रहे थे तो उन्होंने संचारी-भावों की और भावों की आंगिक-वाचिक प्रतिक्रियाओं की कल्पना भी की थी। यह तब की बात है जबकि जीवन में आज की अपेक्षा कम जटिलताएँ थीं। आज के जटिल जीवन में कविता के मुहावरे को स्थायीभाव की कैद में डाल देना सचमुच एक दुर्घटना है।

कविता अगर इस स्थायी भाव की कैद से छूटकर मानवीय और सहज होने की कोशिश करती है तो हम पाते हैं ढेर सारे साधारण शब्दों के भीतर आदमी की वह दुनिया है, जहाँ भाषा चौंकभरी और सलवटों वाली नहीं है। केवल अभिधार्थों के ऊष्म-प्रयोग से समृद्ध और जीवन्त हो गई है।

ट्रैफिक सिगनल पर रुकी हुई भीड़ में
कहीं नहीं था
मेरे शरीर के लिए कोई अर्थ
कहीं नहीं थी वह शान्त निजी गरमी
जिसे मैं अपना प्रेम कह सकता।

(अशोक वाजपेयी)

या फिर :

अँधेरे और बारिश और हवा की तेज़ धार में
तुम्हारी देह उग आती है
चरम सान्त्वना में भीगती हुई आँखें
सुबह से ही ठहर जाती हैं
एक नन्हें चेहरे का सपना लिए
तुम्हारे स्तन काँपते हैं
चारों ओर फूलों की ढेर में तुम्हारा सुख
तूफान की तरह बेचैन हो उठता है

(दूधनाथसिंह)

अगर हम 'स्थायी-भाव' के चश्मे उतारकर ऐसी पंक्तियाँ पढ़ें तो सिर्फ़ यह कहकर इन्हें टाल सकना कठिन होगा कि ये प्रेम-सम्बन्धी रोमेण्टिक-अवधारणाओं की कविताएँ हैं। सही तो यह है कि ये 'मान्यताओं' की नहीं बल्कि अनुभव के दबाव की कविताएँ हैं। इसलिए उस संसार के व्यक्तिगत साक्षात्कार की भी कविताएँ हैं कि जिस संसार में निजी गरमी पाने का अवकाश नहीं और फिर भी जहाँ प्रेम की, मानवीयता की संभावनाएँ विद्यमान हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस तरह की कविताओं की भाषा, कविता की भाषा के एक नितान्त महत्त्वपूर्ण पक्ष की ओर संकेत करती है। वह यह कि इस भाषा के द्वारा कवि अनुभव की उपस्थिति को एक ऐन्द्रिक-सांद्रता मिलती है। कवि के निकट दुख या प्रेम अगर एक सामान्यीकृत अनुभव या निष्कर्ष है तो ज़ाहिर है कि उसकी कविता 'ऐन्द्रिक-ऊष्मा' से रहित ही होगी। इस ऐन्द्रिक-ऊष्मा या व्यक्तिगत-अनुभव के अभाव में एक दूसरा नुक़सान यह भी होता है कि कविताएँ 'प्रोज़ेइक' हो जाती हैं। हिन्दी की युवा कविता में इस 'प्रोज़ेइक-भंगिमा' के अनेक उदाहरण देखने को मिल सकते हैं। स्पष्टीकरण के लिए एक बात और कह दूँ कि 'वर्स' का अभाव ही प्रोज़ होना नहीं है—बल्कि 'पोयट्री' के अभाव के कारण ऐसा होता है।

कविता की भाषा की यह गद्य-परकता, कवि के लिए सबसे बड़ी चुनौती है। यह इसलिए एक कठिन चुनौती है कि मानवीय-अनुभव और चिन्तन के प्रत्येक क्षेत्र में 'गद्य' के इस अपरिहार्य-प्रभाव को देखा जा सकता है। इससे भागने और भागकर 'शब्दों' की शरण में जाने का रास्ता—कवि का रास्ता नहीं है—नहीं होना चाहिए। इसलिए 'गद्य' से लड़ने के लिए कुसुम रागिनी चाँदनी जैसे 'छायावादी' शब्दों की दुनिया में लौटना लड़ाई से इनकार करना है और इनके स्थानापन्न वाचाल-शब्दों की राह लेना भी क्या वही करना नहीं है? वस्तुतः भाषा को, विज्ञान या प्रविधि की गद्यमय-दुनिया से मुक्त करने के लिए—मैं दुहराना चाहूँगा—शब्द-साधना का रास्ता ही ग़लत है।

भाषा के लगातार गद्य होते जाने की इस नियति को झेलने के लिए कवि-दृष्टि और कवि-संवेदना के हथियार का ही इस्तेमाल किया जा सकता है। संभवतः भीतरी तड़प और रचनाकुशलता के द्वारा शब्दों का ऐसा सांद्र-घोल तैयार किया जा सकता है कि गद्य की उपस्थिति भी उसकी अनुपस्थिति का पर्याय हो सकती है। समर्थ कवियों ने ऐसा किया भी है। हिन्दी में मुक्तिबोध की कविताएँ—जन-कविताएँ—इसका प्रमाण है। मुक्तिबोध की काव्य-भाषा में अंतर्निहित-संवेदना शब्दों के महसूस किए जा सकने वाले गद्यपन को शोधती है। कुछ इस तरह कि मुक्तिबोध की व्याख्यात्मक-पंक्तियों की 'आलोचनात्मक-शब्दावली' तक कविताएँ हो जाती हैं। एक सोंधे महकते देशज शब्द के बिलकुल पास—एक संस्कृतनिष्ठ (या तत्सम) का शब्द बेझिझक खड़ा रहता है और भाषा की एकतानता नहीं टूटती।

कहना न होगा कि कविता की भाषा तमाम बाह्य-उपस्थितियों का—दृश्यों और वस्तुओं का—आन्तरिकीकरण करती है। इसके उदाहरण मुक्तिबोध से लेकर, कमलेश जैसे कवियों तक में देखे जा सकते हैं जिनकी कविताओं में आधुनिक-संकट की शब्दावली भले ही न हो, आधुनिक-पीड़ा की रचना ज़रूर है।

कहा जा सकता है और कई बार कहा भी गया है कि आज के आदमी की जटिल दुनिया को, सहज और सामान्य शब्दों की सपाटता में कह सकना सम्भव नहीं है। सौमित्र मोहन ने अपनी लम्बी कविता 'लुकमान-अली' के पश्चात् वक्तव्य में यह कहा भी है कि आज की दुनिया की भयावह विसंगतियों को कहने के लिए फंतासी का शिल्प ही एकमात्र रास्ता है। फंतासी के प्रयोग के औचित्य को स्वीकारना एक बात है किन्तु यह कहना कि यह एकमात्र रास्ता है, फतवा है। पर शब्दों के चौंकभरे-प्रयोगों का औचित्य सिद्ध करने के लिए अक्सर ही यह तर्क दिया गया है और पुष्टि के लिए मुक्तिबोध का नाम तो है ही।

पर क्या यह बात सच है कि शब्दों के सहज और साधारण-प्रयोगों के द्वारा आज की दुनिया की विसंगतियां नहीं कही जा सकतीं? शायद ऐसा नहीं है। कामू के उपन्यास 'आउट-साइडर' की भाषा इस तथ्य को प्रमाणित करती है। कामू के उपन्यास की सफलता का मुख्य कारण ही यही है कि इसमें 'कविता' का सार्थक उपयोग सम्भव हो सका है। ब्रेख्त के नाटकों के संबंध में भी यह बात कही जा सकती है गो कि ब्रेख्त में 'फंतासीनुमा' कौशल का ऊष्म-उपयोग भी है।

हिन्दी में रघुवीरसहाय और श्रीकांत वर्मा की कविताएं भी भाषा के रचनात्मक प्रयोग को प्रमाणित करती हैं।

लौट आओ फिर उसी खाते-पीते स्वर्ग में
पिटे हुए नेता, पिटे अनुचर बुलाते हैं
मार फड़फड़ाते हैं पंख साल-दो-साल गले बँधी घंटियां
पढ़ी-लिखी गरदनें बजाती हैं, फिर उड़ जाता है विचार
हम रह जाते हैं अधेड़
कुछ होगा, कुछ होगा अगर मैं बोलूंगा
न टूटे न टूटे तिलिस्म सत्ता का, मेरे भीतर एक कायर
टूटेगा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टूट, मेरे मन टूट एक बार सही तरह अच्छी तरह टूट
मत झूठमूठ ऊब, मत रूठ

(रघुवीरसहाय)

कई बार एक अँधेरे से निकलकर
दूसरे अँधेरे में जाने की कोशिश की
लेकिन प्रत्येक बार रुका, मुड़ा
और नहीं जानता हूँ क्यों
अपने ही बनाये हुए रास्तों को पीठ पर लाद
फिर वहाँ लौट आया
जहाँ वह निढाल पड़ी हुई थी

(श्रीकांत वर्मा)

ऊपर की पंक्तियां--दोनों ही कवियों की—अनुभव के दो भिन्न छोरों का बोध कराती हैं लेकिन एक बिंदु पर आकर वे एक हो जाती हैं। यह बिंदु है भाषा के भीतर अनुभव का नाटकीय-विन्यास। मैं दोहराना चाहता हूँ कि यह सिर्फ़ कौशल नहीं है, बल्कि सीधा साक्षात्कार है। यह आकस्मिक नहीं है कि ये कविताएँ अतिरंजना-धर्मी शब्दों की कविताएँ नहीं हैं बल्कि भीतरी छटपटाहट को एक्शन में—भाषा के एक्शन में पकड़ सकने वाली ऊष्म-कवि-पंक्तियाँ हैं।

युवा-कविता में कवि की सार्थक उपस्थिति को पाने के लिए, भाषा में विन्यस्त कवि-संवेदना की पहचान और पकड़ जरूरी है। अगर इस तरह की कोशिश की जाए तो लगेगा कि मुक्तिबोध की फंतासी से लेकर रघुवीरसहाय की 'अखबारनवीसी' और श्रीकांत वर्मा की नाटकीय-विदग्ध-उक्तियों से लेकर अशोक वाजपेयी के 'फूल' से शब्दों तक में खरी संवेदना का प्रवाह है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यांकन

नयी कविता : शोधक, बोधक, अवरोधक ?

प्रेमकान्त टण्डन

पिछले लगभग दो दशकों के बीच हिन्दी काव्य में जो नयी प्रवृत्तियाँ विकसित होती रही हैं उनके सम्बन्ध में सोचने और लिखने वालों में डॉ० जगदीश गुप्त का प्रमुख स्थान है। 'नयी कविता' के विविध अंकों के सम्पादकीय आदि के माध्यम से डॉ० गुप्त ने इस विषय पर जितना लिखा है उतना संभवत: किसी अन्य लेखक-विचारक ने नहीं लिखा। 'नयी कविता : स्वरूप और समस्याएँ'[1] नामक सद्य:प्रकाशित उनका ग्रन्थ उनके इसी चिंतन एवं लेखन का परिणाम है। विवेच्य कृति में लेखक के ३२ फुटकर निबंध संकलित हैं, जो जहाँ तक हम समझते हैं, 'नयी कविता' के प्रथम अंक के प्रकाशन वर्ष (सन् १९५४) से सन् १९६७ के बीच समय-समय पर लिखे गए हैं। संकलित प्राय: सभी निबंध किसी-न-किसी पत्रिका में पहले ही प्रकाशित हो चुके हैं, अत: इस दृष्टि से पुस्तक में नया कुछ नहीं है। इतना अवश्य है कि संभवत: भारतीय ज्ञानपीठ के अन्य प्रकाशनों, जैसे 'विवेक के रंग', 'साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य' आदि से प्रेरणा ग्रहण करके इस पुस्तक में भी निबंधों को 'जीवन दृष्टि', 'तात्त्विक आधार', 'प्रतिवाद', 'प्रस्थापना', 'मूल्यांकन' और 'पूर्वापर'—इन छ: प्रधान शीर्षकों के अंतर्गत वर्गीकृत करके प्रस्तुत किया गया है।

इसके पूर्व कि निबंधों पर किसी प्रकार की चर्चा की जाय, ग्रंथ के प्रारम्भ में 'पुरोवाक्' स्वरूप 'नयी कविता और मैं' शीर्षक दस पृष्ठीय वक्तव्य में लेखक के द्वारा कही गई कुछ बातें विचारणीय हैं। उदाहरण के लिए :

" 'नयी कविता' अपने प्रकाशन-वर्ष १९५४ ई० से वर्तमान समय तक यानी लगभग दो-ढाई दशक में···।"

—इस वाक्यांश में सन् १९५४ से अब तक के कालखण्ड को 'दो-ढाई दशक' कहा गया है। प्रस्तुत कालखण्ड 'दो-ढाई दशक' का नहीं, सिर्फ डेढ़-दशक का है। व्यवहार में इसे डेढ़-दो दशक कहा जा सकता है। 'नयी कविता' की प्राचीनता सिद्ध करने का यह प्रयास किस उद्देश्य से प्रेरित है, यह स्पष्ट नहीं हो सका।

आगे डॉ० गुप्त का कथन है : "···मेरे कुछ निकटतम मित्र···मन-ही-मन शंकित हो उठे कि इस भक्ति-काव्य के शोधक और रीति-काव्य के बोधक द्वारा नयी कविता के इतने बड़े काव्यान्दोलन की बागडोर सँभलेगी भी। यह 'कपट-मुनि' तो नहीं है। ताकुला में जो साहित्यिक शिविर···आयोजित किया गया था···, नयी कविता की चर्चा से आपूरित था।··· 'नयी कविता' का सम्पादन मैं करूँ यह प्रस्ताव भारती का था।"

इस विषय में जानकार लोगों (जो ताकुला के उक्त शिविर में सम्मिलित हुए थे) का कहना है कि शिविर में नयी कविता का प्रसंग कभी-कभार आनुषंगिक रूप से भले ही आ गया हो, आयोजन के अंग के रूप में नयी कविता की कोई चर्चा वहाँ नहीं हुई। शिविर यदि वस्तुत: किसी विशिष्ट प्रसंग में उस अर्थ में आपूरित कहा जा सकता है तो वह था मामा वरेरकर से सम्बद्ध प्रसंग जो निरन्तर किसी-न-किसी रूप में चर्चा का विषय बना रहा। जहाँ तक डॉ० गुप्त को 'नयी कविता' के सम्पादन का दायित्व दिये जाने का प्रश्न है, यहाँ यह उल्लेख करना प्रासंगिक है कि 'राजकमल' से 'नयी कविता' के प्रकाशन की योजना मूलत: 'आलोचना' के तत्कालीन सम्पादक-मण्डल की एक बैठक में बनी थी जो उस बार भारतीजी के निवास-स्थान पर आयोजित थी और जिसमें 'आलोचना' के प्रकाशक श्री ओमप्रकाश भी उपस्थित थे। 'आलोचना' के सम्पादकों के अतिरिक्त 'परिमल' के अन्य सक्रिय सदस्य उस समय किसी-न-किसी 'प्रायोजना' अथवा पत्रिका के संपादन में व्यस्त थे जबकि डॉ० गुप्त के

१. नयी कविता : स्वरूप और समस्याएँ : लेखक—डा० जगदीश गुप्त, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, पृ० संख्या ४०८, मूल्य दस रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पास संयोगवश कुछ अवकाश था, इसलिए 'नयी कविता' के संपादन का कार्य उन्हें ही दे दिया गया था। लेकिन 'कपट-मुनि' पर लोगों को वस्तुतः संदेह था इसलिए 'परिमल' के सदस्य एक ओर तो 'नयी कविता' की समस्त गतिविधियों का पार्श्व-संचालन करते रहे और दूसरी ओर 'नयी कविता' के संपादक के रूप में किसी एक अन्य सदस्य को भी डॉ० गुप्त के साथ निरन्तर रखते रहे। वस्तुस्थिति के स्पष्टीकरण के लिए इतना लिखना पर्याप्त है।

अब आइये निबंधों पर।

'जीवन दृष्टि' के अन्तर्गत संकलित 'मानव-मूल्य और साहित्य' शीर्षक निबंध पुस्तक का पहला निबंध है और कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। इसमें मानव मूल्य विषयक भारतीय और पाश्चात्य अवधारणाओं का संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित विवेचन करने के अनंतर डॉ० गुप्त ने मानव-मूल्य की जो सटीक तात्त्विक परिभाषा प्रस्तुत की है उसे डॉ० गुप्त के समग्र चिन्तन की एक उपलब्धि के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। साहित्यिक मूल्य और मानव-मूल्य तत्त्वतः अभिन्न हैं, अतः साहित्यकार के निकट समादरणीय हैं—उनका यह निष्कर्ष भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

'नयी कविता : नये मनुष्य की प्रतिष्ठा' शीर्षक निबंध में नयी कविता के उद्देश्य और नये मनुष्य की कतिपय विशिष्टताओं का निदर्शन है। लेखक का कथन है : "अगर कवि के आत्मरंजन, भावाभिव्यक्ति एवं संवेदन-संप्रेषण के अतिरिक्त कविता का कोई इतर उद्देश्य हो सकता है, और मैं समझता हूँ कि हो सकता है तो कहना होगा कि ऐसे मनुष्य की प्रतिष्ठा करना ही नयी कविता का उद्देश्य है।"

(पृ० ३६)

परन्तु 'मानव-मूल्य और साहित्य' के अन्तर्गत कलाकृति के उद्देश्य के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए लेखक यह कह आए हैं कि 'कलाकृति की सार्थकता मुख्यतया इसमें है कि वह अपने जीवन्त सम्पर्क में अनुभूतशील व्यक्ति की सुप्त अथवा अव्यक्त संवेदनाओं को जागृत और व्यक्त होने की स्थिति उत्पन्न कर दे।" (पृष्ठ २२)

कविता अथवा कलाकृति के उद्देश्य के विषय में डॉ० गुप्त की चाहे जो मान्यता हो, यहाँ जो कथन नयी कविता और कलाकृति के विषय में किये गए हैं उनमें संगति बैठाना कठिन है। या तो नयी कविता कलाकृति नहीं है, या भावाभिव्यक्ति और अव्यक्त संवेदनाओं को जागृत करने के अतिरिक्त उसका कोई उद्देश्य नहीं है।

यह सुविदित है कि किसी नवीन काव्यधारा की प्रतिष्ठा अथवा किसी नये काव्य-सिद्धान्त के प्रतिपादन के निमित्त उसके तात्त्विक आधारों, परम्परागत सिद्धान्तों के प्रतिवाद और नई दृष्टि की प्रस्थापना का महत्त्व सर्वाधिक हुआ करता है। विवेच्य कृति में क्रमशः 'तात्त्विक आधार', 'प्रतिवाद' और 'प्रस्थापना' शीर्षक वर्गों के अन्तर्गत संकलित निबन्धों का इस दृष्टि से अपना महत्त्व है।

'तात्त्विक आधार' के अन्तर्गत सर्वप्रथम काव्य-बिम्ब पर चर्चा की गई है। संस्कृत काव्यशास्त्र में बिम्ब विषयक खोज करते हुए डॉ० गुप्त इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि भारतीय काव्यशास्त्र में 'बिम्ब' का निकटवर्ती शब्द 'अर्थचित्र' है। थोड़ा आश्चर्य होता है कि 'रस-पाश' से मुक्ति के लिए सतत् प्रयत्नशील डॉ० गुप्त को यह चिन्ता क्यों सताने लगी है कि "यदि 'बिम्ब' कविता के सन्दर्भ में इतनी महत्ता रखता है, तो काव्य का सूक्ष्म तात्त्विक विश्लेषण करनेवाले इस देश के प्राचीन आचार्यों की दृष्टि से वह ओझल कैसे हो गया…।" डॉ० गुप्त की इस चिन्ता को संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रति अतिरिक्त आसक्ति ही कहा जाएगा। ज्ञातव्य है कि 'बिम्ब' एक आधुनिक पाश्चात्य अवधारणा है; इसके लिए प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र में कोई समानार्थी शब्द ढूँढ निकालने का आग्रह बिल्कुल असंगत है। और यदि किसी को काव्यशास्त्र और काव्यशास्त्रीय शब्दावली में आसक्ति है ही तो 'अर्थचित्र' को ही 'बिम्ब' का एकमात्र निकटवर्ती शब्द क्यों माना जाए? 'शब्दचित्र' उसका निकटवर्ती क्यों नहीं हो सकता, विशेषकर तब जबकि ल्युइस ने भी अपनी पुस्तक 'द पोइटिक इमेज' में बिम्ब के लिए 'शब्दचित्र' पद का प्रयोग किया है और डॉ० गुप्त ने ल्युइस की बिम्ब-विषयक मान्यताओं का समर्थनपरक विवेचन भी प्रस्तुत निबन्ध में किया है? वास्तव में बिम्ब के लिए काव्यशास्त्र में कोई निकटवर्ती शब्द ढूंढ़ना निरर्थक है, मूल वस्तु है अन्तर्निहित दृष्टि और बिम्ब की अवधारणा में अन्तर्निहित दृष्टि भारतीय काव्यशास्त्र में व्यापक स्तर पर लक्षित की जा सकती है। 'सादृश्य' बिम्ब का मूल तत्त्व है; इस विशिष्ट तत्त्व को किसी काव्य-कोटि विशेष में सीमित कर देना उचित नहीं है। अनवरत अर्थानुरणन में सक्षम अनुभूत वस्तु का 'विविड' प्रत्यक्षीकरण—हमारी समझ में यही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिम्ब है, और इसकी व्याप्ति अलंकार से लेकर ध्वनि तक लक्षित की जा सकती है। रूप और अर्थ के तत्त्व भी इसमें समाविष्ट हो जाते हैं।

निबन्ध के दूसरे अंश में लेखक ने पाश्चात्य बिम्ब-आन्दोलन का सिंहावलोकन करते हुए ल्युइस की बिम्ब विषयक मान्यताओं का स्पष्ट और सरल निदर्शन किया है। अगला निबन्ध है 'अर्थ की लय'। इस निबन्ध के कुछ प्रमुख निष्कर्ष इस प्रकार हैं :

१. " 'अर्थ की लय' का प्रश्न नई कविता के रूप-विधान से सम्बन्ध रखता है।"

२. "शब्दार्थमयी कविता का इस लय तत्त्व से जन्मजात सम्बन्ध है जो मूलतः इतना घनीभूत एवं व्यापक है कि लय को कविता का एक अनिवार्य अंग स्वीकार किए बिना उसके स्वरूप की व्याख्या करना कठिन होता है।"

३. "कविता में···भावनाओं की लय प्रकारान्तर से अभिव्यक्त होकर 'अर्थ की लय' का रूप धारण कर लेती है।"

निबन्ध में 'अर्थ की लय' विषयक विवेचन का प्रारम्भ इस प्रकार होता है :

" 'शब्द' और 'अर्थ' तत्त्वतः पृथक सत्ता रखते हैं। संगीत में शुद्ध 'शब्द' ध्वनि एवं नाद रूप में ग्रहीत होता है—अर्थ से असम्पृक्त, निरपेक्ष। इसी प्रकार लिपि में तथा अन्य संकेत-विधियों में 'अर्थ' शब्द-निरपेक्ष होकर अवतरित होता है। शब्द श्रवणीय है; अर्थ बुद्धि-ग्राह्य। वाणी एवं साहित्य में ही आकर शब्द और अर्थ दोनों **अन्योन्याश्रित, असम्पृक्त** तथा **अभिन्न** अवस्था प्राप्त करते हैं।" (पृ० ८५)

अन्तिम से ऊपर वाक्यों में जो मान्यता प्रस्तुत की गई है, बिल्कुल निराधार है, क्योंकि शब्द और अर्थ का वही सम्बन्ध नहीं है जो शब्द और लिपि का है। शब्द लिपि के बिना भी सम्पूर्ण, समग्र और स्वायत्त है, पर अर्थ के अभाव में शब्द, शब्द नहीं रह जाएगा, ध्वनि हो तो हो। अर्थ के बिना शब्द की कल्पना ही असंगत है। इसी प्रकार, संगीत के संदर्भ में 'शब्द' का प्रयोग उचित नहीं है। संगीत का उपकरण 'स्वर' है, 'स्वर' ही उसमें नाद रूप में गृहीत होता है, शब्द नहीं। और, 'शुद्ध शब्द' से लेखक का क्या आशय है, यह भी स्पष्ट नहीं है। वास्तव में, प्रस्तुत उद्धरण में शब्द, लिपि और अर्थ को लेकर जो विभ्रम की स्थिति है, वह व्याकरण, भाषा-विज्ञान और एक माने में भाषा की प्रक्रिया मात्र से लेखक के अपरिचय की द्योतक है।

उद्धरण के अन्तिम वाक्य के विषय में क्या कहा जाए! —हमारे निकट तो वह एक रहस्य बना हुआ है। हमें इसमें अनुभव की किसी विलक्षण स्थिति की झलक मिल रही है। आचार्य गुप्त ही कभी इसका स्पष्टीकरण कर हमें अनुगृहीत करें कि जीवनानुभव की वह कौन-सी स्थिति है जो अन्योन्याश्रित होते हुए भी असम्पृक्त है; साधना की वह कौन-सी विलक्षण भावभूमि है जो असम्पृक्त होते हुए भी अभिन्न है?

वाणी और साहित्य में शब्द और अर्थ की अन्योन्याश्रित, अभिन्न स्थिति लेखक को भी मान्य है। इसका तात्पर्य यह है कि कविता में भी वे शब्द और अर्थ की अभिन्न स्थिति स्वीकार करते हैं। परन्तु जब एक बार शब्द और अर्थ की अभिन्न स्थिति स्वीकार कर ली गई है, तब शब्द से असम्पृक्त, उससे सर्वथा स्वतंत्र 'अर्थ की लय' का क्या अर्थ है? लय तत्त्व काव्य का अन्तर्निहित अनिवार्य तत्त्व है, इस अर्थ में कि लय कवि-मानस में भावावेग के रूप में स्वतःस्फूर्त होती है और कवि उसके माध्यम से जीवनानुभव की पुनः सर्जना करता है। यह एक सहज स्वीकृत लक्ष्य है और इसके लिए दुनिया भर के प्रमाण जुटाने की आवश्यकता नहीं है। और, काव्य क्या, भाषा मात्र में लय-तत्त्व सुलभ है; पर उसका निर्धारण और विवेचन शब्दार्थ समवेत के आधार पर किया जाता है। भावों के अनुरूप विशिष्ट छन्दों के प्रयोग की मान्यता काफी पुरानी है। ऐसी स्थिति में 'शब्दार्थमयी कविता' में अन्तर्निहित लय-तत्त्व को यदि कोई सार्थक और समुचित संज्ञा दी जा सकती है तो वह संज्ञा 'काव्य की लय' हो सकती है, 'अर्थ की लय' नहीं, क्योंकि काव्य में लय-तत्त्व केवल अर्थाश्रित नहीं है, वह शब्दार्थ समवेत की लय है; और इस दृष्टि से लय-तत्त्व का सम्बन्ध कविता के रूप-विधान मात्र से नहीं, कविता की शब्दार्थ संयुक्त सम्पूर्ण रचना-प्रक्रिया से है। 'अर्थ की लय' की कल्पना बिल्कुल असंगत, निराधार और भ्रामक है।

निबन्ध के अन्त में विद्वान लेखक ने 'अर्थ की लय' का बोध कराने के लिए कुछ उद्धरण यह कहकर दिए हैं कि "बहुत-से कुशाग्र-बुद्धि व्यक्तियों के आगे बात तब तक स्पष्ट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं होती जब तक उन्हें उदाहरण देकर न समझाया जाय।" उद्धरणों में से दो, सुधी पाठकों के अवलोकनार्थ नीचे दिए जा रहे हैं :

१. अर्थ की लय से हीन पद्य

बंजर बुन्देली धरती पर केन किनारे,
कालिंजर का दुर्ग नहीं है दूर जहाँ से,
कोसल जन-संस्कृति के अंचल की सीमा पर
चित्रकूट की छाया में यह नगर बसा है।

२. अर्थ की लय से युक्त पद्य

रात का बन्द नीलम किवाड़ा डुला,
लो क्षितिज छोर पर देव मन्दिर खुला,
हर नगर झिलमिला, हर डगर को खिला,
हर बटोही जिला, ज्योति प्लावन चला;

यहाँ पर लेखक द्वारा 'पद्य' शब्द का प्रयोग कविता और पद्य के मान्य अन्तर को भी अकारण विभ्रमित कर देता है जो एक आचार्य विश्लेषक की शैली में निश्चय ही खटकने वाली बात है, पर यह दूसरा प्रसंग है। 'अर्थ की लय' का बोध कराने के निमित्त लेखक के सतत् सात्विक प्रयत्नों के बावजूद भी हम यह समझने में बिल्कुल असमर्थ रहे हैं कि उक्त दोनों उद्धरणों में लय की दृष्टि से क्या अन्तर है? अब हम इसका निर्णय सुधी पाठकों पर ही छोड़ते हैं कि यदि उद्धरणों का क्रम उलट दिया जाए तो क्या कोई अन्तर पड़ेगा? स्मरणीय है कि डॉ० गुप्त ने इन उद्धरणों का विश्लेषण करके यह बताने का कष्ट नहीं उठाया कि एक में 'अर्थ की लय' क्यों और कहाँ नहीं है और दूसरे में क्यों और कहाँ है!

'रसानुभूति और सह-अनुभूति' शीर्षक अगले निबंध के अंतर्गत परिवर्तातित युगीन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में 'रसानुभूति' के समकक्ष 'सह-अनुभूति' की प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में लेखक का कथन है : "नयी कविता भी ऐसी ही विधा में विश्वास रखती है जो प्रज्ञा को विचलित किये बिना विवेक की जागृत अवस्था में भावक को यथार्थ अनुभूति के तल तक पहुँचा देने की क्षमता रखती हो। यही विधा काव्यशास्त्रोक्त 'रसानुभूति' से नयी कविता की भावानुभूति को मूलतः पृथक् कर देती है। 'रसानुभूति' के समकक्ष इसे 'सह-अनुभूति' की संज्ञा दी जा सकती है क्योंकि इसमें रसानुभूति की तरह व्यक्तित्व और विवेक का परिहार होना आवश्यक नहीं है।" (पृ० ६५)

प्रसंगवश यहाँ यह उल्लेख कर देना चाहिए कि डॉ० नगेन्द्र 'रस-सिद्धान्त' नामक अपने विषय की प्रसिद्ध और प्रामाणिक कृति में लेखक के उक्त कथन तथा अन्य सम्बद्ध कथनों की निस्सारता का निर्भ्रान्ति निदर्शन अपने ढंग से कर चुके हैं। (द्रष्टव्य, 'रस-सिद्धान्त', पृ० ३४६-४८)

इस सम्बन्ध में दो बातें विशेष रूप से ध्यान देने की हैं : एक तो यह कि रसमय काव्य व्यक्ति (भावक) को शिथिल, निष्क्रिय अथवा अकर्मण्य नहीं बनाता। व्यक्ति सत्ता के लोप और विवेक के परिहार की स्थिति काव्यानुभूति के परिपाक के क्षण-विशेष—रसानुभूति की स्थिति—में ही आती है, न उसके पहले, न उसके बाद। काव्य के माध्यम से व्यक्ति और समाज के विविध संदर्भों के प्रति भावक की जागरूकता और सक्रियता की सिद्धि अपरोक्ष रूप से बराबर होती रही है, चाहे वह काव्य तुलसी का रामचरितमानस रहा हो चाहे रघुवीर सहाय की कविता। यदि ऐसा न होता तो रससिद्ध कवीश्वर बिहारी के रसमय दोहे ने मिर्ज़ा राजा जयसिंह को अपने कर्त्तव्य के प्रति सचेत न किया होता। दूसरी बात यह है कि रसानुभूति और सह-अनूभूति परस्पर विरोधी अनुभूतियाँ नहीं हैं। वस्तुतः ये एक ही अनुभूति की दो सरणियाँ मात्र हैं : झटिति प्रत्यय रसानुभूति परिपाक की स्थिति है और सह-अनुभूति उसके पहले की, किन्तु अनिवार्य स्थिति है। सह-अनुभूति तीव्र और गहन होकर रसानुभूति में परिणत हो जाती है जो अनिवार्यतः आनन्दलक्षणीय है। अतः सह-अनुभूति रसानुभूति की प्रक्रिया में अंतर्भुक्त है। बल्कि रसानुभूति तो इस बात का निश्चित प्रमाण है कि सह-अनुभूति की स्थिति पूरी गहराई के के साथ घटित हुई और उसने भावक को यथार्थ अनुभूति के तल तक पहुँचा दिया है। इलियट ने अपने प्रसिद्ध निबंध 'द म्यूज़िक ऑव पोइट्री' में लिखा है : "If we are moved by a poem, it has meant something, perhaps something important, to us; if we are not moved, then it is, as poetry, meaningless."

'नयी कविता में रस और बौद्धिकता' शीर्षक निबंध में लेखक का कथन है : "नयी' कविता बौद्धिकता की छाया में विकस रही है, अतः उसमें एक अंतर्निहित आलोचनात्मकता मिलती है : यथार्थ चित्रण का आग्रह, सूक्ष्म व्यंग्य तथा शैली-गत वैचित्र्य एवं नये-नये अर्थों को ध्वनित करने वाला अभिनव प्रतीक-विधान आदि जिन्हें नयी कविता की प्रमुख विशेषताएँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहा जा सकता है, सभी के पीछे प्रेरणा का बुद्धिगत रूप स्पष्ट झलकता है।" (पृ० १०२)

यह देखकर आश्चर्य होता है कि 'सह-अनुभूति का बार-बार उद्घोष करने वाले डॉ० गुप्त नयी कविता के संदर्भ में बौद्धिकता की वकालत कर रहे हैं। यही नहीं, विवेच्य कृति में संकलित निबंधों में उन्होंने कविता के विषय में यत्र-तत्र जो कथन किये हैं, वे भी इस दृष्टि से रोचक हैं। कुछ उद्धरण इस प्रकार हैं—

(१) वह (कविता) मनुष्य के भावसंवलित, संवेदना-पूर्ण एवं आवेगयुक्त विशिष्ट क्षणों में ही बीज रूप से जन्म लेती है। (पृ० ८६)

(२) कविता मानव-हृदय की गहराई और भाव-संवेगों की, विशिष्ट क्षणों में आन्तरिक रूप से परिचालित, गति का प्रतिफलन है। (पृष्ठ ८६)

(३) नयी कविता ने···भावाभिव्यक्ति के अनेक द्वार खोल दिए। (पृ० १०६)

(४) नयी कविता भावना को बिना किसी आडम्बर के सीधे शुद्ध रूप में व्यक्त करने पर आग्रह करती है। (पृ० १६०)

डॉ० गुप्त ने 'कविता क्या है' जैसे मूलभूत प्रश्न को एक बार पुनः उठाकर कविता की परिभाषा इस प्रकार दी है :

"कविता सहज आन्तरिक अनुशासन से युक्त वह अनुभूतिजन्य सघन लयात्मक शब्द है, जिसमें सह-अनुभूति उत्पन्न करने की यथेष्ट क्षमता निहित रहती है।" (पृष्ठ ११६)

इस सम्बन्ध में हम अपनी ओर से कुछ न कहकर समर्थ आलोचक डॉ० नामवरसिंह के कुछ सम्बद्ध वाक्य उद्धृत कर रहे हैं जिनसे हमारे मन्तव्य की पुष्टि होती है :

(१) "ध्यान देने की बात है कि यह परिभाषा 'नयी कविता' के संदर्भ में प्रस्तुत की गई है और परिभाषाकार 'नयी कविता' के एक प्रवक्ता ही नहीं, बल्कि स्वयं नये कवि भी हैं। ···इसमें ऐसी कौन-सी नयी बात है जो किसी पूर्ववर्ती परिभाषा में सुलभ नहीं है? ···ऊपर-ऊपर से नया भाव-बोध ओढ़े रहने वाले जब 'कविता क्या है' जैसा बुनियादी सवाल उठाते हैं तो अपने उत्तर में अनजाने ही पुरानी बात दोहराते पाए जाते हैं।" (कविता के नये प्रतिमान, पृ० १८)

(२) "डॉ० जगदीश गुप्त और डॉ० नगेन्द्र दोनों ने कविता के एक ही मूल तत्त्व का सहारा लिया और वह तत्त्व है 'अनुभूति' जिसे काव्य-चर्चा में प्रचलित करने का श्रेय छायावाद को है।" (वही, पृ० २०)

विवेच्य कृति में इस प्रकार की चिंतन-विसंगतियाँ अनेक स्थलों पर सुलभ हैं, पर हमें दुख इस बात का है कि लेखक ने जिन मुन्शी लक्ष्मीकान्त वर्मा को विवेच्य कृति समर्पित की है और जिन्हें वे "नयी कविता की प्रमुख संवेदना के एक विशेष रूप का प्रतिनिधि कवि" मानते हैं, उनके भी एतद्विषयक मत की उपेक्षा कर दी है। लक्ष्मीकान्तजी का निर्भ्रान्त मत है—

१. "काव्यानुभूति की पहली शर्त उसकी रागात्मकता है।" (क ख ग, अंक १३, पृ० ५०)

२. "कविता आत्मपरक अनुभूति की रागात्मक अभिव्यक्ति है।" (नई कविता के प्रतिमान, पृ० १६४)

अब आइये 'प्रतिवाद' वर्ग के निबन्धों पर। पहले दो निबन्ध 'रससिद्धान्त अथवा सिद्धरस का अन्त' और 'साधारणीकरण और कवि की अनुभूति', डॉ० नगेन्द्र की 'रस-सिद्धान्त' नामक कृति की समीक्षा के रूप में लिखे गए थे। लेखक को डॉ० नगेन्द्र द्वारा किए गए 'काव्य में कवि की अनुभूति से स्वतंत्र वस्तु-तत्त्व के आत्यन्तिक निषेध' पर आपत्ति है। डॉ० गुप्त काव्य में वस्तु-तत्त्व की सत्ता की स्वीकृति के पक्षपाती हैं और अपने इस पक्षाग्रह से प्रेरित होकर उन्होंने एक बात और कही है : "मेरे विचार से रस के प्रसंग में 'कवि की अनुभूति का साधारणीकरण' के स्थान पर 'काव्यानुभूति का साधारणीकरण' कहना अधिक उपयुक्त है।" (पृ० १६५)

हम अपने एक निबन्ध ('साधारणीकरण सिद्धान्त और डॉ० नगेन्द्र का दृष्टिकोण', हिन्दी अनुशीलन, वर्ष १६ : अंक १) में डॉ० गुप्त की उपर्युक्त मान्यताओं की निस्सारता का निदर्शन कर चुके हैं। यहाँ उक्त निबन्ध के सम्बद्ध अंश को पुनः उद्धृत कर रहे हैं : "डॉ० नगेन्द्र का मत है कि एक ही विषय से संबंधित, एक ही काव्य-प्रसंग में जहाँ वही विभावादि परस्पर भिन्न और विरोधी रूपों में उपस्थित होते हैं, वहाँ उनकी विषयगतता का क्या महत्त्व हो सकता है। उदाहरण के लिए, रामचरित से सम्बन्धित काव्य अथवा नाटकों में सीता कहीं राम की पत्नी के रूप में प्रस्तुत की गई हैं, कहीं उनकी भगिनी के रूप में और कहीं रावण की भगिनी या पुत्री के रूप में। इसके अतिरिक्त, जनकवाटिका आदि के प्रसंग कहीं हैं, और कहीं वे प्रसंग ही नहीं हैं; तुलसी यदि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राम के प्रति श्रद्धाभाव रखते हैं और रावण के प्रति घृणा-भाव तो माइकेल को रावण से सहानुभूति है···। इन परस्पर विषम या नितान्त प्रतिकूल परिस्थितियों में क्या साधारणीकरण-व्यापार सम्पन्न नहीं होता ?—यदि सम्पन्न होता है तो वस्तु की वस्तुगतता अथवा विषय की विषयगतता का क्या अर्थ रह जाता है ? इसलिए काव्य में कवि की अनुभूति से स्वतंत्र, वस्तु के लिए कोई स्थान नहीं है। सम्पूर्ण काव्य-प्रसंग वस्तुतः कवि की सर्जनात्मक अनुभूति का ही बिम्ब मात्र है। काव्य-प्रसंग तो अपने-आपमें 'जड़-वस्तु' है, उसका चैतन्य अंश है 'अर्थ' और यह कवि के संवेद्य से इतर कुछ नहीं है।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि कवि की अनुभूति से स्वतंत्र, वस्तु-तत्त्व की सत्ता का पूर्ण निषेध सिद्ध हो जाने पर काव्यानुभूति के साधारणीकरण का विकल्प स्वतः असिद्ध हो जाता है।

डॉ० गुप्त ने डॉ० नगेन्द्र द्वारा स्वीकृत सौन्दर्य-चेतना के 'प्रीति' अथवा 'आनन्द' और 'विस्मय' नामक योजक तत्त्वों के अतिरिक्त 'विश्रान्ति' नामक एक अन्य तत्त्व भी प्रस्तावित किया है : "'विश्रान्ति' भी उसका एक योजक-तत्त्व हो सकती है इस ओर उन्होंने दृष्टिपात नहीं किया···। 'विश्रान्ति' और 'आनन्द में' में इतना भेद है कि शैवकला दृष्टि ने एक स्तर पर विश्रान्ति उत्पन्न करने वाली कला को कला ही नहीं माना, केवल उसी को परा कला बताया जो आत्मा को परमानन्द में लीन कर दे।" (पृ० १४०)

जिस प्रसिद्ध संस्कृत श्लोक के आधार पर यहाँ 'विश्रान्ति' की प्रतिष्ठा की जा रही है, वह यह है—

विश्रान्तिर्यस्याः सम्भोगे सा कला न कला मता।
लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला ।।

किसी कला-मर्मज्ञ के द्वारा प्रस्तुत श्लोक का इतना अनर्गल अर्थ किया जाना वास्तव में उसके लिए लज्जा का विषय है। श्लोक में 'विश्रान्ति' शब्द 'रिपोज़' के अर्थ में प्रयुक्त नहीं है, उसका आशय 'ध्येय' अथवा 'डेस्टिनेशन' है, जिसके अनुसार श्लोक की प्रथम पंक्ति का सीधा अर्थ होगा : जिस कला का ध्येय संभोग (अर्थात् भोग-विलास) है, वह कला, कला नहीं है।

और, 'रिपोज' के अर्थ में 'विश्रान्ति' के विषय में तो प्रख्यात मनीषी नोली का स्पष्ट मत है : "In aesthetic language, VISRANTI denotes...the fact of being absorbed in the aesthetic object and the sensation of pleasure sui generis which accompanies that state of consciousness." (एस्थेटिक् एक्सपीरिएंस एकार्डिंग टु अभिनव गुप्त, पृ० ५६)

इस प्रकार, दोनों दृष्टियों से डॉ० गुप्त का 'विश्रान्ति' विषयक प्रस्ताव भ्रामक सिद्ध हो जाता है।

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि 'नये सौन्दर्यबोध' के तथाकथित प्रस्तावक और पोषक डॉ० गुप्त 'आनन्द' और 'विस्मय' के अतिरिक्त और कोई प्रामाणिक तत्त्व सौन्दर्य-चेतना के योजक-तत्त्व के रूप में प्रस्तुत नहीं कर सके। हम यह बलपूर्वक कह सकने की स्थिति में हैं कि जब तक ये ही दोनों तत्त्व सौन्दर्य-चेतना के योजक-तत्त्वों के रूप में गृहीत किये जाते हैं तब तक सौन्दर्य-बोध मात्र को अनिवार्यतः आनन्द लक्षणीय ही मानना पड़ेगा।

'प्रतिवाद' वर्ग के शेष दो निबन्ध तथा अगले वर्ग 'प्रस्थापना' के अंतिम निबन्ध को छोड़कर सभी निबन्ध सामान्य कोटि के हैं। इनके अंतर्गत नई कविता के विविध पक्षों के सम्बन्ध में प्रायः वे ही बातें एक प्रकार से दोहरा दी गई हैं जो नयी कविता के विषय में सामान्यतः कही जाती हैं। 'प्रस्थापना' वर्ग का अन्तिम निबन्ध 'नयी कविता : किसिम-किसिम की कविता' उल्लेखनीय है, विशेषकर इस दृष्टि से कि इसमें लेखक नयी कविता को विकसनशील काव्य-प्रवृत्तियों से जोड़ने के लिए आतुर दिखाई देता है।

प्रस्तुत निबन्ध ६५ पृष्ठों का एक लम्बा निबन्ध है। लेखक ने इसमें कविता के उन लगभग चार दर्जन नामों को सूचीबद्ध करने की चेष्टा की है जो "पिछले तीन-चार वर्षों में बहुधा समानान्तर प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं एवं संग्रह-संकलनों में इधर-उधर नुमायाँ हुए हैं।" नयी कविता के समकक्ष समकालीन काव्य का इन अनेक नाम-रूपों में उपस्थित होना डॉ० गुप्त को सम्भवतः सहन नहीं हो सका। इसलिए डॉ० गुप्त ने यथासम्भव प्रत्येक नाम और उसके प्रस्तावक पर वज्रप्रहार करते हुए एक ओर तो उसकी घोर भर्त्सना की है और दूसरी ओर प्रत्येक इतर प्रवृत्ति को नयी कविता का ही एक रूप मानकर उसे नयी कविता के साथ जोड़ने की भरपूर चेष्टा भी की है। डॉ० गुप्त का यह प्रयास सोद्देश्य है, हमें ऐसा लगता है। हमारा अनुमान है कि जिस 'नवीनता' के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधार पर कविता को परम्परा से काटकर नई कविता की प्रतिष्ठा की गई थी, उसका आकर्षण अब धुँधला पड़ गया है, नयी कविता के स्वघोषित आचार्य अब उससे काफ़ी ऊब चुके हैं जिसके परिणामस्वरूप डॉ० गुप्त, जिनका आचार्यत्व नयी कविता-आन्दोलन के पहले चरण के साथ अब समाप्त हो रहा है, एक ओर यह कहकर कि "उसने (नयी कविता ने) अपनी उदार बाँहें फैलाकर प्रगतिवाद और प्रयोगवाद दोनों की यथार्थोन्मुखी चेतना को उन्मुक्त हृदय से अपने में समाहित कर लिया।" (पृष्ठ ४२) और नयी कविता के नाम पर 'हिमविद्ध' की छायावादी कविताएँ लिखकर नयी कविता को परम्परा से जोड़ने के लिए व्यग्र हैं और दूसरी ओर प्रत्येक नवोदित काव्य-प्रवृत्ति को नयी कविता में अन्तर्भुक्त कर नयी कविता को सामान्य से भी जोड़ने के लिए आकुल हैं।

सुधी आलोचक डॉ० माहेश्वर ने डॉ० गुप्त के प्रस्तुत निबंध की उपलब्धियों का बहुत ही समुचित आकलन 'प्रेम लपेटे' वचनों में किया है। (द्रष्टव्य, 'युयुत्सा', जुलाई '६८)। उसका एक अंश यहाँ उद्धृत किया जा रहा है: "साठोत्तरी काव्य-प्रवृत्तियों अर्थात् 'समकालीन कविता-संबंधी विचारधारा का परिदृश्यात्मक अवलोकन' करने वाले नयी कविता के ठेकेदार आलोचक जगदीश गुप्त ने 'नयी कविता : किसिम-किसिम की कविता' में जिस आलोचना-कौशल का प्रदर्शन किया है, वह समकालीन काव्यान्दोलनों की समीक्षा कम, भँड़ैती ही अधिक मालूम होती है।......समकालीन काव्यान्दोलनों...का कोई गहरा विश्लेषण न प्रस्तुत करके गुप्तजी ने केवल लफ्फाजी का आश्रय लेकर जो मसखरापन प्रदर्शित किया है, वह समकालीन कविता के आक्रोश और नयी कविता-विरोध के विश्लेषणात्मक अध्ययन में बाधक ही सिद्ध हो सकता है।"

डॉ० गुप्त ने विशेषण-वक्रता की ओट में अपने को 'भक्ति-काव्य का शोधक और रीति-काव्य का बोधक' घोषित किया है। डॉ० माहेश्वर के उपयुक्त कथन के आधार पर मूल लेखक की शैली में क्यों न उनको 'नयी कविता का अवरोधक' भी कह दिया जाए? क्योंकि अब तो यही एक अच्छा तुक बैठता है।

समकालीन काव्य-प्रवृत्तियों से नयी कविता को जोड़ने के उपक्रम में डॉ० गुप्त ने प्रस्तुत निबन्ध में यह भी बताया है कि नयी कविता कहने से किन अर्थों का बोध होता है। उनमें से एक अर्थ इस प्रकार है:

"वह कविता, जिसमें पूर्ववर्ती स्थिति के निषेध के साथ अभिव्यंजना की अपरिचित प्रणालियाँ, कथन की विचित्र एवं अप्रचलित भंगिमाएँ और अद्यतन प्रभावों को ग्रहण करने तथा नये-नये नामों से अपने को व्यक्त करने की प्रवृत्ति हो।" (पृ० २८२)

नयी कविता का 'साधारणीकरण' करने के लिए अतिशय व्यग्र लेखक ने यहाँ जो शब्द-जाल फैलाया है, उसके विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। पर एक बात हम अवश्य कहना चाहेंगे कि किसी भी भाषा की किसी भी काव्यधारा में 'नये-नये नामों से अपने को व्यक्त करने की प्रवृत्ति' नहीं रही है; इस विलक्षण प्रवृत्ति का श्रेय डॉ० गुप्त ने सिर्फ़ नयी कविता को ही प्रदान किया है। काश, नाम को महत्त्वहीन मानने वाले शेक्सपीयर आज जीवित होते!

आचार्य गुप्त ने इन निबंधों में जिस शैली का प्रयोग किया है, उसके कुछ रमणीय उदाहरण द्रष्टव्य हैं:

(१) उगती हुई हर अरुणाभ किरन को मरोड़ते हुए जो सूरज को (पान की तरह) मुँह में दबा रखने के लिए कटिबद्ध हो रहे हैं, उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि अब यह सूरज प्रभात का नहीं रहा, इसके ललाट से मध्याह्न का तेज फूटने लगा है और अब इसको छूने-मिटाने का साहस 'संकट-मोचन' पवन-पुत्र ही नहीं बनायेगा, वह वर्षों तक गुफावास करने के लिए झुलसे पंखों वाला क्षुधाजीर्ण संकटग्रस्त सम्पाती भी बनाकर छोड़ सकता है। (पृ० ८२-८३)

(२) 'नूतन कविता' में फिर किसी ने कटौती नहीं की, पर वह अपने आप 'न कविता' सिद्ध हो गयी और सारा सनातन सूर्योदयी आन्दोलन अस्त-व्यस्त हो गया तथा उसका घोषणा-पत्र 'घोषित राम' की तरह उत्खनन की वस्तु बन गया। (पृ० २२३)

(३) 'क ख ग' के जुलाई १९६५ के अंक में अकेले 'मुन्शीजी' शहीद होकर रह गये। इक्का-दुक्का पत्रिकाओं और गोष्ठियों में 'ताज़ी' या 'ताज़ा' विशेषण की गूँज-भर सुनाई दी अन्यथा, बिना किसी शोर-गुल के, 'ताज़ी कविता' के ताजिये अपने-आप दफ़न हो गये। (पृ० २४७)

रोचक यह है कि लेखक ने अपने निबंध 'नयी कविता : नया संतुलन' में आचार्य पद्मसिंह शर्मा को छायावाद के विरोधी के रूप में स्मरण किया है और इतिहास का उदाहरण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देते हुए यह सिद्ध करना चाहा है कि जैसे शर्माजी के विरोध के बावजूद छायावाद आगे विकसित हुआ, उसी तरह समकालीन समीक्षकों के विरोध के बावजूद नई कविता विकसित हो रही है। पर यह इतिहास का व्यंग्य ही है कि उसी आचार्य पद्मसिंह शर्मा शैली का अनुकरण कर आचार्य जगदीश गुप्त ने भी नयी कविता के परवर्ती आन्दोलनों का व्यंग्य-विद्रूप-शैली में जिक्र किया है। नयी के नाम पर एक ही साँस में नयी कविता का समर्थन और परवर्ती आन्दोलनों का विरोध डॉ० गुप्त के विराट् व्यक्तित्व में ही समा सकता है।

हिन्दुस्तान की कहानी : शवयात्रा

विष्णुचन्द्र शर्मा

'टोपी शुक्ला' **कार्टून की भाषा** में लिखा हुआ एक साम्प्रदायिक तनाव का खाका है। कई घुमाव और मोड़ के बावजूद इसका कथानक एक शवयात्रा में परिणत हो जाता है, जिसमें शवयात्रा का आँखोंदेखा नैरेटर (वाचक) खुद एक मुसलमान लेखक है। लेखक की हैसियत से खुद को नैरेटर (वाचक) के दर्जे पर बैठाने की वजह, शायद यह हो सकती है कि लेखक एक नागरिक की आँखों से उन चेहरों को बहुत करीब से जानता रहा है—और अब स्वाधीनता के बाद वह नागरिक की आँखों से उन चेहरों-मोहरों से तंग आ चुका है। उसे शायद स्वाधीनता के बाद के हिन्दू और मुसलमान चेहरों में एक-सी दहशत, एक-सा खोखलापन, एक-सी मायूसी और एक-सी दकियानूसी हरकतें छेड़ती, छकझोरती और एक हद तक तोड़ती रही हैं। वह नागरिक के दायरे से बाहर आकर, एक नैरेटर (वाचक) की आँखों से, देश के ज्यादातर चेहरों में रेंगती घिनौनी कोशिश की 'शल्य क्रिया' करने में जुट जाता है। और यहीं यह उपन्यास कार्टून की भाषा में, बोलता है, जाने-माने चेहरों को बकोटकर, जानी-मानी सच्चाई के भीतर का गुद्दा निकाल देता है, और भारत के भविष्य की चिन्ता में 'मद्दू के बच्चों, गड्डू और बबलू' से अपनी समझ, प्रयत्न और उलझनें कहने लगता है। और महसूस करता है कि एक हिन्दुस्तान १९४७ के समय मरा था, और एक हिन्दुस्तान, भारत-पाक युद्ध के दरम्यान जीतकर हारा था, और अब एक हिन्दुस्तान है, जिसकी शवयात्रा का वह महज़ एक नैरेटर (कथक या वाचक) है और जिसके दर्शक महज़ अभी तक नाबालिग हैं। सडीबू, मुन्नी और सुर्रो, अनिला, मद्दू के बच्चे, गड्डू और बबलू सभी अपने 'हिन्दुस्तान' के अभी पूरे या अधूरे नागरिक भी नहीं, महज शवयात्रा के दर्शक हैं, डरे हुए, हारे हुए, भौंचक-से।

'टोपी शुक्ला' इन्हीं डरे हुए, हारे हुए और भौंचक-से खड़े हुए लोगों के पास रखा हुआ एक कार्टून—एलबम है—सकीना, इफ़्फ़न और टोपी की समस्याओं को समझने और सुलझाने का प्रयत्न। सकीना हँसती है क्योंकि 'अधूरापन और तनहाई शायद इस युग की तकदीर हैं।' इफ़्फ़न महसूस करता है कि नफ़रत, शक और डर काफ़ी नहीं है। और टोपी 'रात के सन्नाटे में उल्लुओं की तरह' बोलता है। और अन्त तक तीनों जन अपने हिन्दुस्तान की तरह कबूल करते हैं—"हमसे तो कुछ न हो सका। हम तो हार गये शायद।"

हिन्दुस्तान की यह कहानी—या शवयात्रा—हिन्दू और मुसलमानों को अभी तक जुदा रखने की घिनौनी कोशिश के बावजूद चल रही है। हिन्दू अपनी 'संसकीरत', अपने खान-पान और अपनी परम्परा की लाश ढो रहा है और मुसलमान अपनी जहालत की लाज ढक रहे हैं। दोनों अपने-अपने संस्कारों में, अलग बने रहने की कोशिश कर रहे हैं, और 'टोपी के सामने कोई और रास्ता नहीं' रह जाता है। वह किसी-न-किसी अवसर पर 'दोनों' के बीच की दूरी को पाटने का मौका तलाश करता है। हारकर अपने लेखक के हाथों नैरेटर (कथक) यह फलसफा कबूल कर लेता है कि 'आत्महत्या सभ्यता की हार है।' और आखिरी वक्त में टोपी के एक हिन्दुस्तान ने 'आत्महत्या कर ली।'—पर 'शवयात्रा' चलती रही।

टोपी मर जाता है और लेखक 'टोपी शुक्ला' की शवयात्रा के नैरेटर (वाचक) के नाते आँखोंदेखी कहानी कहने लगता है। इसके पहले 'आधा-गाँव' उपन्यास में लेखक आधे-अधूरे संस्कारों के तनाव या समय की अधूरी पहचान को आशा से रच रहा था। अब समय वही है, कहानी का हीरो भी वही है—केवल नैरेटर, लेखक और नागरिक की

टोपी शुक्ला, लेखक राही मासूम रज़ा, प्रकाशक राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-६, मूल्य ५.००, पृष्ठ १७३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूरी बढ़ गयी है। अब लेखक और नागरिक की खीझ का, संदेशवाहक नैरेटर बन गया है।—

'भूमिका' में दो बातें एक साथ, खास उद्देश्य से लेखक ने लिखी हैं—

एक : "टोपी कोई देवता या पैग़म्बर नहीं था। किन्तु उसने 'कम्प्रोमाइज़' नहीं किया। और इसीलिए उसने आत्म-हत्या कर ली। परन्तु 'आधा-गाँव' की तरह यह किसी एक आदमी या कई आदमियों की कहानी नहीं है। यह कहानी भी समय की है।...**समय के सिवा कोई इस लायक़ नहीं होता कि उसे किसी कहानी का हीरो बनाया जाए।**"

दो : " 'आधा गाँव' में बेशुमार गालियाँ थीं। मौलाना 'टोपी शुक्ला' में एक गाली भी नहीं है।—परन्तु शायद यह पूरा उपन्यास एक गन्दी गाली है। और मैं गाली डंके की चोट बक रहा हूँ। **यह उपन्यास अश्लील है—जीवन की तरह।**"

सच पूछिए तो आज की 'हर कहानी और हर जीवनी शुरू' यहीं से होती है। "टोपी बेनाम पैदा हुआ था। पैदा होते ही टोपी ने अपनी छोटी-छोटी आँखों से दुनिया को देखा। उसे जो चीज दिखाई दी वह बड़ी भयानक थी। वह डरकर रोने लगा और उस **अंधकार को ढूंढने लगा जिसमें वह अब तक कुलबुलाया** करता था।" यह भयानक चीज़, मुक्तिबोध को 'अँधेरे में' दीखी थी और यहाँ नैरेटर (कथक) ने 'जीवन की तरह' महसूस की है। 'टोपी एक ही है।' जैसे समय एक ही होता है। केवल 'अँधेरे में ढूंढने की कुल-बुलाहट, समय में सबकी आँखों में अलग-अलग रूपों में पैदा होती है। 'सफेद हो तो आदमी कांग्रेसी दिखाई देता है, लाल हो तो प्रजा सोशलिस्ट और केसरी हो तो जनसंघी।'

सच पूछिए तो यह समय की अश्लील कहानी—एक राजनीतिक पहचान की कहानी है। टोपी, देश की राजनीतिक निराशा या असफलता के लड़ाई-दंगों से 'चीर-चीर' हो जाता है। और यह पहचान बनाये रखता है कि उसने अँधेरे में जो महसूस किया है—वह समय की अधूरी सच्चाई है—समय का एक अवसरवादी हिन्दू-मुस्लिम, भयानक दर्द है—जिसे वह और केवल उसकी जगह से खड़े हुए लोग ही महसूस कर रहे हैं—। गरज की, समय की और टोपी की निगाहों में सब बराबर है। 'जीवनी केवल टोपी की नहीं है। यह कहानी इस देश, बल्कि इस संसार की कहानी का एक स्लाइस है।

शवयात्रा या जीवनी या हिन्दुस्तान में, एक 'मुस्लिम लीग, कांग्रेस और जनसंघ से' बड़ा सम्बन्ध भी था, जिसे टोपी के घर वालों की तरह ज्यादातर राजनीतिक अपने अवसरवादी चश्मे की वजह से देखकर भी नहीं देख या समझ सके। और वह **बड़ा सम्बन्ध** इस अलगाव के बावजूद, टोपी और इफ़्फ़न में, टोपी और सकीना के सीने में सुलगता रहा। यह 'बड़ा सम्बन्ध' ही समय का बड़ा भयानक दर्द था—जिसे दादी और टोपी या दोनों तबके के आदमी बड़ी सिद्दत से महसूस करते रहे। 'दोनों अलग-अलग अधूरे थे। दोनों ने एक-दूसरे का अकेलापन मिटा दिया था। एक बहत्तर बरस की थी और दूसरा आठ साल का।'

"तोरी दादी की जगह हमरी दादी मर गई होती न ठीक भया होता।" टोपी ने इफ़्फ़न को पुरसा दिया।

इफ़्फ़न ने कोई जवाब नहीं दिया। उसे इस बात का जवाब आता ही नहीं था। दोनों दोस्त चुपचाप रोने लगे।"

यह कहानी, कहीं वहीं जाकर समाप्त हो जाती है जहाँ देश के पास इस डर, दहशत और नफ़रत की दुनिया का कोई जवाब नहीं है। राजनीति में इस डर का जवाब नफ़रत था, दंगे, खून-खराबी, आगज़नी। और हिन्दू अवसरवाद के हाथ में युवक जनसंघी हो जाता है और मुसलमान मौलवी के हाथ में युवक 'इसलामी छाप'। और आखिर तक 'हिन्दुस्तानी नेशनलिज़्म की धारा की राह में रुकावट' बनी रहती है।

और इफ़्फ़न सोचता रह जाता है कि 'इन लड़कों को यह कैसे बतलाया जाए कि इतिहास अलग-अलग बरसों या क्षणों का नाम नहीं है बल्कि इतिहास नाम है **समय की आत्मकथा** का।'

वह सोचता है—'पता नहीं **हिन्दुस्तानी हिस्ट्री** कब लिखी जायेगी।'

समय का नैरेटर (कथक) सोचता है—'क्या यह शब्द यूँही पीछा करता रहेगा? टोपी, तुम हिन्दू क्यों हो—या फिर मैं मुसलमान क्यों हूँ? क्यों? यह भी कितना अजीब शब्द है। मनुष्य को जवाब देने पर मजबूर कर देता है। परन्तु अगर किसी के पास जवाब ही न हो तो? तो वह क्या करे आखिर?"

जवाब न मिलने के बावजूद 'नफ़रत की दीवार पर चढ़कर पुरानी दोस्ती झाँकना शुरू' करती है और पाती है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि दोनों एक-दूसरे के बिना अधूरे और उदास हो गये हैं। इरफ़ान का इस्तीफा अलीगढ़ मुस्लिम युनिवर्सिटी से मान लिया गया। 'उसका इस्तीफा नहीं माना तो टोपी ने।' वह कहता है—"जिस देश की यूनिवर्सिटियों में यह सोचा जा रहा हो कि ग़ालिब सुन्नी थे या शीआ और रसखान हिन्दू थे या मुसलमान, उस देश में पढ़ाने का काम नहीं करूँगा।"

'पाकिस्तान एक बेनाम डर का नाम है।' और नैरेटर (कथक) इस 'बेनाम' डर की पहचान करने के लिए 'समय की आत्मकथा' या टोपी की कहानी सुना रहा है। इस 'समय की आत्मकथा' में लेखक ने डाक्यूमेंट्री न्यूज़ रील की टैकनीक से कथा को कई टुकड़ों में जोड़कर तैयार किया है। वह कथानक में 'जोड़' जानकर कायम रखना चाहता है, ताकि यह बात आसानी से पाठक के दिल में उतर जाए और वह इस कहानी के अन्तरालों में, एक-एक क्षण रुककर सोच सके। सोचने और देखने की यह टैकनीक, महज़ रोचकता बनाये रखने के लिए नहीं चुनी गई है, बल्कि अपनी और समय की 'यातना' को महसूस करने के लिए इस्तेमाल की गई है। फक्कड़ साधु अपनी ही देह पर कोड़े बरसाकर यातना का अनुभव ही नहीं करते हैं, देखने वालों की आँखों में यातना का असर भी उतार देते हैं। यह एक स्तर पर 'आत्म-हनन का तमाशा' भी है, और दूसरे स्तर पर यह उन यौन कुंठाओं, असफल शिक्षा-व्यवस्था गन्दी अफ़वाहों, दमघोटू गुण्डागर्दी और न खत्म होने वाले दो सम्प्रदायों के तनाव की शल्य-क्रिया है। मैं मानता हूँ—राही मासूम रज़ा ने अपनी 'न्यूज़ डाक्यूमेंट्री' में मानव-सम्बन्धों की कुछ मानवी मर्म की गम्भीर तस्वीरें उभारी हैं। और 'शवयात्रा' के अपने देश को वहाँ लाकर खड़ा कर दिया है, जहाँ से पीछे लौटना असम्भव है।...

देह की ढाल : 'रेडीमेड' माल

विष्णुचन्द्र शर्मा

जाँ-पाल-सार्त्र ने अपने नाटक In Camera में तीन चरित्रों को एक गुप्त कक्ष में, अपने-अपने भीतर की आहत मनः-स्थितियों की खोज के लिए, एक-दूसरे के आमने-सामने बैठा दिया है। आहत मनःस्थितियों के तीनों ही चरित्र बुरी तरह महसूस करते हैं कि उनके भीतर का नरक किसी दूसरे में है। नरक यातना के तीनों 'डाँडी यात्री' अपनी-अपनी उत्तेजनाओं में मायावी रहते हैं। और यह अजनबीपन की नरक यात्रा, तीनों को भरे-पूरे जीवन से हटाकर अपनी-अपनी आध्यात्मिक गिरावट के 'खोखले शून्य' में भटका देती है। यह खोखला शून्य संशय, यातना, भय और उत्तेजनाओं की आधुनिक जगत् की पगडंडियाँ हैं। तीनों चरित्रों को दूसरों में स्थित अपने-अपने नरक का प्रतिरूप इस खोखली शून्य की यात्रा में दिखता है और अंत तक तीनों अपने ही भीतर के संशय, यातना, भय और उत्तेजनाओं से अजनबी बने रहते हैं।

यही मायावी बुद्धिजीवियों की यात्रा है। वे मानसिक यात्रा से अपने-अपने नरक से साक्षात्कार करने को एक नाटकीय प्रयास करते हैं। उत्तेजनाओं में अवसर मायावी बुद्धिजीवी औरों का जीवन जीते हैं और अपनी 'कंथा' उधेड़ते रहते हैं।

एक स्तर पर '६० के बाद की कहानी' की रचनाप्रक्रिया 'खोखले शून्य' की खोज का 'नाटक' था और काफी हद तक वह नाटक, मायावी बुद्धिवाद का भी नाटक कहा जा सकता है। यह अपने-अपने नरक के मायावी बुद्धिजीवियों की **अंधी पहचान का नाटक**—हिंदी की '६० के बाद की कहानी' आंदोलन की 'शुरुआत' का नाटक भी कहा जा सकता है।

इस नाटक के तीन अंक हैं—(१) नई कहानी की, नई शुरुआत से, 'नई' कहानी की सांघातिक मौत, (२) सांघातिक मौत के भय का सवाक-चिंतन : नई कहानी की शव-परीक्षा के बाद संबंधों के परिवर्तन का सवाल ! और (३) मौत, सवाक-चिंतन के बीच से 'आत्मीयों को शत्रु में बदलने का सचेत तरीका !

'६० के बाद की हिंदी कहानी' की शुरुआत के पहले से कथा-आंदोलन में ही दो 'खतरे' भी उभर आये थे। एक **खतरे** की नींव में 'अश्क' की मध्यमवर्ग की कुण्ठित प्रवृत्ति थी जो आतमीयों को शत्रु में बदलने का सचेत कथा-प्रयोग कही जा सकती है। 'पलंग' से 'अजगर' (विकल्प) तक की यह कथा-यात्रा निजी बदले की भावना की लसदार खीझ की प्रक्रिया है और उसमें घिनौने कथा-प्रयोग का खतरा है। इसी

१. रिश्ता और अन्य कहानियाँ—गिरिराज किशोर, प्रकाशक, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ संख्या, १६२, मूल्य ४·५०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खतरे का एक दूसरा प्रतिरूप मध्यवृत्त की आत्महीनता की प्रवृत्ति है। यह अपने-अपने 'बचाव' का तरीका है। इस खतरे को एक पंगु और ठण्डी-कथा के दायरे में 'अटका हुआ प्रयास' भी कहा जा सकता है। राजेन्द्र यादव के संग्रह **'अपने पार'** में एक ऐसा ही निजी हिदायतों और रुकावटों का ठण्डा कथा-प्रयोग है।

'६० के बाद की कहानी'—आंदोलन ने बड़ी खूबी से इन खतरों को लाँघने या पछाड़ने का प्रयास किया था।

'फेंस के इधर-उधर' के लेखक ज्ञानरंजन ने एक खोखले शून्य या मायावी वातावरण की रचना की थी। यह नया वातावरण पुराने सम्बन्धों से छुटकारा पानेवाले या नये संबंधों में बेहद उत्तेजित रहने वाले युवक की आध्यात्मिक गिरावट का 'खोखला शून्य' था। ज्ञानरंजन ने अपनी कहानियों में अजनबीपन के संस्कारों के युवक की यातना, तनाव, कुण्ठा, विवशता और खीझ को रेखांकित किया। अपनी कहानियों की नयी नाट्य-स्थितियों में ज्ञानरंजन ने एक नये संबंध के तनाव को जन्म दिया।

यह बता देना आवश्यक है कि यह 'संबंधों के तनाव' का नाटक, एक बारीक सूत की बुनाई का, 'मौन तनाव का नाटक' है, जिसमें कुछ भी परिवर्तित नहीं होता है, केवल 'खोखले शून्य' की यातना को महसूस करने की हद तक बर्दाश्त किया जाता है। ज्ञानरंजन के (या उसकी 'काट' की 'रेडीमेड' कहानियों में भी) सभी चरित्र अपने-अपने नरक की यात्रा की तैयारी करते हैं। और खोखले शून्य में अपने 'निजी' अनुभव के 'संबंधों का तनाव' बनाये रखते हैं या उत्तेजनाओं के दौरे को कायम रखते हैं। कहानी की संरचना में, इस सिलसिले को कायम रखने की हरचंद कोशिश की जाती है। दूधनाथसिंह की 'रीछ' कहानी उसी 'यात्रा' के सिलसिले की एक फैंटेसी है। 'रीछ' की प्रतीक-रचना के पीछे एक-एक चरित्र अपनी-अपनी असफल या नपुंसक उत्तेजना को 'छिपाकर मौजूद' रहते हैं।

यह 'छिपाकर मौजूद' रहने का नाटक—सार्त्र के० नाटक का 'रेडीमेड' परिणाम है, जिसमें एक बारीक 'साफ-सुथरे कोण' को बनाने का काम 'ऊब' की मनःस्थिति को सौंपा गया है। साठोत्तर कहानी में ऊब 'साफ सुथरे कोण' का संचालन-सूत्र है—और वह "औरत के पैर से बढ़नी शुरू होती है और मर्द के दिमाग तक पहुँचती है।"

यही ऊब, काशीनाथ सिंह की कहानियों का जायका बदलती है। रवीन्द्र कालिया की 'नौ साल छोटी पत्नी' की कहानियों में ताजगी लाती है और नये संबंधों के सम्भावित प्रश्नों पर एक खुशहाल 'हेला हवाली' का माहौल रचती है। विजय मोहन सिंह की कहानियों में, यही ऊब नई संवेदना के उदासीन बौद्धिक प्रेतों की जबान बन जाती है। महेन्द्र भल्ला और श्रीकान्त वर्मा, ऊब के एक ही स्तर पर रहते हैं, और अपने-अपने निजी अनुभव के मौनाचार को दुहकर, ऊबते हैं, और एक ही स्थिति में ऊभ-चूभ करते हुए, अपने-अपने नरक या 'आत्मप्रेम' की व्याख्या करते हैं।

साठोत्तरी हिंदी कहानी में 'ऊब' का यह अन्वेषण दिलचस्प और सपाट है। एक ही स्तर पर किसी भी कहानी में यह दुहरा रूप मिल जाता है। कहीं शिल्प में दिलचस्प प्रवाह है और कहीं पिटी-पिटाई सपाट संवेदना—'औरत के पैर से बढ़नी शुरू होती है और मर्द के दिमाग तक पहुँचती है।'

हिंदी की साठोत्तर कहानी का एक पर्याय आत्मप्रेम है, और दूसरा आत्मभर्त्सना!

'आत्मप्रेम' लेखक की आंतरिक यात्रा से शुरू होकर आंतरिक खोखले शून्य की महत भूलभुलैया में राह भूल जाता है। आत्म-भर्त्सना, बाहरी जगत् के संबंधों से शुरू होती है और सतही नोक-झोंक में उलझ जाती है। दोनों कथा-यात्री आत्म-यात्राओं के एक बिंदु पर मिलते हैं—वह बिंदु 'आत्म-निचोड़' का होता है जहाँ वे एक साथ अपनी पहचान और दूसरों के नरक की तलाश करते हैं। 'आत्म-निचोड़' की उपलब्धि के बाद औरत के पैर से कहानी शुरू होती है और अपने-अपने नरक के दिमाग तक कहानी को पहुँचा देते हैं।

आत्म-प्रेम आत्म-भर्त्सना और ऊब पर खड़ा हिंदी के '६० के बाद की कहानी' का आंदोलन अब एक संचालन-सूत्र का अन्वेषण कर चुका है। वह मूल संचालन-सूत्र, गिरिराज किशोर की 'रिश्ता और अन्य कहानियाँ' संग्रह का भी आधार है। वह सूत्र है—'रेप का मजा लेंगे और निचोड़ पेश करेंगे।'

अपने-अपने नरक की यातना में 'छिपाकर मौजूद रहने' का सार्त्र का सूत्र नाटक में उसकी समझ को, 'बंद दिमाग की तिजोरी' से बाहर लाने की एक साधना है! लेकिन हिंदी की '६० के बाद की कहानी' की समझ का नाटक, तिजोरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में दिमाग को बंद रखने का एक पुरज़ोर कार्य है। दिमाग तिजोरी में बंद रहता है, और तनाव भरे नाटक के चरित्र, 'छोटे घर' से बाहर आते हैं, और फिर खुद में उलझकर घर के छोटे दायरे में, मानसिक 'रेप' करते हैं और अपनी आध्यात्मिक गिरावट का निचोड़ पेश कर देते हैं। इस तरह नाटक 'खाली-शून्य' से चलकर 'खाली-शून्य' में 'जीते-जागते आदमी' को छोड़ आता है।

कहानी की 'संरचना' में 'चुपचाप' कुछ घट जाता है। और लेखक अपने भीतर के नरक को, 'दूसरों में चलता या रेंगता हुआ' महसूस करता है। और देखते-देखते दिमागहीन, प्रेतात्मक खोज की यह यात्रा—अचानक 'इन्टेलेकच्युअल डिसकशन' का विषय बन जाती है।

'नई कहानी' की 'नई शुरुआत', 'उसके सांघातिक परिणाम', 'आदमी के भय का सवाक् चिंतन', 'आंतरिक आघात या विकास यात्रा की शव-परीक्षाओं के बाद 'महाशून्य' में एक 'शव' रह जाता है—और तीन अंकों के हिंदी कथा-आंदोलन की यात्रा समाप्त हो जाती है। योरप में महायुद्ध के बाद संकट तथा वैज्ञानिक और तकनीकी विकास की खुली होड़ शुरू होती है। रंगभेद का युद्ध फैलता है। नये गृहयुद्ध में, नये 'यातना शिविर' बनते हैं। और आदमी अपनी मानसिक विकास की यात्रा में हताश हो जाता है। विश्व-सभ्यता का यह संकट—हिंदी कहानी में 'बावन के तीन डग' की यात्रा रह जाती है। और 'पुराण-गाथा' में वापस लौट आने वाली अज्ञेय-जैनेन्द्र-यशपाल की पीढ़ी के समानान्तर एक तीसरी पीढ़ी जन्म लेते ही 'मायालोक' की 'यौन गाथा' लिखने लगती है। जोरदार बौद्धिक आजमाइश में लगी एक बीच की मोहन राकेश-यादव-कमलेश्वर की पीढ़ी 'पुराण-गाथा' से 'मांस के दरिया' में हेल कर 'यौन गाथा' में मर-खप जाती है। और तीन डगों या अंकों का यह नाटक—यह हर बार यही स्वीकार करता है कि 'नये जीवन की शुरुआत' हो गई है। फिर से चौथी पीढ़ी '६० के बाद की पीढ़ी'—'जीवन की शुरुआत में' अपने 'संवाद' और मायावी बुद्धि-वाद कोपसार रही है।

गिरिराज किशोर की दस कहानियाँ, इसी संदर्भ में नये रिश्ते के तनाव की कहानियाँ हैं। वे पिछली तीन पीढ़ियों की कहानियों से अधिक अपनी आन्तरिक बुनावट में बहुरंगी कहानियाँ हैं। इन कहानियों का बौद्धिक पाट, हिंदी 'मायालोक' का बौद्धिक पाट है। और हिंदी यात्रा के विकास में, यह पाट चौड़ा भी है। कहानी में बौद्धिक पाट की बारीकी—नोकदार व्यंग्य या कुटावों में—उभरती है। लेकिन गिरिराज किशोर की कहानियाँ भी तनाव या उत्तेजनाओं की 'बाहरी' यात्राओं से शुरू होती हैं। दरअसल उसके नैतिक सवाल 'औरत की देह की गठन' और उसके उपयोग के नैतिक बोध के सवाल हैं। गिरिराज का नैतिक बोध—ज्ञानरंजन की कहानियों की तरह संबंधों के टूटने का आघात नहीं देते हैं। बुनियादी तौर पर गिरिराज किशोर 'राजनीति के सेक्स' के समानांतर 'देह की बेपर्दगी' को खास अहमियत नहीं देते हैं। इसके बावजूद उनकी कहानियों में 'घुटने और टाँग के बीच एक **साफ-सुथरे कोण**' की बेपर्दगी बनी रहती है।

दो कहानी 'समीकरण' और 'क्लर्क' के अलगाव के बावजूद यह साफ-सुथरा कोण ही गिरिराज की कहानी का मूल कोण है। 'समीकरण' कहानी की 'बीवी साहिबा' का हिपोक्रेट व्यक्तित्व कहीं अपनी सभ्यता के चौड़े पाट में पूरे देश को लपेटे लेता है। इस कहानी का सामाजिक व्यंग्य काफी ठण्डा है और शिल्प के गठन में भी बुनियादी 'ठण्डा-पन' है।

हिंदी का नया पाठक जितेन्द्र, अमरकांत, राजकमल चौधरी, ज्ञानरंजन, विजय मोहन सिंह, विजय चौहान, दूधनाथसिंह और रवीन्द्र कालिया की कहानियों को पढ़ते समय एक 'ठण्डेपन' और ऊब की मनःस्थिति से गुज़रता है, और यह महसूस करता है कि 'ऊब और ठण्डापन' ज़िंदगी का हिस्सा है और ज़िंदगी, 'जीते-जागते आदमी' के अपने-अपने नरक में होती है। गिरिराज किशोर की कहानियाँ, पाठक के इस अनुभव में, इतना और जोड़ देती हैं कि 'ऊब मज़ेदार भी होती है क्योंकि वह ठण्ड में देह की गरमाई बनाये रखती है।'

गिरिराज किशोर अपनी आंतरिक या बाहरी यात्रा के अन्वेषण में निर्भय नहीं हैं और न ही उनकी कहानियाँ निर्ममता के साथ ज़िंदगी की चीड़-फाड़ करती हैं। काफी संजीदगी के साथ गिरिराज किशोर कहानी को उठाते हैं। पाठक महसूस करता है कि 'वास्तविकता और गहराई' को बहुत देर तक इन चरित्रों ने बर्दाश्त किया है। और लोगों का हिस्सा लोगों के हाथों में सौंपने की लेखक में बेताबी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'शीर्षकहीन' कहानी के क्लर्क को पत्नी और उसके पिता के संस्कारों से तिलमिलाहट होती है। और तिलमिलाहट या रोववाद के भीतर से एक हिस्सा और खुलता है जिसमें 'संयुक्त पत्नी वाले दर्शन' का रेशा-रेशा उलझा हुआ है। और 'औरत की देह से शुरू होकर कहानी आदमी के दिमाग तक पहुँच जाती है।' मित्र-पत्नी से काफी प्यार हासिल करने का यह 'दर्शन' कहानी के परिदृश्य-बोध में रँगता है। और इस प्रक्रिया में पाठक को चरित्र की तरह 'गर्वमिश्रित सन्तोष मिलता' है। दिमाग को तिजोरी में बन्द करने के बावजूद कहानियाँ यह घोषित करती हैं कि 'दिमाग खराब करने में सफल' हुई हैं। जैसे बच्चे अक्सर कच्छा खराब करने के बाद चीखते हैं—गिरिराज किशोर की कहानियाँ—अपने-अपने नैतिक बोध के अन्तर के बावजूद—'राजनीति के सेक्स' के सवाल पर अपने चरित्रों को लिथड़ती या मैला करती हैं। एक फजीहत भरी क्लर्क या पिछड़े तबके की ज़िन्दगी पर—रंग-बिरंगी पत्तियों की तरह 'एक और ज़िन्दगी' चिपकाकर लेखक प्रगतिवाद के शस्त्रागार का एक 'शस्त्र' चमका देता है और काफी 'कान्फ़ीडेन्स' के साथ अपनी 'साइकोलॉजी' का असर डालता है।

'रेप' कहानी में 'राजनीति का सेक्स' थोड़ा बदलता है और वह 'बुद्धिजीवी की आवाज़' बन जाता है। कहानी के चरित्र 'रेप' का मज़ा लेते हैं—और दिमाग पर चढ़ी हुई कहानी मानसिक मैथुन में ढल जाती है। विजय चौहान की कहानी 'माँ' में जो संबंधों के प्रश्न अचानक 'सीधे, निश्चित और प्रगाढ़ सम्बन्ध' को 'डरावनी बात' में बदल देते हैं—'हत्या' कहानी में वही सवाल, गिरिराज किशोर के उतावलेपन में महज़ एक शैतानी-भरा खेल रह जाता है। इस शैतानी-भरे खेल में अकारण 'हत्या' कहानी के सम्बन्धों के परिवर्तन की प्रक्रिया—शरीर के दबाव की तरह 'घट-बढ़कर' एक पेंडुलम की तरह जगह-जगह अटक जाती है। यही अटकी हुई 'प्रश्नात्मक दृष्टि' गिरिराज किशोर की कहानियों का 'साफ-सुथरा कोण' है। 'रिश्ता' कहानी के अन्दर 'झाँकने' पर निरी शरीर की 'थरथराहट' नज़र आती है। एक के नंगेपन और दूसरे के नंगेपन के बीच की 'भिन्नता' ही कहानी का 'निचोड़' है।

अक्सर लेखक या चौथी पीढ़ी के आम लेखक 'घुटन के सच्चे प्रवक्ता कहलाने' के जोश में—कहानी में 'फ्री शो' दिखाते हैं। 'फ्री शो' दिखाने के साथ ही—'फ्री-स्टाइल' से 'नायक' कहानी चलती है। 'दरअसल औरतों के प्रति आदमी का दृष्टिकोण ही उसके और दृष्टिकोण को बनाता है।' और जब लेखक का दृष्टिकोण ही औरत को 'चापाकल' और 'पुरुष' को 'नायक' मानने का हो तो उससे आगे बहस पाई ही नहीं जा सकती है। 'रिश्ता', 'नायक', 'बी० आई० पी०', 'हत्या', 'शीर्षकहीन', 'रेप' और 'गाउन' कहानियाँ अपनी 'समझ' में मध्ययुग की कहानियाँ हैं और अपने मायालोक के सन्दर्भ में आधुनिक फैशन की झलकियाँ देती हैं।

'६० के बाद की कहानी' जहाँ अपने सम्बन्धों के परिवर्तन की प्रक्रिया में लिखी गई—वहाँ गिरिराज किशोर की कहानियाँ मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित विश्लेषण के 'खूँझे' पेश करती हैं। साठोत्तर कहानी आंदोलन के बाद 'रिश्ता और अन्य कहानियाँ' संग्रह के आने से हिंदी-जगत् में थोड़ी-सी उत्तेजना के अलावा और कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। साठोत्तर आंदोलन से जुड़ी रहने पर कहानी की बुनावट में जो सलवटें नज़र आती हैं वे विचारों या संवेदना के स्तर की सलवटें हैं।

कथा फैला देने की वजह से काफी बातें खटकती रहती हैं। 'गाउन' कहानी में वही फैली-पसरी सलवटें—भारतीय और जर्मन महिला—सुनीताजी और कार्ली की—'फ्री स्टाइल' की देशी-विदेशी नोंक-झोंक में बदल जाती है—और अद्भुत सामर्थ्य के बावजूद—कार्ली नामर्जाद नंगी—फ्री शो में सारा मज़ा ठण्डा पड़ जाता है। लेखक के बौद्धिक परिवेश का भारतीय और विदेशी संस्कारों का यही प्रतिवाद है।

'क्लर्क' कहानी में—साहब, चपरासी, क्लर्क के 'तिकोने दाँवपेंच में' वास्तविक ज़मीन उभरती भी है—एक अधिकार के बिंदु पर—और मि० सिंह दफ्तर के आघात में महसूस करते हैं कि 'शायद वे नंगे थे।' यह नंगे हो जाने का अहसास—'गाउन' की सुनीताजी को कार्ली से टकराता है और 'क्लर्क' का संस्कार अपने अधिकार के झपट लिए जाने से आहत होता है। इसी एक बिंदु पर 'समीकरण' कहानी की 'बीवी साहिबा' और उनके 'तालुकात' का किस्सा आता है जहाँ लेखक की मूल सूक्ष्मता 'गड्डमड्ड' हो जाती है—और एक माध्यम से लेखक एक 'भारतीयता' के 'संदर्भ' की हिपोक्रेसी को 'चीरफाड़' कर एकाएक किस्से-दर-किस्से की पर्त को खोलने का मज़ा लेता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'लोग तो अफवाहजीवी होते हैं।' और अफवाहजीवी लोग जब 'राजनीति के सेक्स' की सूक्ष्मता से हटकर 'क्लर्क', 'समीकरण' जैसी कहानियाँ लिखने लगते हैं—तो एकाएक ख़याल आता है कि आदमी और औरत के हिस्से में लेखक ने नाहक वक्त ज़ाया किया है।

मुल्क़ की सब-कुछ पेचीदगियों को 'निचोड़' कर रख देने में यही भ्रम बना रहता है कि गिरावट का निचोड़ रह जाता है और ज़िन्दगी जीते-जागते आदमी की न होकर—'लेखक की एक विशेष सैद्धान्तिक दृष्टि का पोषण-भर करती है।'

सिद्धान्तों की बुलन्द आवाज़ में कभी-कभी कहानी में छोटी-छोटी बातों के टुकड़े रह जाते हैं जिन्हें लेखक 'निजी अनुभव' के काँटे से फँसाता है। कहीं-कहीं ख़यालों को पुख्ता करने के लिए बड़ी घटना घट जाती है, कभी 'करामाती' परिदृश्य उभर आता है और कभी गप्प या चुटकी बजाकर खासी ज़िन्दगी में दिलचस्पी महसूस की जाती है। यह केवल चरित्रों की रचना-प्रक्रिया का गणित नहीं है बल्कि गिरिराज किशोर जैसे कहानीकारों का यही भूगोल है।

वे ज्यामितीय रेखाओं के टूटने या स्थिति बदल जाने के बाद भी मन से भावुक हैं। उनकी कहानियों में 'टूटेपन का भाव' है, टूटे सम्बन्धों का आघात नहीं है। ऊब का स्वाद है, लेकिन '६० के बाद के जीते-जागते आदमी की ऊब की विवशता नहीं है। अज्ञेय की अतीतजीवी चुनचुनाहट है, लेकिन पुराणग्रन्थ से चलकर देहगाथा की विकास-यात्रा नहीं है। सम्बन्धों की दरार में भाभी, माँ आती हैं—लेकिन पत्नी का 'दर्शन' सब पर हावी हो जाता है।

इसी संदर्भ में रामकुमार की 'समुद्र' की कहानी की याद आती है—जो अपनी गम्भीरता में पूरे मानवीय सम्बन्ध के खोखले रिश्ते को झकझोर देती है—पर झकझोरे जाने की भावुकता या उतावलेपन से उसके चरित्र काफी दूर हैं। जब कि गिरिराज किशोर के चरित्र ही शादी के बाद और शादी के पूर्व की उत्तेजनाओं में अपनी और पराई पत्नियों से जुड़े हैं —और 'फ्री शो' तक पति के संदर्भ में शर्त बदते रहते हैं।

ये कहानियाँ साफ-सुथरी हैं। भाषा, शिक्षा, प्रयोग, शब्द के ऊबड़-खाबड़पन से बचने का लेखक में एक संगठित और इमारती अंदाज़ भी है। भाषा बुद्धिजीवी तौर पर कहानीकार की है जो किस्से को रोचक बनाती है। कहानी की उत्तेजनाएँ मानवीय एसोसियेशन को चमकाने का काम बड़ी खूबी से करती हैं। इसीलिए कहानी में 'एकाएक' सब होता है। 'एकाएक' कहीं लेखक का प्रिय शब्द भी है जिससे उसे सकून-सा मिलता है।—इसी सकून में कभी-कभी ऐसे वाक्य भी आ टपकते हैं—'कभी-कभी के चेहरे जिस्म को गायब कर देते हैं।'

'अर्थहीनता' के संदर्भ का अस्तित्ववादी दर्शन का मुहावरा भी कहानी में नग की तरह जड़ा हुआ है। लेखक पर एक खालीपन ऊपर से लटक गया है और कहानी के प्रवाह में इन मुहावरों की वजह से बातें अधिक जमती भी हैं।

आधुनिकता—शायद लेखक के निजी कोश में—'रुचि-सम्पन्नता का प्रमाण-पत्र' है। वह बहुत-कुछ जानकारी में पढ़ी हुई रचनाओं से अपना मतलब पूरा कर लेता है और अपने अस्तित्व की मौलिकता को 'छिपाकर मौजूद' रखने में भी एहतियात बरतता है।

कई अर्थों में वह 'करामाती' कथाकार है। एक तरह की व्यापारिक कहानियों की 'सिसिआहट' का वह बड़ी खूबी से अपनी कहानियों में इशारा करता है, क्योंकि 'वह अपनी परछाईं को बड़ी और लम्बी रखना चाहता है।' यह बड़ी और लम्बी परछाईं अवसरवादी समझ की भी परछाईं है—जो मध्यवृत के बुद्धिजीवी से ज़रा सटकर घटती और बढ़ती रहती है।

चौथी पीढ़ी के 'सच्चे प्रश्नों और सन्दर्भों' की नोकदार दृष्टि की खोज में निकली गिरिराज किशोर की कहानियाँ, नैतिक बोध की 'कसावट में ढीलापन' लाकर अवसर निशाने से चूक जाती हैं। राजनीति की पहचान के बावजूद ये कहानियाँ—अराजनीति के शून्य में अटक जाती हैं। हिपोक्रेसी या अधिकार की टक्कर के बावजूद ये कहानियाँ 'अधिकार के लिए' बेचैनी पैदा नहीं करतीं। खास स्तर या दृष्टिकोण के दबाव में ये कहानियाँ 'देह की ढाल' बनाती हैं और बाहरी गिरावट की 'रेडीमेड' भावनाओं की गर्मी महसूस कराती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समय कम, बेचैनी ज्यादा, या एक छोटे 'रचना संसार' का अंत

विष्णुचन्द्र शर्मा

१९५८ की 'कहानी' पत्रिका में डॉ० नामवरसिंह ने 'नयी कहानी : सफलता और सार्थकता' का सवाल उठाया था। १९६९ में 'नौ साल छोटी पत्नी' संग्रह की कहानियाँ पढ़ते समय वह सवाल खुद में 'पर्याप्त कौतुकपूर्ण' लग रहा है। कालिया की कहानियाँ पढ़ने में एक 'हल्की-सी खुशी' महसूस होती है। यह 'रहस्य खुलने की एक हल्की-सी खुशी' कुछ देर तक पाठक को 'अनिश्चय की स्थिति में' खिन्न या भौंचक-सा खड़ा रखती है।

यह 'रहस्य खुलने की हल्की-सी खुशी' की कला, निर्मल वर्मा की कहानियों से रवीन्द्र कालिया को 'उत्तराधिकार में प्राप्त' हुई है। 'खंड़गत अन्तर्विरोध की पकड़' कालिया की कहानियों की 'सफलता और सार्थकता' का जादू है। इस जादू में, 'व्यंग्य के लहज़े' में, 'चौंकाने के लिए छोटी-छोटी बातें ही रह जाती हैं।' बल्कि 'खंडगत अन्तर्विरोध की पकड़' में ही, कालिया की कहानियाँ 'छोटी-सी बात को लेकर परेशान' कर देती हैं।

डॉ० नामवरसिंह ने नयी कहानी की सार्थकता के सवाल पर इसी बात को स्पष्ट करते हुए लिखा था—"कहानी जीवन के टुकड़े में निहित 'अन्तर्विरोध', 'द्वन्द्व', 'संक्रांति' अथवा 'क्राइसिस' को पकड़ने की कोशिश करती है और ठीक ढंग से पकड़ में आ जाने पर यह खंडगत अन्तर्विरोध भी **वृहद् अन्तर्विरोध के किसी-न-किसी पहलू का आभास दे** जाता है। यह खंडगत अन्तर्विरोधों की पकड़ श्रेष्ठ कहानियों के कथानक में **कहीं नाटकीय मोड़** पैदा करती है तो कहीं **वस्तुस्थिति के साथ संघर्ष** करते दिखलाती है। और कभी **स्वयं उस चरित्र के भीतर संकल्प-विकल्प की दुविधा बरसाती** है या फिर उसके **चिंतन और कार्य के बीच विडम्बना (आयरनी)** को चित्रित करती है। यह एक विरोधाभास है कि कहानी जैसा एकान्वित शिल्प अन्तर्विरोधों पर निहित होता है।"

नौ साल छोटी पत्नी : लेखक रवीन्द्र कालिया, प्रकाशक अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद-२। मूल्य छः रुपये।

रवीन्द्र कालिया की ज्यादातर कहानियाँ 'व्यंग्यात्मक लहज़े' में लिखी या कही जाती हैं। उनकी कहानी के 'कथानक में' नाटकीय मोड़ ('बड़े शहर का आदमी' तथा 'पचास सौ पचपन' कहानियों में) भी है, वस्तुस्थिति के साथ संघर्ष करते चरित्र भी ('दफ़्तर' और 'इतवार नहीं' कहानियों में) दिखते हैं, स्वयं चरित्र के भीतर संकल्प-विकल्प की दुविधा भी ('डरी हुई औरत' में और 'पत्नी' कहानियों में) है, और चरित्रों के चिन्तन और कार्य के बीच विडम्बना को भी ('काला रजिस्टर' तथा 'क ख ग' कहानियों में) चित्रित किया गया है, लेकिन कालिया की कहानियाँ न श्रेष्ठ कहानियाँ हैं और न ही उनके खंडगत अन्तर्विरोध, वृहद् अन्तर्विरोध के किसी-न किसी पहलू का आभास देते हैं।

कालिया 'नयी कहानी' के नहीं '६० के बाद की कहानियाँ' के लेखक हैं। वे 'अपनी अनुभूति ही' लिखते हैं, और अज्ञेय की तरह ज़ोर देकर अपनी संवेदना के धरातल पर स्वीकार करते हैं कि 'मेरा आग्रह रहा है कि लेखक अपनी अनुभूति लिखे।' और अपनी अनुभूति के अन्वेषण में, वे अपने 'आभ्यन्तर मोड़' (इनवर्ड टर्निंग) से होकर बाहर की ओर आते हैं। निजी अनुभूति की खोज में कालिया 'संबंधों की कहानियाँ', 'डरी हुई औरत', 'पत्नी', 'मैं', 'नौ साल छोटी पत्नी', 'सिर्फ़ एक दिन', 'कोज़ी कार्नर', 'सत्ताइस साल की उम्र तक' तथा 'त्रास' लिखते हैं और वृहद् अन्तर्विरोध के 'आधुनिक जीवन की कहानियाँ' 'पचास सौ पचपन', 'दफ़्तर', 'क ख ग', 'इतवार नहीं', 'सड़क पर अँधेरा था', 'काला रजिस्टर' और 'बड़े शहर का आदमी' लिखते हैं। यही वृहद् और लघु अन्तर्विरोधों का 'छोटा', 'बड़ा' संस्करण है। और '६० के बाद की कहानी' के 'परिवर्तन की प्रक्रिया' है।

दोहरे तनाव की संवेदनात्मक प्रतिक्रिया में कालिया निजी अनुभव में, तीव्रता उत्पन्न कर, एक खास किस्म का पेच डालते हैं और विजयमोहन के लहज़े में दुहराते हैं कि 'हमारे तमाम सम्बन्ध अचानक संदिग्ध और 'सवाल' बन गये हैं!' यह संदिग्ध और 'सवाल' बने हुए सम्बन्ध—बाहरी जगत् की 'मानसिक गुत्थियाँ' और वृहद् अन्तर्विरोध या 'क्राइसिस' ही है। लेकिन यह क्राइसिस सामाजिक चेतना की पहचान में भिन्न रूप से खोजी जाती है और निजी अनुभूति की खोज में भिन्न रूप से प्राप्त की जाती है। रवीन्द्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कालिया निजी अनुभूति की खोज के धरातल पर सामाजिक चेतना की पहचान करते हैं। और 'सवाल' बन गए तमाम सम्बन्धों पर या तो कालिया स्पष्टीकरण पेश करते हैं या उनकी कहानी निजी अनुभव को बहलाए रखने के साधन ढूंढ़ने में लग जाती है। यह साधन ढूंढ़ने और सफाई देने की प्रक्रिया संवेदना में परिवर्तन का गहरा प्रभाव नहीं छोड़ पाती है।

शिकायती, स्पष्टीकरण और सफाई देनेवाले रवीन्द्र कालिया के ज्यादातर चरित्र, 'आहत चरित्र हैं। ये चरित्र संवेदना में परिवर्तन के स्तर पर कहीं किसी भी व्यवस्था को सीधा झटका नहीं देते हैं। वे अपने परिवेश का एक माया-लोक निर्मित कर लेते हैं और उन चीज़ों से, जो अचानक हो जाती हैं, ये आहत चरित्र अक्सर घबराते रहते हैं।

'चीज़ें जब इन चरित्रों की बर्दाश्त के बाहर हो जाती हैं,' तब वे या तो 'प्रामाणिक झूठ' गढ़ने लगते हैं, या स्पष्टीकरण देकर ('मैं', 'नौ साल छोटी पत्नी', 'डरी हुई औरत' में) अपने-अपने 'रोमांटिक लहज़े' को तर्कसंगत बनाने का विकल्प खोजने लगते हैं।

यह संकल्प-विकल्प की दुविधा और चिन्तन कार्य के बीच अटके हुए कालिया के चरित्र, अपने परिवेश या माया-लोक में चलने-फिरने के बावजूद 'निष्क्रिय' रह जाते हैं। वे कहीं संवेदना में परिवर्तन का आभास नहीं देते हैं।

इस दार्शनिकता के निष्क्रिय चरित्रों के मायालोक की निर्मल वर्मा ने शुरुआत की थी और कालिया ने उसे अपने ही कठघरे में सफाई देने को बाध्य कर दिया है।

'काला रजिस्टर' का शिल्प-कौशल और 'क ख ग' कहानी की 'शिल्प-चालाकी' कालिया की इन दो कहानियों को सपाट होने से बचा लेती है। इन दो कहानियों में लेखक जानकर, गढ़ी हुई शिल्पीय कला का सहारा लेकर पाठक के 'दिमाग को एक हल्का-सा झटका देता' है। ये कहानियाँ पढ़ते समय अनायास यह महसूस होता रहता है कि लेखक के दिमाग़ में या उसके निजी अनुभव के एक कोने में—एक 'हल्का-सा बोझ पड़ा हुआ था' और वह दिमाग पर पड़े हल्के-से बोझ से निजात पाना चाहता है।

यह कथाशैली की 'चातुरी' या 'जादू' कहीं कालिया के निजी संस्कारों के संघर्ष का भी सवाल है। कालिया, पूंजी-वादी व्यवस्था ('दफ्तर', 'क ख ग') या पूंजीपति-कुनबे की व्यवस्था ('काला रजिस्टर') के खिलाफ सीधा झटका देनेवाले लेखक नहीं हैं। वे महज़ हल्का-सा दबाव महसूस करने वाले लेखक हैं। अपने-अपने दायरे की उत्तेजनाओं से विनष्ट रवीन्द्र कालिया के चरित्र, बॉस या 'कैबिन' का स्पष्टीकरण देते हैं, अपनी सफाई चाहते हैं, और 'शरारत' के तौर पर 'शिकायत करने की शिकायत' के बोझ को कबूल कर लेते हैं।

दरअसल कालिया की कहानियाँ, सामाजिक चेतना के धरातल पर, चरित्रों के प्रेम-प्रसंग, उनके नर्वस हो जाने के सवाल और दिमागी तौर पर उनके रोगी हो जाने के ख़तरों का स्पष्टीकरण पेश करती हैं।

निजी अनुभव में, कालिया की कहानियों के चरित्रों का एक दायरा (या उसका रचना-संसार) विवाह के पूर्व की कुण्ठा का होता है और दूसरे दायरे में पहुँचकर उसके चरित्र प्रेम का **सही अर्थ** शादी के बाद की घुटन में ही जानते हैं। निजी अनुभव के कुण्ठा और घुटन के दायरों में कालिया के चरित्रों को प्राप्त होती है, यौन सम्बन्धों की बेहोशी, बदहवासी और पति-पत्नी या युवक-युवती दोनों की लापरवाहियों का नतीजा! यह 'यौवन गंध' का सिलसिला ज़िन्दगी को एक बिन्दु पर पहुँचा देता है। यहाँ से पुराने ज़माने के दायरे बदलकर नये ज़माने का रचना-संसार बन जाता है और पुराना मनोरंजन, परिवर्तित होकर नये मनो-विलास के साधनों की तलाश में लग जाता है।

'सत्ताईस साल की उमर तक' कहानी का नायक यही सफाई देता है कि 'बरसों से यह बड़े-बड़े शहरों में अकेला रह रहा है और इसने **अपने को बहलाये रखने के साधन** ढूंढ लिये हैं।'

'सिर्फ एक दिन' कहानी का युवक महसूस करता है कि 'अखबार में यदि **विचारोत्तेजक सामग्री** का **अभाव** हो, तो मुझे नींद-सी आने लगती है और यदि सामग्री **अधिक** हो, तो नींद की गोलियाँ खाकर सो जाता हूँ।'

'साधन ढूंढकर' या 'सोकर' रवीन्द्र कालिया का युवक अपनी नसों के दबाव से छुटकारा पाना चाहता है। इस युवक की निजी ज़िन्दगी का बहुत संक्षिप्त परिच्छेद होता है—अतीत की कुण्ठा की रहस्यमयी आशंका और वर्तमान ज़िन्दगी की बेकारी, घुटन, 'बोरडम' और आत्महत्या की असफलता। संक्षिप्त अपने परिच्छेद पर सोचते हुए वह आहत होता है, निष्क्रिय रहता है और 'पैरोडी करने में उसे आनन्द' आता है।

कभी-कभी कालिया की पूरी कहानी 'डरी हुई औरत' और 'पत्नी' एक पैरोडी बन जाती है—हताशा और घुटन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की त्रासदीय पैरोडी !

मामूली-मामूली बातों पर निहायत सादगी से कहानियाँ लिखना कालिया की खूबी है। निहायत सादगी से कही हुई कहानियों में आहिस्ता-आहिस्ता कुछ घट जाता है (जैसे 'अकहानी') या आँख-मिचौनी में कुछ होता रहता है (जैसे ('व···बेशर्म') या कुछ आशंका दबी रह जाती है (जैसे 'बड़े शहर का आदमी') या पत्नी, माँ और पिता के सम्बन्धों में अपनी-अपनी विवशताओं के उघड़ जाने के खतरा बना रहता है (जैसे 'मैं', 'त्रास', 'सिर्फ एक दिन')।

ऐसी कहानियाँ उत्तेजना में लिखी नहीं जाती हैं, बल्कि आहिस्ता-आहिस्ता बातें करती हैं। और खामखाह ही पाठक इन कहानियों को पढ़कर 'बतियाने के मूड में आ जाता है।'

कालिया की कहानियों के ज्यादातर चरित्र 'छोटे परिवार' के हैं। ये चरित्र अपनी-अपनी आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जिन्दगी से तंग आये, निम्न-मध्यवर्ग के आदमी हैं, जिनके पास 'समय कम या बेचैनी ज्यादा' है। ये चरित्र बम्बई या दिल्ली जैसे महानगरों के हैं जो 'कम समय' में बहुत-कुछ देख या महसूस कर लेते हैं। एक हद तक ये युवक चरित्र कुण्ठित और घुटन-भरी स्वाधीनता के बाद की पीढ़ी के प्रतीक हैं। दरअसल ये प्रतीक चरित्र देश के उस बिन्दु तक पहुँच चुके हैं जहाँ से संस्कृति के घटियापन की शुरुआत होती है। प्रेम और आत्मीय संबंधों (घर, दफ्तर और अस्पताल के परिवेश में) के स्तर पर ये चरित्र 'कमीनगी की हद तक' व्यावसायिक समझौतों में जीते हैं और एक दायरे से दूसरे दायरे में, या एक नतीजे से दूसरे नतीजे तक पहुँचने के लिए बेचैन रहते हैं। बीच की विभाजक रेखा पर—मनोरंजन से मनोविलास तक के अन्तराल में रवीन्द्र कालिया की कहानियाँ—एक झूठ का हिसाब दे दिया करती हैं।

यह 'झूठ का हिसाब' भारतीय युवक के साहस या बुज़दिली, या पत्नी, बॉस, पिता से समझौता करने और उनके प्रति निरपेक्ष रहने की यात्रा नहीं है। यह झूठ का सिलसिला, किसी बड़ी जिन्दगी से युवक या नई पीढ़ी को जोड़ता नहीं है, बल्कि विशाल भारतीय दायरे से हटकर ये कहानियाँ अपनी-अपनी 'द्वीप-भावना' का निर्माण करती हैं।

यह 'द्वीप-भावना' या 'प्रामाणिक झूठ' का सिलसिला कालिया की कहानी-कला का भी सिलसिला है। यह 'भाषा की सौंदर्यात्मक विशेषता' को जारी रखने का भी सिलसिला है जिसमें 'सही अर्थ' की तरह 'सही भाषा' की खोज की चेष्टा भी शामिल है। इस नवलेखन की 'भावना' ने, पूरे हिन्दुस्तान से अलग-थलग, एक छोटे या लघु हिन्दुस्तान के 'मूल्यों की चेतना', 'यथार्थ का नया स्तर' और 'नया सौंदर्यबोध' खोज लिया था। पूरे हिन्दुस्तान पर अपने 'लघु हिन्दुस्तान' को लादकर, हिन्दी साहित्य में एक 'बौद्धिकीकरण' का सिलसिला शुरू हुआ था। 'आत्मनेपद' में ही वात्स्यायन ने लिखा है कि 'हमारा सम्पूर्ण कलाकृतित्व यथार्थ के इस बौद्धिकीकरण से आक्रान्त है। यथार्थ को यथार्थवत् ग्रहण कर सकने की हमारी क्षमता को वह कुण्ठित कर रहा है।" 'नौ साल छोटी पत्नी' की कहानियों की संरचना और बुनावट में इसी 'कुण्ठित क्षमता' का जादू है। इस 'जादूगरी' में 'कला की सफाई' और 'हाथ की सफाई' आमने-सामने रहती है। रवीन्द्र की कहानियों के सिलसिलाविहीन सिलसिले में जादूगरी का कोई अपूर्ण परिच्छेद बराबर सामने बैठा रहता है। 'नई कहानी' में जो लघु अन्तर्विरोध के ऊपर 'वृहद् अन्तर्विरोध' को थोपने का, आंचलिक या कस्बे की कहानी आदि का कलावाद था, वही कुछ घट-बढ़कर '६० के बाद की कहानी' में 'अपने में' और 'अपने पार' का सिलसिला बन गया है। कालिया 'अपने में' कुण्ठित और आहत हैं और 'अपने पार' अपूर्ण और कातर !

'अकेलेपन' का यह 'कलावाद' मूल में दूसरे महायुद्ध के बाद का संकट कहा जाता है। सेमुअल बेकेट के नाटकों (एण्ड गेम, वेटिंग फॉर गोडो) या ब्रेख्त आर्थर मिलर और आएनेस्को के नाटकों तथा 'एबसर्ड' नाटकों की परम्परा में और सार्त्र तथा कामू के उपन्यासों और 'मिथ ऑफ़ सिसिफस' में एलबर्ट कामू की 'एब्सर्डिटी एण्ड सोसाइड' की चिन्तनधारा से छनकर 'अर्थहीन घबराहट' का चक्र हिन्दी कहानी में आया है। और कालिया के चरित्रों की तरह 'भावुक होने के बजाय दार्शनिक' होता जा रहा है।

यह भावुक होने के बजाय दार्शनिक होते जाने का सिलसिला कविता में बिम्बवाद और प्रतीकवाद से होता हुआ 'अकविता' में 'योनिवाद' तक पहुंच चुका है। कहानी में यह 'संबंधों' के पेच में उलझ गया है। और उस उलझन की यह दलील है कि 'कम समय की वजह से जीवन का यौन-सुख या आनन्द, सिमटकर 'संभोग सुख' में बदल गया है। और श्रीकान्त वर्मा, महेन्द्र भल्ला की कहानियों के युवक-युवती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी बदलाव की स्थिति में एक 'फड़फड़ाहट' महसूस करते हुए अपने प्रेम में हताश रहते हैं। कालिया की 'पचास सौ पचपन' कहानी का 'फ्रीलांसर' इसी मजबूरी में प्रेम करता और "मुर्गे की तरह ही, बहुत जल्दी फड़फड़ाकर वह सफाई से अलग हो गया तो प्रेमिका उसकी ओर हताश होकर ऐसे स्कूटर वाले की तरह देखने लगी, जिसकी सवारी को मीटर पढ़ना आता हो।" कालिया अपनी कहानियों के प्रेम-प्रसंग में 'मीटर' के जानकार लेखक 'अश्क' ('पलंग', 'चट्टान') और मोहन राकेश ('आलपिन', 'मिस पाल') से 'सफाई से अलग हो गये' हैं। यह सफाई से अलग होना, कहीं से भी 'डिपार्चर' नहीं है। यह महज़ भावुक होने के बजाय दार्शनिक होते जाने का एक अनुक्रम है।

राजेन्द्र यादव ने दिसम्बर १९६० की 'कल्पना' के एक लेख 'शह और मात : मेरा अपना दृष्टिकोण' में लिखा था—'लेकिन जीद से लेकर सार्त्र और कामू तक की इस परम्परा ने मुझे यह ज़रूर सुझाया कि कहानी सिर्फ पात्रों के बाह्य-चित्रण और गतिविधियों का लेखा-जोखा और परिस्थितियों के संयोग पर निर्भर 'ट्रेजेडी' या 'कामेडी' ही न हो—अपने पार भी कुछ कहती हो—और वह 'पार कहना' अन्त में या बीच-बीच में संकेत रूप में ही आकर समाप्त न हो जाए बल्कि समानान्तर चलता रहे।'

अपने संग्रह 'अपने पार' में कुछ कहने के लिए राजेन्द्र यादव ने कुछ हिदायतें या 'पारपत्र' गढ़ लिए हैं जबकि कालिया 'अपने में' कुछ रुकावटें महसूस करते हैं—और अपनी सीमाओं को लाँघने के लिए अन्तर्विरोधों से गुज़रते हैं।

पाठक 'नौ साल छोटी पत्नी' की कहानियां पढ़कर यह महसूस करता है कि आकाश की तरह कालिया की कहानियों का जीवन वही है, केवल उसमें छोटे-छोटे अनुभवों से जोड़ने वाला सिलसिला या खुला संवेदनात्मक आकाश नया है। इस नये जीवन या आकाश के साये में, अकेलेपन की बोरडम की साया है और निष्क्रिय घुटन है! कालिया की मूल संवेदना का धरातल पुराना है, लेकिन नये संदर्भ से जुड़े रहने की वजह से पाठक को पुराने आकाश के नीचे बैठना बुरा नहीं लगता है।

'क ख ग', 'दफ्तर', 'इतवार नहीं', 'पत्नी' और 'काला रजिस्टर' के आहत चरित्र व्यवस्था के दबाव को बर्दाश्त करने वाले कमज़ोर या डरपोक चरित्र हैं। ये चरित्र गुमनाम रहते हैं। साधारण व्यक्तित्व के ये चरित्र, 'क ख ग' कहानी की संज्ञाओं में, एक तीखी चुभने वाली हवा की तरह जीवन में धँसते हैं और टूटकर अपने दायरे में बिखर जाने का एहसास पैदा करते हैं।

'दफ्तर' कहानी में आदमी 'डिस्टर्ब' होता है और 'चुगद की तरह' चापलूसी करता है और अधीनस्थ कर्मचारी की अपराध-भावना के दायरे में दबा रह जाता है। घर की 'पेशाब की बू' और दफ्तर में नौकरी पक्की रखने की अस्त-व्यस्तता में, वह 'अपने में' अटका रह जाता है। 'अपने में' 'अटका हुआ अभाव 'पत्नी' या 'इतवार नहीं' कहानी का 'परिचित साया' एक 'हल्का-सा बोझ' बन जाता है। और लेखक की तरह 'अपने में' टूटे हुए चरित्र यह महसूस करते हैं कि वे खुद में 'भावुक होने की बजाय दार्शनिक होते जा रहे हैं।'

'अस्तित्ववाद' के खटके हैं 'नपुंसकता', 'अर्थहीन घबराहट', 'कमज़ोरी', 'टखनों में दर्द', 'आत्महत्या का भय'। और ऐसी ही 'दार्शनिकता' कालिया अपनी कहानी पर लाद आते हैं। यह दिमाग का 'हल्का-सा बोझ', अन्त में कलावाद का लम्बा सिलसिला बन जाता है।

एक हद तक कालिया की कहानियों का 'व्यंग्य का लहज़ा' 'झूठी उम्मीद' में जीते रहने का लहज़ा है। और उसका 'व्यंग्य का लहज़ा' उसकी कहानियों में एक विचारोत्तेजक अभाव का सिलसिला बन जाता है। उनका व्यंग्य या अन्तर्विरोध एक ट्राली की तरह एक दायरे से दूसरे दायरे तक पहुँचाने का काम करते हैं और खाली ट्राली की तरह अन्तराल में भटक जाते हैं। अपनी 'हल्की-फुल्की' गम्भीरता से वे इतना ही काम लेना चाहते हैं।

एक जीवन में घुटकर दूसरा विकल्प जानने की कोशिश में ही, रवीन्द्र कालिया की कहानी पूरी हो जाती है। वह न तो अपने अन्तर्विरोधों से साक्षात्कार करने में निर्मम हो पाते हैं, और न ही अपनी 'सामाजिक समझ' को पहचानने में, वृहत्तर भारत से अपना नाता जोड़ पाते हैं।

कालिया 'छोटे-छोटे वर्तमान' के करामाती लेखक हैं। और छोटी-छोटी खुमारी में झूलना उन्हें प्रिय है।

ये छोटी-छोटी सरसराहटों का 'छोटा-सा भारत' '६० के बाद की कहानी' की 'अराजनीति की सरसराहट' थी जिसमें शरीक अधिकांश लेखकों को खुशी हो रही थी कि वे कुशलता से 'मूल्यों,' 'प्रगतिवाद', 'यथार्थ' और 'नंगी राजनीतिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सच्चाई से' सफाई से बचकर अपने छोटे 'रचना संसार' में पहुँच रहे हैं। लेकिन वास्तविकता खुफिया सिपाही की तरह, उनके अन्तर्विरोध के छोटे संसार का पीछा कर रही थी।

एक पीढ़ी-की-पीढ़ी अब देखते-देखते इसी अपूर्ण दर्शन के परिच्छेद' में लुढ़क रही है। कालिया भी उसी पीढ़ी के 'भावुक दार्शनिक' हैं और उनकी कहानी 'छोटे संसार' के अन्त की आखिरी कड़ी है।

कोरी बातों का सिलसिला

विष्णुचन्द्र शर्मा

आधुनिक युवक की कुंठाओं और अपने परिवेश से सीधे टकराने की मनःस्थितियों के बीच कहीं श्रवणकुमार की कहानियाँ अपना दायरा तलाश कर रही हैं। ये कहानियाँ न तो पूरी तरह आधुनिक हैं और न ही आधुनिक समाज के भीतर और बाहर, टकराहट पैदा करने के लिए लिखी गई हैं। श्रवणकुमार समसामयिक जीवन की किसी भी बात को लेकर कहानी लिखे जाने पर विश्वास करते हैं, और उनका विश्वास उनकी 'आंतरिक छुअन' पर आधारित है। वे यह मानते हैं कि 'कहानी तो किसी को भी लेकर लिखी जा सकती है। हाँ, कुछ छू जाना चाहिए।" यह एक पात्र की ही दलील या पहचान नहीं है, बल्कि रचनाकार की रचना-प्रक्रिया को समझने की एक अनिवार्य शर्त है।

इस शर्त के साथ उनकी कहानियाँ कुछ अंतरंग व्याख्याएँ भी चाहती हैं। श्रवणकुमार पंजाबी हैं, और १९५४ से कहानियाँ लिख रहे हैं, तथा उनका उपनाम 'दिव्य' (उनके 'विभिन्न स्तरीय जीवन जीने में') उनके आंतरिक विश्वास का अंग है। मझोला कद। पतली-दुबली काठी। और जो कुछ आँखों के सामने घटता है, उनका रचनाकार 'मूक-अवाक् उसे देखता रहता है।'

कोरी भावुकता से हटकर सोलह कहानियों के इस संग्रह में श्रवणकुमार, 'कोरी बातों' तक की यात्रा करते हैं और यह महसूस कराते रहते हैं कि उनका पंजाबीपन, उनकी खास सीमा तक की दिव्यता, और विभिन्न स्तरीय जीवन जीने का अन्दाज़, उनकी 'मूक-अवाक आँखों से बचा-छिपा' नहीं है। यह अहसास, वे अपने संस्कारों और अपने परिवेश की पहचान करते समय लिखकर जाहिर करना चाहते हैं, क्योंकि वे लिखकर उससे उऋण हो लिए होते हैं। लिखकर उऋण होने का भाव : श्रवणकुमार की रचनाओं की योजना, दिव्यता, संभावना और सपनों की कसौटी पर कसा हुआ है।

'धुआँ' कहानी में लेखक के निर्माण की काफी बाधाएँ हैं और यह आभास भी है कि मंगलवार को लिखना एक शुभ काम है।

उनका लेखन एक खासतौर की शुभकामना की शुरुआत करता है—बसों की इंतज़ार करते-करते या बसों के पीछे भागते या हाथ हैंडल-बार से छूटेगा और पहिए के नीचे दब जाऊँगा, पिच्। यह महानगर की यात्रा या जिंदगी का संकट है। यही संकट—एक कचोटते हुए आदमी का मृत्यु-भय।

परिवार, पत्नी, दफ़्तर, चपरासी और छोटे-से त्रिकोणात्मक दायरे में श्रवणकुमार की कहानियाँ इसी कचोट को छूना चाहती हैं।

उनकी कहानियाँ इसके बावजूद परिवार के विघटन की ओर आधुनिक व्यक्ति के मृत्यु-भय की कहानियाँ नहीं हैं। वह अपने सपनों को कसौटी पर कसकर एक शुभ काम करने की शुरुआत से आगे नहीं बढ़तीं। एक सनसनीखेज यात्रा, एक खाली, एकदम उदास उत्तेजना और एक प्रकार की भीरुता के वशीभूत रहना। यह स्पर्श या छुअन की पहचान का विचारमात्र ही उनकी कहानियों का अनायास मिल गया गुर है। यही तीखा एहसास कहानी के रचनाकार का दबाव, विरोध और अभाव-पूर्ति है और आदमी के नंगे होते रहने की एक सीधी बात है।

शरीर की गरमी का तीखा एहसास—"उसके उरोज, उसके भारी कोट के बावजूद भी जैसे मेरे भीतर गड़े जा रहे थे। उसके पेड़ू एवं जंघाओं का भी मुझे तीखा एहसास था। उसका संतुलन ठीक रखने के लिए मेरे हाथ उसके नितम्बों पर दबाव दे रहे थे।" (पृ० १९ 'मैं और वह') यह बस यात्रा की दुनिया कहीं लेखक की निजी कुंठाओं की दुनिया भी है।

'नंगे', 'बच्चा', 'विरोध', 'कहकहा' जैसी कुछ कहानियों के अलावा संग्रह की ज्यादातर कहानियों का शिल्प ऊबड़-

अँधेरे की आँखें—कथाकार श्रवणकुमार, प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली। मूल्य : चार रुपये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खाबड़ है जहाँ बहुत सारी बातों के किस्से बेतरतीबी से भरने की हाबड़तोड़ कोशिश है। कहानी के शिल्प के सादेपन में बातों और यादों को जोड़कर, मान-मनौवल से कह देने का अंदाज़ है। शिल्प का यह अंदाज़ अपनी दिलजोई करने का एक बहाना है। ज़्यादातर चरित्र 'स्वीकारात्मक ढंग' की बातें पुलक भरकर कहते-सुनते हैं। कहीं-कहीं पूरी कहानी 'अपनी-अपनी आपबीतियों' का किस्सा रह जाती है। और प्रतीकों, उपमानों या दृष्टांत में लेखक ने 'काम-शास्त्र की बारीकियों को मात कर दिया है।' श्रवणकुमार की कहानी, कभी-कभी 'बात जारी रखने' के सिलसिले में केवल रोचकता का दामन पकड़े रह जाती है।

एक आलोचक ने 'अँधेरे की आँखें' देते समय मुझसे कहा था—"श्रवणकुमार नये लेखक हैं और किसी कहानी-ग्रुप से जुड़े नहीं हैं।" मुझे आलोचक की उदारता पुस्तक पढ़ने के बाद 'मुँहदेखी' या वंध्या उदारता लग रही है। पहली बात यह है कि १३ अगस्त १९३१ को जन्म लेने वाला लेखक, अगस्त १९६९ में ३८ वर्ष पूरे करके 'नयों में' अपने को शुमार नहीं करना चाहेगा। श्रवणकुमार जितेन्द्र, अमरकांत, ठाकुरप्रसाद सिंह, ओमप्रकाश श्रीवास्तव तथा कमलेश्वर की पीढ़ी के लेखक हैं—हाँ, वे उस पीढ़ी के साथ चलनेवाले लेखक नहीं हैं—पीछे से जुड़े रहनेवाले लेखक हैं। दूसरी बात 'नये' कहे जाने के संदर्भ में स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि श्रवणकुमार के रोचक या कुछ एक वास्तविक दृष्टांत भी जितेन्द्र, अमरकांत और शेखर जोशी की सामान्य कहानियों के स्तर तक भी नहीं पहुँचते हैं। ज्ञानरंजन, दूधनाथ सिंह और विजयमोहन की आधुनिक भावबोध की कहानियों के समीप तो इस संग्रह को महज़ 'कोरी बातों' का एक सिलसिला ही कहा जाना चाहिए। ●

079562

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकालय
079562
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

आलोचना

पुस्तक-परिवार

के सदस्य बनिये
और अपनी पसन्द की पुस्तकें घर बैठे पढ़िये

•

हिन्दी के पाठकों के लाभ के लिए 'राजकमल प्रकाशन' त्रैमासिक 'आलोचना' से संपृक्त इस नयी योजना का शुभारम्भ कर चुका है।

पाठकों की जानकारी के लिए हम यहाँ इस योजना के उद्देश्य और सदस्य बनने के नियम आदि प्रकाशित कर रहे हैं।

उद्देश्य

१. आज तक हिन्दी-प्रकाशन-जगत् अपने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग—व्यक्तिगत खरीदार (इंडिवीजुअल कस्टमर) की ओर पूरा ध्यान नहीं दे पाया, क्योंकि विक्रेताओं का ध्यान प्रायः पुस्तकालयों, सरकारी विभागों व स्कूल-कालेजों की थोक बिक्री की ओर रहा है, जबकि अन्ततः पुस्तक का पाठक 'व्यक्ति' ही होता है। यदि पुस्तकों की सूचना सीधे पाठकों के हाथों में पहुँचे तो उन्हें अपनी रुचि की पुस्तकों को चुनने में सुविधा रहेगी। अतः 'आलोचना पुस्तक परिवार' योजना का पहला उद्देश्य होगा, पाठकों तक नये प्रकाशनों की सूचना नियमित रूप से पहुँचाना।

२. हिन्दी पुस्तकों के प्रति भारतीय जनता में जागरूकता लाना और हिन्दी-साहित्य को लोकप्रिय बनाना।

३. हिन्दी पुस्तकों के बारे में लोक-मत को जानना और लेखकों व पाठकों के बीच तादात्म्य स्थापित करना जिससे साहित्य जन-जीवन के अधिक निकट आ सके।

४. हिन्दी के साधारण पाठक को उसी मूल्य पर पुस्तकें सुलभ करना जिस पर वे पुस्तकालयों को प्राप्त होती हैं ताकि लोग अधिक-से-अधिक संख्या में निजी पुस्तकालय बनाने में रुचि ले सकें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना पुस्तक-परिवार

सदस्यता के नियम

१. 'आलोचना पुस्तक-परिवार' के सदस्य बनने पर आपको 'राजकमल प्रकाशन' के प्रकाशनों पर १५ प्रतिशत कमीशन दिया जाएगा, २० रुपये या इससे अधिक मूल्य के आर्डर पर फ्री पोस्टेज की सुविधा दी जाएगी। 'राजकमल प्रकाशन' की पुस्तकों के साथ यदि आप अन्य प्रकाशन भी मँगाना चाहेंगे तो उन पर भी साढ़े बारह प्रतिशत कमीशन की सुविधा दी जायेगी। किन्तु बाहरी प्रकाशनों का कुल मूल्य या कुल मूल्य की आधी रकम आर्डर के साथ अग्रिम भेजनी होगी।

२. सदस्यता फार्म भरकर भेजते समय मात्र ३.०० रुपये की राशि सिक्योरिटी डिपॉज़िट के रूप में भेजनी होगी जो हमारे पास स्थायी रूप में जमा रहेगी। आर्डर की पुस्तकों की वी० पी० पी० न छुड़ाने की स्थिति में यह रकम जब्त हो जायेगी। यदि कोई सदस्य अपनी सदस्यता समाप्त करके अपना सिक्योरिटी डिपॉज़िट कभी वापस मँगवाना चाहेंगे तो उन्हें यह राशि लौटा दी जायेगी। ३.०० रुपये की यह राशि पुस्तकों के पहले आर्डर की अग्रिम राशि के साथ जोड़कर भी भेजी जा सकती है।

३. आर्डर की पुस्तकें नैट मूल्य की वी० पी० पी० द्वारा अथवा पुस्तकों का मूल्य अग्रिम प्राप्त होने पर रजिस्ट्री से भेजी जाएँगी। बड़ा आर्डर होने पर पुस्तकें रेल पार्सल द्वारा भेजकर बिल्टी आदेशानुसार रजिस्ट्री या वी० पी० पी० से भेज दी जायेगी।

४. आर्डर की वी० पी० पी० छुड़ाना सदस्य का नैतिक कर्तव्य होगा।

५. 'आलोचना पुस्तक-परिवार' के सदस्यों को हिन्दी प्रकाशनों की जानकारी देने के लिए हिन्दी-प्रकाशन-जगत् का सबसे पुराना मासिक पत्र 'प्रकाशन समाचार' निःशुल्क भिजवाया जायेगा।

६. योजना का सदस्य बनकर आप जब चाहें, पुस्तकें मँगा सकेंगे। प्रति मास या नियमित रूप से पुस्तकें मँगाने का कोई बन्धन नहीं होगा। न ही किसी कालावधि में किसी खास रक़म की पुस्तकें मँगाने का प्रतिबन्ध होगा।

७. इस योजना के अन्तर्गत अश्लील या निम्न स्तर की पुस्तकों के आर्डर स्वीकार नहीं किये जायेंगे।

८. दिल्ली में रहने वाले सदस्यों को 'राजकमल प्रकाशन' में आकर स्वयं पुस्तकें खरीदने पर भी १५ प्रतिशत कमीशन की सुविधा मिलती रहेगी।

९. इस योजना के अन्तर्गत पाठ्य-पुस्तकें नहीं भेजी जाएँगी।

—यहाँ से काटिये—

सदस्यता फार्म

मैं आलोचना पुस्तक-परिवार का/की सदस्य बनना चाहता/चाहती हूँ। फार्म तथा सिक्योरिटी डिपॉज़िट रूप में ३.०० रुपये की राशि भेजी जा रही है। मैं अपने प्रथम आर्डर की अग्रिम राशि के साथ ३.०० रुपये की यह राशि भेज दूंगा/दूंगी। मेरा नाम व पता सदस्य-योजना में अंकित कर लें तथा मेरी सदस्य संख्या सूचित करें।

मैं आश्वासन देता/देती हूँ कि वी० पी० पी० से पुस्तकें मँगाने पर वी० पी० पी० निश्चित रूप से छुड़ा ली जायेगी।

दिनांक.................. हस्ताक्षर......................

पूरा पता......................

....

पोस्ट..........................

(अनावश्यक अंश को काट दें।) निकटतम रेलवे स्टेशन..............................

—यहाँ से काटिये—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

आगामी अंक में

- 'विश्वविद्यालय और साहित्य की शिक्षा' पर संवाद जिसमें सर्वश्री रामस्वरूप चतुर्वेदी, रमेश कुंतल मेघ, विश्वनाथ त्रिपाठी, परमानन्द श्रीवास्तव और देवेन्द्रनाथ शर्मा भाग ले रहे हैं।
- कविता समाज द्वारा प्रदत्त मुक्तिबोध-पुरस्कार संबंधी आयोजन की विशिष्ट सामग्री।
- नवीन प्रकाशनों की समीक्षा।
- कविताएँ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता

एक ऐतिहासिक रूपरेखा

भारत की समृद्ध एवं गौरवपूर्ण संस्कृति को प्रायः राजाओं और पैग़म्बरों की जीवनियों के अप्रामाणिक वृत्तान्तों के आधार पर चित्रित किया जाता रहा है। प्रसिद्ध लेखक डी० डी० कोसाम्बी ने **प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता** को प्रामाणिक ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर सही-सही प्रस्तुत करने का स्तुत्य कार्य किया है। पुस्तक को एक संदर्भ ग्रन्थ का रूप देने के लिए उन्होंने बड़े परिश्रम और अध्यवसाय से दुर्लभ चित्र भी जुटाये हैं। छः मान चित्र, आर्ट पेपर पर मुद्रित ९८ छायाचित्र और १ रेखाचित्र पुस्तक का महत्त्व द्विगुणित करते हैं विश्वप्रसिद्ध पुस्तक का हिन्दी में पहला अनुवाद श्री नेमिचन्द्र जैन ने किया है। रायल आठपेजी आकार में लगभग ३०० पृष्ठ।

मूल्य : २५.००

राजकमल

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६ पटना-६

श्रीमती शीला सन्धू, मैनेजिंग डायरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०, ८, फ़ैज बाज़ार, दिल्ली के लिए नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Compiled
1999-2000

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri